गौरसुन्दर अवतार

भगवान श्री चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति

श्री श्रीमद् ए॰ सी॰ भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापक : आचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति

श्री श्रीमद् ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापक : आचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति
श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य—अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज प्रभुपाद
श्रील ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के गुरुदेव एव
वर्त्तमान युग के सर्वोच्च विद्वान् तथा महाभागवत
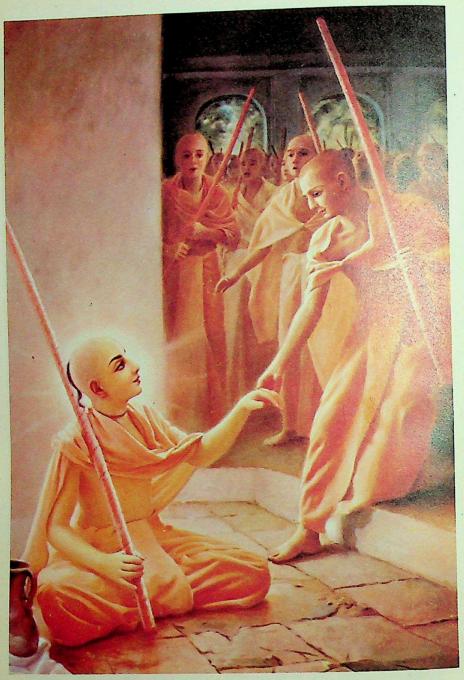
श्रीधाम मायापुर में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु प्रवचन करते, गाते, नृत्य करते तथा विविध भावों का प्रकाश करते थे। पृष्ठ ६, श्रीमहाप्रभु का संक्षिप्त जीवन-चरित्र
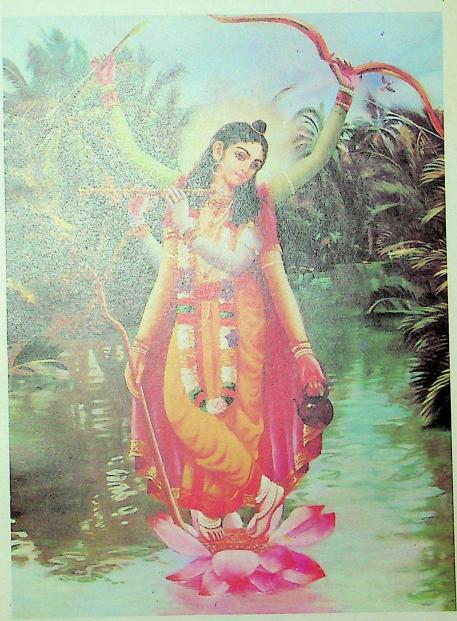
तारुण्यामृत-पारावार श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह में लावण्य की तरंगे कलोलित होती रहती हैं।
(पृष्ठ ११०, अध्याय १०)
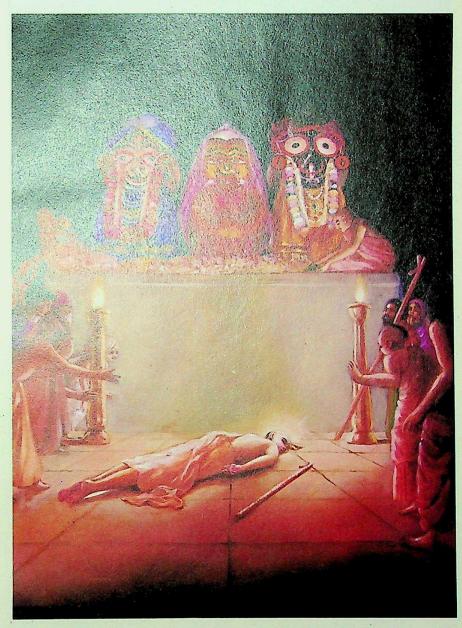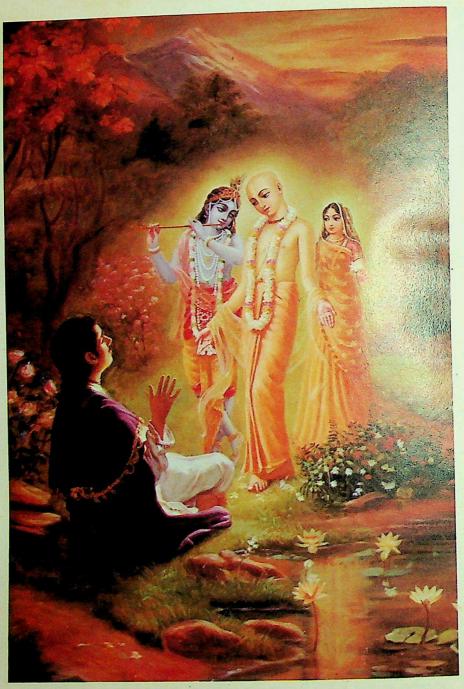
श्रीभगवान् तथा उनके भक्तों की भाव-समाधि। श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु मूर्छित हो गए। पृष्ठ ११, श्रीमहाप्रभु का संक्षिप्त जीवन-चरित्र

श्रीमहाप्रभु का हाथ पकड़ कर प्रकाशानन्द ने उनसे अपने निकट विराजने का निवेदन किया। (पृष्ठ १७९, अध्याय १८)

सार्वभौम भट्टाचार्य के दैन्य से प्रसन्न होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपना षड्भुज स्वरूप प्रकट किया। (पृष्ठ २४४, अध्याय २६).

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु मुस्कराए तथा उन्होंने रामानन्द राय को श्रीराधामाधव के सम्मिलित विग्रह के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप के दर्शन प्रदान किए। उन्होंने यह सिद्ध किया कि अप्राकृत दम्पत्ति श्रीराधामाधव ही परमाराध्य हैं। (पृष्ठ २६४, अध्याय ३२)

गौरसुन्दर अवतार

भगवान् श्रीचैतन्य का शिक्षामृत

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक-ग्रन्थ-रत्न

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १-१० (३० खण्ड)
श्रीचैतन्यचरितामृत (१७ खण्ड)
भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
श्रीश्री भक्तिरसामृतसिन्धु
श्रीउपदेशामृत
श्रीईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
कृष्णभावना : परमयोग
लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण (३ खण्ड)
पारमार्थिक प्रश्नोत्तर
वैदिक आलोक में पाश्चात्य दर्शन (२ खण्ड)
देवहूति-पुत्र भगवान् श्रीकपिलदेव का शिक्षामृत
प्रह्लाद महाराज की भागवत शिक्षा
रसराज श्रीकृष्ण
जीवन का स्रोत चेतन है
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
कृष्णभक्ति की अनुपम भेंट
गीतार गान (बंगाली)
राजविद्या
श्रीकृष्णभावनामृत की प्राप्ति
भगवद्दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूची-पत्र के लिए लिखें—

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हरे कृष्ण लैण्ड, गाँधी ग्राम रोड, जुहू, बम्बई-४०० ०४९

श्रीश्री गुरु गौराङ्गौ जयतः

गौरसुन्दर अवतार

भगवान् श्रीचैतन्य का शिक्षामृत

कलियुगपावन स्वभजन-विभजन प्रयोजनावतारि
श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः परम्परायां
दशम् विश्वव्यापी हरेकृष्ण कीर्त्तन
प्रचारक प्रवर ॐ विष्णुपाद
परमहंस परिव्राजकाचार्य
वर्य अष्टकोत्तरशत
कृष्णकृपाश्रीमूर्त्ति

श्रीश्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

अनुवाद—सम्पादक
निरंजनदास ब्रह्मचारी
बी. एस्सी. (मेटलर्जिकल) इन्जीनियरिंग (बनारस)
एम.एस्सी. (इन्जीनियरिंग) रिसर्च (यू. के.)
एम. ए.—हिन्दी (विक्रम)

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

बम्बई. लॉस एन्जिलेस. न्युयॉर्क. लन्दन. पेरिस. फ्रैंकफर्ट

हरे कृष्ण लैण्ड, गाँधी ग्राम रोड,
जुहू, बम्बई-४०० ०४९
दूरभाष : (५६६६८१/५६८५३३)

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु में रुचि रखने वाले पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ अपने निम्नलिखित भारतीय केन्द्रों से सम्पर्क तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित करता है:

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

१. हरे कृष्ण लैण्ड, जुहू, बम्बई-४०० ०४९
२. एम-११९, ग्रेटर कैलाश-१, नई दिल्ली-११० ०४८
३. श्रीकृष्ण बलराम-मन्दिर, भक्तिवेदान्त स्वामी मार्ग, रमणरेती वृन्दावन, मथुरा, (उ. प्र.)
४. हरे कृष्ण लैण्ड, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद-५०० ००१ (आ. प्र.)
५. इस्कॉन, हरे कृष्ण लैण्ड, दक्षिण मार्ग नं० ५६६, सेक्टर ३६-बी, चण्डीगढ़ (पंजाब)
६. ७, कैलाश सोसाइटी, आश्रम रोड, अहमदाबाद (गुजरात)
७. ३४/ए, ९बी क्रॉस, वेस्ट ऑफ कॉर्ड रोड़, राजाजी नगर, बैंगलोर-५६० ०१०
८. ३, एल्बर्ट रोड, कलकत्ता-७०० ०१७ (प. बंगाल)
९. श्रीमायापुर चन्द्रोदय मन्दिर, पो. श्रीमायापुर धाम, नदिया, (पं. बंगाल)

प्रथम संस्करण: ६,००० प्रतियाँ
द्वितीय संशोधित संस्करण : २०,००० प्रतियाँ, १९८२

प्रकाशक—श्रीगोपाल कृष्ण गोस्वामी, हेतु—भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, हरे कृष्ण लैण्ड, जुहू, बम्बई—४०० ०४९

मुद्रक—थामसन प्रेस (इण्डिया) लि०, फरीदाबाद

श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर
की पावन सेवा में सादर
समर्पित

जिन्होंने मेरे जन्म वर्ष सन् १८९६ ई० में पाश्चात्य जगत्
(मॅक्गिल विश्वविद्यालय, कॅनेडा) में श्रीचैतन्य
महाप्रभु की शिक्षा का सूत्रपात किया।

—ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ की परम्परा—

१. श्रीकृष्ण
२. ब्रह्मा
३. नारद
४. व्यास
५. मध्व
६. पद्मनाभ
७. नृहरि
८. माधव
९. अक्षोभय
१०. जयतीर्थ
११. ज्ञानसिन्धु
१२. दयानिधि
१३. विद्यानिधि
१४. राजेन्द्र
१५. जयधर्म
१६. पुरुषोत्तम
१७. ब्रह्मण्यतीर्थ
१८. व्यासतीर्थ
१९. लक्ष्मीपति
२०. माधवेन्द्रपुरी
२१. ईश्वरपुरी (अद्वैत, नित्यानन्द)
२२. श्रीचैतन्य महाप्रभु
२३. रूप (स्वरूप, सनातन)
२४. रघुनाथ, जीव
२५. कृष्णदास
२६. नरोत्तम
२७. विश्वनाथ चक्रवर्ती
२८. (बलदेव) जगन्नाथ
२९. भक्तिविनोद
३०. गौरकिशोर
३१. भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर
३२. ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी श्रील प्रभुपाद

लेखक-परिचय

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई० में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ते में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान्-भक्त, आचार्य एवं चौंसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्ति-सिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई०) में प्रयाग (इलाहाबाद) में विधिवत् उनके दीक्षा-प्राप्त शिष्य हो गए।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने श्रीमद्भगवदगीता पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ में बिना किसी की सहायता के एक अंग्रेजी पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की, स्वयं ही उसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टंकण (टाइपिंग) और मुद्रण सामग्री को देखा। उन्होंने एक-एक प्रति निःशुल्क बाँटकर भी उसके प्रकाशन को अस्तित्व-मान रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर वह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई; अब वह उनके शिष्यों द्वारा पश्चिमी देशों में भी चलाई जा रही है।

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता पहचान कर "गौड़ीय वैष्णव समाज" ने १९४७ ई० में उन्हें 'भक्तिवेदान्त' की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई० में चौवन वर्ष की अवस्था में श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश लिया और चार वर्ष बाद वानप्रस्थ ले लिया, जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिए अधिक समय दे सकें। श्रील प्रभुपाद ने तदनन्तर श्रीवृन्दावन धाम की यात्रा की, जहाँ वे बड़ी ही सात्त्विक परिस्थितियों में मध्यकालीन ऐतिहासिक श्रीराधा दामोदर मन्दिर में रहे। वहाँ वे अनेक वर्षों तक गम्भीर अध्ययन एवं लेखन में संलग्न रहे। १९५९ में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। श्रीराधा दामोदर मन्दिर में ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण ग्रन्थ का आरम्भ किया था। वह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक संख्या के श्रीमद्भागवत पुराण का अनेक खण्डों में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या। वहीं उन्होंने "अन्य लोकों की सुगम यात्रा" नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद १९६५ ई० में अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका गए।

अन्ततः श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एवं संक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप में साठ से अधिक ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत किए।

१९६५ ई० में जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान के द्वारा प्रथम बार न्युयॉर्क पहुँचे तो उनके पास एक पैसा भी नहीं था। इसके पश्चात् कठिनाई भरे लगभग एक वर्ष के बाद जुलाई १९६६ ई० में उन्होंने "अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ" की स्थापना की। १४ नवम्बर १९७७ ई० को, कृष्ण-बलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम में अप्रकट होने के पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग-निर्देशन के कारण इस संघ को, विश्व भर में सौ से अधिक मन्दिरों, आश्रमों, विद्यालयों, संस्थाओं और कृषि-क्षेत्रों का बृहद् संगठन बना दिया।

१९६८ ई० में श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप में, वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाड़ियों में नव वृन्दावन की स्थापना की। एक हजार एकड़ से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि-क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके शिष्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में भी ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की।

१९७२ ई० में श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टेक्सास में गुरुकुल विद्यालय की स्थापना द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल एवं श्रीवृन्दावन धाम इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी है। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्षों में पूर्ण हो जाएगी। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं, जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। बम्बई में भी श्रीराधारासबिहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा, अपनी प्रमाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण मान्य हैं और अनेक महा-विद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्य-ग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ अट्ठाईस भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ ई० में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में, विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक बन गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन, श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है, जो बंगाली महाग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत का, सत्तरह खण्डों में, अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए व्याख्यान-पर्यटन के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती थी। उनकी रचनाएँ वैदिक-दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती हैं।

विषय-सूची

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ में प्रस्तुत भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा तथा श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा में कुछ भी अन्तर नहीं है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा का आचरण दिखाया गया है। भगवद्गीता के अन्त में श्रीकृष्ण का आदेश यही है कि जीव मात्र उनके शरणागत हो जाय। श्रीकृष्ण ऐसे शरणागत के योगक्षेम को तुरन्त वहन करने की प्रतिज्ञा करते हैं। अपने अंश क्षीरोदकशायी विष्णु के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण सब ब्रह्माण्ड का पालन कर ही रहे हैं, पर यह पालन, सीधा नहीं है। शुद्ध भक्त का योगक्षेम वहन करने की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भक्तों का तो वे प्रत्यक्षरूप से स्वयं पालन करते हैं। शुद्ध भक्त उसे कहते हैं, जो सदा के लिए भगवान् के शरणागत हो जाय, उसी प्रकार जैसे बालक अपने माता-पिता के अथवा पशु स्वामी के शरणागत रहता है। शरणागति की छः अवस्थाएँ हैं: १—भक्ति के अनुकूल वस्तुओं का ग्रहण, २—भक्ति के प्रतिकूल वस्तुओं का त्याग, ३—भगवान् के संरक्षण में अचल विश्वास, ४—एकमात्र भगवत् कृपा की आश्रयता, ५—भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कोई स्वार्थ न रखना तथा ६—सदा विनम्र और दीनभाव रखना।

भगवान् इन छः निर्देशों के अनुसार प्रत्येक जीव को उनकी शरण में आने का आदेश करते हैं, पर विश्व के तथाकथित विद्वान् कहलाने वाले मूर्ख इन आदेशों को न समझकर जन साधारण से इन्हें अस्वीकार कर देने को कहते हैं। भगवद्गीता के नौवें अध्याय के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट कथन है, "मन से सर्वदा मेरा चिन्तन करो, मेरा पूजन करो और मेरे भक्त बनो। इस प्रकार पूर्ण रूप से मुझमें तन्मय होकर ही तुम मुझको प्राप्त होगे।" (गीता ९.३४) फिर भी, विद्वान् रूपधारी असुर जनता को

भगवान् श्रीकृष्ण के स्थान पर निराकार, अव्यक्त, नित्य, अजन्मा तत्त्व की ओर लगाकर पथ-भ्रष्ट करते हैं। मायावादी दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्ण को परतत्त्व का सर्वोपरि स्वरूप नहीं मानते। सूर्य के तत्त्व-ज्ञान के जिज्ञासु को सर्वप्रथम सूर्य के बाहरी प्रकाश का दर्शन करना होगा, फिर सूर्य-मण्डल का और उसके बाद कहीं सूर्य-मण्डल में प्रवेश करने पर सूर्य के अधिष्ठातृ देवता का साक्षात्कार होगा। अल्प बुद्धि के कारण मायावादी ब्रह्मज्योति को नहीं लाँघ सकते, जो केवल सूर्य-प्रकाश के समान है। उपनिषदों में प्रमाण है कि देदीप्यमान ब्रह्म-ज्योति के परे चले जाने पर ही वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार हो सकता है।

अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना की शिक्षा देते हैं। वे यह भी कहते हैं कि श्रीधाम वृन्दावन श्रीकृष्ण के समान है, क्योंकि श्रीकृष्ण के नाम, गुण, रूप, लीला, परिकर, वैशिष्ट्य आदि तथा अद्वय सत्य श्रीकृष्ण में कोई भेद नहीं है।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु कहते हैं कि व्रजगोपियों द्वारा प्रचलित उपासना संसिद्धावस्था में आराधना की सबसे उच्च पद्धति है। भगवान् श्रीकृष्ण में इन गोपियों का लौकिक-पारलौकिक—सब प्रकार के लाभों की इच्छा से शून्य विशुद्ध प्रेम था। श्रीगौरसुन्दर ने श्रीमद्भागवत को दिव्य ज्ञान की अमल कथा कहकर उसका अनुमोदन किया है। उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेमोदय ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा और सांख्य योग के आदि-वक्ता श्रीकपिलदेव की शिक्षा एक है। योग की इस प्रामाणिक पद्धति में भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य श्रीविग्रह के ध्यान का विधान है। शून्य अथवा निराकार के ध्यान का कोई प्रश्न ही नहीं बनता। भगवान् श्रीविष्णु के दिव्य शरीर का ध्यान करने के लिए आसनाभ्यास आवश्यक नहीं है। ऐसे ध्यान को पूर्ण समाधि कहते हैं। यह पूर्ण समाधि भगवद्गीता में छठे अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण-वचन द्वारा प्रमाणित है: "जो अत्यन्त श्रद्धा के साथ मुझमें अपनी अन्तरात्मा (अन्तःकरण) लगाकर अर्थात् पूर्ण समर्पण के साथ मेरी प्रेमाभक्ति (दिव्यसेवा) में संलग्न रहता है, तथा परम अन्तरंग भाव से मुझमें युक्त है, वह योगी समस्त योगियों में श्रेष्ठ है।" (गीता ६.४७)

श्रीगौरसुन्दर ने जनता को 'अचिन्त्यभेदाभेद' नामक सांख्य योग का उपदेश किया। इस दर्शन के अनुसार परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण

और उनकी सृष्टि में एक ही साथ भेद है और अभेद भी। श्रीगौरसुन्दर ने इस दर्शन की शिक्षा हरिनाम कीर्तन के साधन द्वारा दी। उन्होंने सिखाया है कि श्रीकृष्णनाम श्रीकृष्ण का शब्द-अवतार है। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण परतत्त्व हैं। अत: उनके नाम और उनके दिव्य श्रीविग्रह में कोई भेद नहीं है। कृष्णनाम कीर्त्तन से होने वाली शब्दध्वनि के द्वारा साक्षात् श्रीकृष्ण का संग प्राप्त हो जाता है। इस शब्दध्वनि का साधन करने वाला एक के आगे एक तीन अवस्थाओं में उन्नति करता है:—प्रथम, अपराध दशा में विषय-सुख की इच्छा बनी रहती है। द्वितीय दशा में सब प्राकृत विकारों से मुक्ति हो जाती है। शुद्ध सत्त्वमयी दशा में परम पुरुषार्थ कृष्णप्रेम की प्राप्ति होती है। श्रीगौरसुन्दर ने निर्देश किया है कि मानवीय संसिद्धि की यही परम अवस्था है।

योगाभ्यास मुख्य रूप से इन्द्रियों को वश में करने के लिए किया जाता है। मन सब इन्द्रियों का केन्द्रीय नियन्त्रक है; अत: सबसे पहले मन को कृष्ण भावना में संलग्न करके उसका संयम करना है। मन की स्थूल क्रियाएँ बाह्य इन्द्रियों द्वारा बोध के लिए अथवा मन के अनुसार कर्म करने के लिए अभिव्यक्त होती हैं। मन की सूक्ष्म क्रिया विचार, अनुभव और संकल्प करना है। अपनी मति के अनुरूप ही कोई जीव विकारी अथवा शुद्ध होता है। यदि मन श्रीकृष्ण के नाम, गुण, रूप, लीला, परिकर, वैशिष्ट्य आदि में एकाग्र है तो स्थूल-सूक्ष्म, सभी क्रियाएँ अनुकूल हो जाती हैं। भगवद्गीता में वर्णित चित्तशुद्धि की पद्धति यह है कि श्रीकृष्ण की दिव्य लीला की चर्चा, उनके मन्दिर का मार्जन, विभूषित श्रीविग्रह के दर्शन, कथा-श्रवण, भगवत्-प्रसाद ग्रहण, भक्त-संग, भगवान् को अर्पित पुष्प और तुलसी की सुगन्ध को सूँघने और श्रीकृष्ण के लिए कार्यरत रहने आदि साधनों से उनमें अपना चित्त एकाग्र रखना चाहिए। मन और इन्द्रियों की क्रियाओं को समाप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु मति-परिवर्तन से इन्हें शुद्ध अवश्य किया जा सकता है। इस परिवर्तन का उल्लेख भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उस बुद्धियोग के ज्ञान में है, जिससे कर्मबन्धन नष्ट हो जाता है। "हे पार्थ! इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म करने पर तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे।" (गीता २.३९) रोगादि कुछ अवस्थाओं में मनुष्य के विषयभोग को नियमित किया जाता है; किन्तु यह वास्तविक उपचार नहीं है। मन और इन्द्रियों को वश में करने की सही पद्धति को न जानने के कारण कम बुद्धिमान मनुष्य मन-इन्द्रिय को बलपूर्वक रोकने का प्रयत्न

करते हैं और फिर उनसे परास्त होकर विषयभोग की तरंगों के वशीभूत हो जाते हैं।

विषयों से इन्द्रियों को रोकने के लिए योग के विधि-विधान, आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास उनके लिए है, जो देहात्मबुद्धि में अत्यन्त डूबे हुए हैं। कृष्णभावनाभावित बुद्धिमान् मनुष्य इन्द्रियों को बलपूर्वक कर्म करने से नहीं रोकता; वह अपनी इन्द्रियों को श्रीकृष्ण-सेवा में लगाए रखता है। बालक को निष्क्रिय रखकर उसे क्रीड़ा करने से कोई नहीं रोक सकता। उत्तम कार्यों में नियुक्त करने पर ही बालक को निरर्थक क्रियाओं से रोका जा सकता है। अष्टांगयोग से इन्द्रिय-क्रियाओं का बलपूर्वक दमन करना क्षुद्र लोगों के लिए है। कृष्णभावना की उत्तम क्रियाओं में तत्पर श्रेष्ठ व्यक्ति संसार की हीन क्रियाओं से अपने-आप ही निवृत्त हो जाते हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कृष्णभावना-विज्ञान की शिक्षा दी है। यह अद्वय विज्ञान है। शुष्क मनोधर्मी करने वाले ज्ञानी विषयों की आसक्ति से अपना संयम करने का प्रयत्न तो करते हैं; पर फिर भी प्रायः देखा जाता है कि मन बड़ा हठी है, उसे वश में करना बड़ा कठिन है— वह विषयभोग के प्रति उन्हें खींच लेता है। कृष्णभावनाभावित भक्त को यह भय नहीं रहता। अतः मन-इन्द्रियों को श्रेष्ठ कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में संलग्न करना है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु इसके अभ्यास की शिक्षा देते हैं।

संन्यास-ग्रहण से पूर्व श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु विश्वम्भर नाम से प्रसिद्ध थे। 'विश्वम्भर' उसे कहते हैं जो अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिपालक और सब जीवों का अग्रणी हो। मानवता को यह विशिष्ट शिक्षा देने के लिए यही परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतरित हुए। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु जीवन के प्रधान कर्तव्य के आदर्श शिक्षक हैं। वे कृष्णप्रेम के परम उदार प्रदाता, अखिल कारुण्य एवं सौभाग्य के पूर्ण भण्डार हैं। श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, महाभारत तथा उपनिषदों से प्रमाणित है कि वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और इस कलहप्रधान कलियुग में वे ही सबके आराध्य हैं। उनके संकीर्त्तन-यज्ञ में सभी सम्मिलित हो सकते हैं। इसके लिए कोई पूर्व-योग्यता नहीं चाहिए। उनकी शिक्षा का सेवन करने मात्र से सब मनुष्य जीवन की कृतार्थता को प्राप्त हो सकते हैं। जो सौभाग्यशाली उनके श्रीविग्रह के प्रति आकृष्ट हो जाता है, उसके लिए जीवन के उद्देश्य में सफलता सुनिश्चित है। दूसरे शब्दों में, परमार्थिक जीवन के अभिलाषी

श्रीगौरसुन्दर की कृपा के बल पर सुगमतापूर्वक माया-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत साक्षात् उनका स्वरूप है।

प्राकृत देह को अपना स्वरूप समझने के कारण बद्ध-जीव नाना जड़कर्म करके इतिहास के पृष्ठों को बढ़ाता है। श्रीगौरसुन्दर का शिक्षामृत मानव समाज को ऐसी निरर्थक और नश्वर क्रियाओं से रोकने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इस उपदेश के सेवन से मानव समाज भगवत्परायण दिव्य क्रिया के परमोच्च स्तर पर आरूढ़ हो सकता है। ये चिन्मय क्रियाएँ वास्तव में प्राकृत-बन्धन से मुक्ति के बाद प्रारम्भ होती हैं। कृष्णभावना-भावित जीवन्मुक्त क्रियाएँ मानव-संसिद्धि का परम लक्ष्य हैं। प्रकृति पर अधिकार करने के प्रयास से होने वाला मिथ्या अहंकार मायिक है। श्रीगौरसुन्दर की शिक्षा से वह दिव्य आलोक मिलता है, जिससे परमार्थ में उन्नति हो सकती है।

सब कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने को बाध्य हैं। प्रकृति के नियमों को कोई नहीं रोक सकता। जब तक जीव सकाम कर्म में संलग्न है, तब तक जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न में वह अवश्य विफल होगा। मुझे दृढ़ विश्वास है कि श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा को ग्रहण करने से मानव समाज भगवदोन्मुखी जीवन का एक नूतन प्रकाश अनुभव करेगा, जिससे शुद्धात्म क्रिया का मार्ग प्रशस्त होगा।

ओम् तत्सत् — ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी

मार्च १४, १९६८
श्रीगौरसुन्दर प्राकट्य तिथि
श्रीश्री राधाकृष्णमन्दिर, न्यूयॉर्क

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु का संक्षिप्त जीवन-चरित्र

यह विवरण सर्वप्रथम ठाकुर भक्तिविनोद कृत—"श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवनी और शिक्षा" में प्रकाशित हुआ था। (२० अगस्त, १८९६)]

श्री श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु मायापुर के नदिया नगर में फाल्गुनी पूर्णिमा, १४०७ शकाब्द (१८ फरवरी, सन् १४८६ ई०) के दिन सन्ध्या-समय प्रकट हुए। उनके प्राकट्य के अवसर पर चन्द्रग्रहण था। परम्परानुसार उस समय नदिया-निवासी 'हरिबोल' के तुमुल उद्घोष के साथ भागीरथी-स्नान में संलग्न थे। उनके पिता सामान्य वैदिक ब्राह्मण जगन्नाथ मिश्र तथा माता—आदर्श गृहिणी शची देवी—दोनों मूलतः सिलहट के ब्राह्मणवंशी थे। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु अतिशय सुन्दर बालक थे, नगर की स्त्रियाँ उपहार लेकर उनके दर्शनार्थ आईं। उनके नाना, प्रसिद्ध ज्योतिषी-पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्ती ने भविष्यवाणी की कि बालक युगपुरुष होगा। इसीलिए उनका 'विश्वम्भर' नामकरण हुआ। उनके गौराङ्गवर्ण के कारण पड़ोस की स्त्रियों ने उन्हें 'गौरहरि' कहा तथा जन्मस्थान के निकट नीम-वृक्ष होने के कारण माता ने उन्हें 'निमाई' पुकारा। मनोहर बालक गौरहरि का नित्य दर्शन करके सभी हार्दिक प्रसन्न होते। बड़े होने पर वे अत्यन्त चंचल और क्रीड़ारत हो गए। पाँच वर्ष के होने पर वे पाठशाला गए और अल्पकाल में ही बंगला-शिक्षा ग्रहण की।

श्रीगौरसुन्दर के समकालीन अनेक जीवनीकारों ने विविध वृतान्तों का उल्लेख किया है, जो उनके शैशवकालीन चमत्कारों के प्रमाण हैं। कहा जाता है कि बाल्यकाल में वे जननी की गोद में भी निरन्तर रुदन करते, परन्तु पड़ोसी स्त्रियों की 'हरिबोल' ध्वनि को सुनकर शान्त हो जाते थे। इसलिए घर में निरन्तर 'हरिबोल' का कीर्तन होता रहता, जो युगपुरुष के भावी-प्रयोजन का पूर्व-परिचायक था। यह भी प्रसिद्ध है कि एक बार जब

माता ने उन्हें खाने के लिए एक मिठाई दी, तो उसके स्थान पर वे मिट्टी खानें लगे। माता द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि मिष्ठान्न मिट्टी का ही तो विकार-मात्र है, इसलिए मिष्ठान्न के समान मिट्टी भी खाई जा सकती है। माता भी पण्डित गृहिणी ठहरीं। उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया कि प्रत्येक पदार्थ का अपना विशेष उपयोग होता है। घड़े की मिट्टी का उपयोग जल-पात्र के रूप में सम्भव है, किन्तु ईंट रूपधारी मिट्टी का ऐसा उपयोग नहीं हो सकता। ऐसे ही, केवल मिष्ठान्न के रूप में मिट्टी खाने योग्य है, अन्य प्रकार से नहीं। बालक श्रीगौरसुन्दर को यह तर्क मानना पड़ा और अपनी भूल स्वीकार करते हुए उन्होंने भविष्य में फिर ऐसा न करने का वचन दिया। एक अन्य चमत्कार का भी वर्णन हुआ है। कहा जाता है कि एक बार एक तीर्थयात्री ब्राह्मण ने उनके घर आतिथ्य स्वीकार किया। वह भोजन बनाकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने बैठा। इसी बीच बालक गौरसुन्दर ने वहाँ आकर चावल को खा लिया। बालक की क्रिया से विस्मित हुए ब्राह्मण ने जगन्नाथ मिश्र के आग्रह पर फिर रसोई बनाई। किन्तु जैसे ही अन्न को श्रीकृष्णार्पण करने के लिए ध्यान लगाया कि बालक ने फिर भोग लगा दिया। ब्राह्मण से एक बार और रन्धन करने के लिए अनुनय की गई। इस समय तक सारे घर वासी निद्रामग्न हो चुके थे, ऐसे में यात्री ब्राह्मण को अपने कृष्णरूप का दर्शन कराकर बालक ने उन पर कृपा की। अपने आराध्य के प्राकट्य से ब्राह्मण भावाविष्ट हो गए। यह भी उल्लेख है कि दो चोर आभूषणों के लोभ से बालक को उनके पिता के द्वार से उठाकर ले गए और मार्ग में उन्हें मिष्ठान्न दिया। बालक श्रीगौरसुन्दर ने अपनी माया के प्रयोग से चोरों को मोहित कर दिया, वे चोर स्वयं ही उन्हें फिर उनके द्वार पर ले आए। फिर पकड़े जाने के भय से चोर बालक को वहीं छोड़कर भाग गए। एक अन्य चमत्कार बालक का हिरण्य और जगदीश से एकादशी का सारा कृष्ण-नैवेद्य मँगाना है। चार वर्ष की आयु में एक दिन वे उन भोजन बनाने के भग्न पात्रों पर जा बैठे, जिन्हें उनकी माँ भी अपवित्र समझती थीं। उन्होंने माता को समझाया कि पात्रों के सम्बन्ध में पवित्र-अपवित्र का प्रश्न नहीं उठता। इन विवरणों का सम्बन्ध उनके पाँचवे वर्ष की आयु तक है।

आठवें वर्ष में श्रीगौरांग ने मायापुर के निकट गङ्गानगर में गङ्गादास पण्डित के टोल में प्रवेश किया। केवल दो वर्ष में ही वे संस्कृत-व्याकरण एवं काव्यालंकार में विद्वान् हो गए। इसके बाद उनका अध्ययन अपने

घर पर स्वाध्याय के रूप में हुआ, जहाँ पण्डित पिता के सब महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उन्हें उपलब्ध थे। प्रतीत होता है कि प्रख्यात पण्डित रघुनाथ शिरोमणि से अध्ययन करने वाले अपने मित्रों की स्पर्धा में उन्होंने स्मृति तथा न्याय का भी स्वाध्याय किया।

इस प्रकार दस वर्ष की आयु में श्रीचैतन्य व्याकरण, काव्यालंकार, स्मृति और न्याय के प्रसिद्ध विद्वान् हो गए। इसी काल में उनके अग्रज विश्वरूप ने गृहत्याग कर संन्यासाश्रम ग्रहण किया था। नव किशोर होने पर भी श्रीचैतन्य ने माता-पिता को यह कहकर सान्त्वना दी कि वे भगवान् की प्रसन्नता के लिए उनकी सेवा करेंगे। शीघ्र ही उनके पिता का भी गोलोकवास (परलोक-गमन) हो गया। इससे उनकी जननी अत्यधिक शोक-मग्न हो गईं। श्रीमहाप्रभु ने अपने नित्य-सौम्य विग्रह से विधवा माता को सान्त्वना दी।

चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का नदिया निवासी वल्लभाचार्य की कन्या लक्ष्मीदेवी से विवाह हुआ। इस समय उनकी गणना न्याय और संस्कृत-शिक्षा के लिए विख्यात नदिया नगर के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में थी। स्मार्त पण्डित ही नहीं, सारे नैयायिक भी उनसे साहित्यिक-वार्ता में विवाद करने का साहस नहीं करते थे। गृहस्थ होने के कारण पद्मा-तट से वे धनोपार्जन के लिए पूर्व बंगाल गए। वहाँ अपनी विद्वत्ता के प्रदर्शन से विपुल-धन प्राप्त किया। इसी काल में समय-समय पर वे वैष्णव-धर्म का भी उपदेश करने लगे। श्रीतपन मिश्र को वैष्णव-सिद्धान्तों की शिक्षा-प्रदान कर काशी-वास की आज्ञा दी। उनके पूर्व बंगाल के प्रवासकाल में ही पत्नी लक्ष्मीदेवी का सर्प के काटने से परलोकवास हो गया। गृह लौटने पर उन्होंने माता को शोकमग्न पाया। मानव-जीवन की क्षण-भंगुरता का उपदेश करके उन्होंने जननी को सान्त्वना दी। माता के अनुरोध से राजपण्डित श्रीसनातन मिश्र की कन्या श्रीविष्णुप्रियादेवी का पाणिग्रहण किया। यात्रा से लौटने पर उनके साथी फिर से संग हो गए। अब वे इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि नदिया के सर्वश्रेष्ठ पण्डित माने जाने लगे। स्वयं को महान् दिग्विजयी कहने वाला केशव मिश्र कश्मीरी नदिया के पण्डितों से शास्त्रार्थ के लिए नदिया में आया। नामधारी दिग्विजयी पण्डित से भयभीत होकर नदिया के टोल-विद्वान् एक निमंत्रण का छल करके नगर से चले गए। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु एवं केशव कश्मीरी का मायापुर के बड़कुण्ड-घाट पर मिलन हुआ। अत्यन्त संक्षिप्त वार्ता में ही

कश्मीरी पण्डित बालक गौरसुन्दर से परास्त होकर अपमान-भयवश पलायन करने को बाध्य हो गया। निमाई पण्डित अब अपने समय के सर्वोत्तम पण्डित मान्य हो गए।

सोलह-सत्रह वर्ष की आयु में बहुत-से विद्यार्थियों सहित उन्होंने गया-यात्रा की। वहीं प्रख्यात भक्त श्रीमाधवेन्द्र पुरीपाद के शिष्य एवं वैष्णव संन्यासी श्रीईश्वरपुरी से वैष्णव-दीक्षा ग्रहण की। नदिया लौट आने पर निमाई पण्डित भागवत-धर्म-प्रचारक बन गए। उनका भक्त-रूप इतनी प्रबलतापूर्वक प्रकट हुआ कि अद्वैत प्रभु और श्रीवासादि, जिन्होंने उनके प्राकट्य से पूर्व ही वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया था, नवयुवक श्रीगौरसुन्दर में ऐसे परिवर्तन देख कर विस्मित हो गए। अब वे तर्करत नैयायिक, शास्त्रार्थ करने वाले स्मार्त और आलोचक काव्यवेत्ता नहीं रहे। प्रत्यक्ष-दर्शी श्रीमुरारी गुप्त ने वर्णन किया है कि श्रीवास के घर में अपने शत-शत भक्तों के मध्य, जिनमें मुख्यत: महान् विद्वान् थे, उन्होंने अपनी भगवत्-शक्तियों का प्रकाश किया। इसी समय श्रीवास के आँगन में उन्होंने अपने निष्ठावान् भक्तों के साथ रात्रि-संकीर्त्तन का प्रारम्भ किया। वहाँ वे प्रवचन करते, गाते, नाचते और नाना भावों का प्रकाश करते थे। वैष्णव-उपदेशक के रूप में सम्पूर्ण भारत-भ्रमण करके श्रीनित्यानन्द प्रभु भी इस समय उनसे आ मिले। वास्तव में, अनेक-अनेक निष्ठावान् वैष्णव-उपदेशक बंगाल के विविध भागों से उनके संग में आए। इस प्रकार नदिया नगर ऐसे अनेक वैष्णवाचार्यों का नित्य निवास-स्थल बन गया, जिनका उद्देश्य वैष्णव धर्म के सर्वोच्च प्रभाव द्वारा मानवता को भगवत्परायण बनाना था।

प्रभु नित्यानन्द और ठाकुर हरिदास को उन्होंने यह प्रथम आदेश दिया— "मित्रो जाओ, नगर के मार्गों पर जाओ, जन-जन के द्वार पर जाकर सबसे पवित्रतापूर्वक हरिनाम ग्रहण करने की प्रार्थना करो और नित्य सन्ध्या समय अपने प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में मुझे सूचित करो।" यह आदेश होने पर दोनों नाम-प्रचारक चले। एक दिन उनकी भेंट दो परम अधम जीवों—जगाई-मधाई—से हुई। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का आदेश सुनकर उन्होंने प्रचारकों का अपमान किया, किन्तु उनके प्रभु श्रीगौरसुन्दर द्वारा उपदिष्ट-भक्ति के प्रभाव से वे भी शीघ्र भक्त बन गए। नदियावासी इससे आश्चर्य-चकित हो उठे। उन्होंने कहा, "निमाई पण्डित केवल महान् विद्वान ही नहीं, अपितु निश्चित रूप से सर्वसमर्थ श्रीभगवत्-दूत हैं।"

जीवन के इस तेईसवें वर्ष से श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने नदिया में ही नही, अपितु समीपवर्ती सारे नगर ग्रामादि में अपने वैष्णव-सिद्धान्तों का प्रचार किया। भक्तों के निवासों पर चमत्कार प्रदर्शन किया, गोपनीय भक्ति-सिद्धान्तों की शिक्षा दी, भक्तवृन्द सहित संकीर्त्तन किया। उनके नदियावासी भक्त मार्गों में हरिनाम का कीर्तन करने लगे। इससे एक उत्तेजना फैल गई, विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न भावों का प्रादुर्भाव हुआ। भक्त अतिशय प्रफुल्लित हुए। दूसरी ओर निमाई पण्डित की सफलता से ईर्ष्या करने वाले स्मार्त पण्डितों ने श्रीचैतन्य को अहिन्दू बताकर उनके विरुद्ध चाँद काजी से शिकायत की। काजी श्रीवास पण्डित के निवास पर आया और एक मृदङ्ग को भंग करके उसने घोषणा कि यदि निमाई पण्डित अपने विचित्र धर्म के कोलाहल को नहीं दबाएँगे तो वह अनुयायियों सहित उन्हें मुस्लिम बनाने को बाध्य हो जाएगा। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु को इसकी सूचना मिली। उन्होंने तुरन्त नगरवासियों को सन्ध्या समय हाथ में मशाल लेकर उपस्थित होने का आदेश दिया। लोगों ने वैसा ही किया तथा निमाई अपने संकीर्तन को चौदह दलों में विभाजित कर चले। काजी-निवास पहुँचकर उन्होंने काजी के साथ विस्तार से बात की और अन्त में अंग-स्पर्श करके उसके हृदय में भी वैष्णवता का संचार कर दिया। काजी ने रोते हुए स्वीकार किया कि उसे एक तीव्र भागवत्-प्रभाव की अनुभूति हुई, जिससे उसके संशय नष्ट हो गए तथा परमानन्द-प्रदायक भक्तिभाव का उदय हुआ। इसके बाद काजी संकीर्त्तन में सम्मिलित हो गया। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की दिव्य-शक्ति से जगत् विस्मित हो उठा। इस घटना से हजारों-हजारों अवैष्णव भक्त बनकर श्रीविश्वम्भर-ध्वजा के नीचे एकप्राण हो गए।

इसके पश्चात् कुलिया के कुछ ईर्ष्यालु एवं नीच प्रकृति वाले ब्राह्मणों ने श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर से विद्रोह करके उनके विरुद्ध एक दल बनाया। निमाई पण्डित सिद्धान्त पर दृढ़ होते हुए भी स्वभावत: परम सहृदय थे। उन्होंने विचार किया कि दलबन्दी और साम्प्रदायिक संकीर्णता प्रगति के दो सबसे बड़े शत्रु हैं, इसलिए जब तक निमाई पण्डित किसी एक परिवार से सम्बद्ध हैं, तब तक उनका प्रयोजन पूर्णतया सिद्ध नहीं हो सकेगा। अत: उन्होंने अपने परिवार, वर्ण दल आदि से सम्बन्ध-विच्छेद कर विश्व-नागरिक बनने का संकल्प किया। इस प्रकार चौबीसवें वर्ष में उन्होंने कटवा में वहाँ के केशव भारती से संन्यासाश्रम ग्रहण किया। उनकी माता एवं पत्नी उनके विरह में फूट-फूटकर रोईं, पर सहृदय होते हुए भी हमारे चरितनायक

आदर्श सिद्धान्त पर दृढ़ थे। अपने घर के छोटे-से संसार का उन्होंने परित्याग किया—सामान्य-जनता को श्रीकृष्ण के अनन्त वैकुण्ठ-जगत् धाम की प्राप्ति कराने के लिए।

संन्यास लेने के बाद उन्हें शान्तिपुर में अद्वैत-प्रभु के घर जाने के लिए प्रेरित किया गया। श्रीअद्वैत ने नदिया से उनके सब मित्रों और भक्तों को निमन्त्रित किया; पुत्र के दर्शनार्थ शची माता को भी ले आए। पुत्र का संन्यासी-रूप देखकर जननी का हृदय हर्ष-विषाद-मग्न हो गया। संन्यासी होने के कारण श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु केवल कौपीन और बहिर्वास धारण किए हुए थे। उनका मस्तक मुण्डित था, हाथ में दण्ड-कमण्डलु थे। अपनी स्नेहमयी जननी के चरणों में दण्डवत् प्रणाम कर पावन पुत्र ने कहा, "जननी! यह देह आपकी है। इसलिए मैं आपकी आज्ञा-पालन में बाध्य हूँ। भगवत् प्राप्ति के लिए मुझे श्रीधाम वृन्दावन गमन करने की आज्ञा दीजिए।" अद्वैतादि से विचार-विमर्श कर जननी ने पुत्र को जगन्नाथपुरी में निवास करने को कहा, जिससे समय-समय पर उन्हें श्रीगौरसुन्दर की वार्ता मिलती रहे। श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर ने इस सुझाव को मान कर शीघ्र शान्तिपुर से उड़ीसा के लिए प्रस्थान किया। जीवनीकारों ने श्रीकृष्णचैतन्य की शान्तिपुर से पुरी यात्रा का सुविस्तृत वर्णन किया है। वर्तमान थाना—मथुरापुर, डायमण्ड हार्बर, चौबीस परगना में स्थित छत्रभोग तक उन्होंने भागीरथी तट पर यात्रा की। वहाँ से नौका द्वारा मिदनापुर जिले में प्रयाग घाट तक गए। तदुपरान्त भुवनेश्वर मन्दिर के दर्शन करते और बालेश्वर कटक के मार्ग से पदयात्रा करते हुए वे पुरी पहुँचे। पुरी आने पर उन्होंने श्रीजगन्नाथ का दर्शन किया। श्रीसार्वभौम से भेंट हुई और उनकी प्रार्थना पर श्रीमन्महाप्रभु ने साथ में निवास किया। श्रीसार्वभौम उस काल के महान् विद्वान् थे, उनके स्वाध्याय की सीमा न थी। सर्वश्रेष्ठ नैयायिक होने के साथ ही वे शंकर-वेदान्त के सर्वाधिक पाण्डित्यपूर्ण विद्वान् के रूप में विख्यात थे। उनका जन्म नदिया (विद्यानगर) में हुआ था, जहाँ वे अपने टोल में असंख्य विद्यार्थियों को न्याय की शिक्षा देते थे। निमाई पण्डित के आविर्भाव से कुछ ही पूर्व वे पुरी चले आए। उनके बहनोई श्रीगोपीनाथ ने इन नवीन-संन्यासी का परिचय श्रीसार्वभौम से कराया। श्रीसार्वभौम श्रीगौरसुन्दर के श्रीविग्रह-माधुर्य से आश्चर्यचकित हो उठे। उन्हें भय हुआ कि लम्बे-जीवनकाल में ऐसे नवयुवक के लिए संन्यास-धर्म की रक्षा बड़ी कठिन होगी। श्रीगोपीनाथ की, जो श्रीचैतन्य महाप्रभु को नदिया से जानते थे,

इसलिए उनकी प्रभु में प्रगाढ़ निष्ठा थी। अत: उन्होंने घोषित किया कि वे संन्यासी साधारण मनुष्य नहीं हैं। इस पर श्रीगोपीनाथ और श्रीसार्वभौम में गहन शास्त्रार्थ हुआ। तत्पश्चात् श्रीसार्वभौम ने श्रीगौरसुन्दर से अपनी वेदान्तसूत्र व्याख्या सुनने के लिए अनुरोध किया और प्रभु ने युक्तिपूर्वक स्वीकृति प्रदान की। श्रीगौरसुन्दर ने गम्भीरतापूर्वक सात दिवस तक चुपचाप श्रीसार्वभौम की व्याख्या सुनी। सात दिन हो जाने पर श्रीसार्वभौम ने उनसे कहा, "कृष्णचैतन्य! प्रतीत होता है कि आप वेदान्त नहीं समझते, क्योंकि मेरी व्याख्या सुनकर कुछ नहीं कहते हैं।" श्रीचैतन्य का उत्तर था कि वे सूत्रों को तो भली-भाँति समझते हैं, किन्तु नहीं जानते कि अपने भाष्य से श्रीशंकराचार्य का तात्पर्य क्या है। इससे विस्मित होकर सार्वभौम ने कहा, "यह कैसे सम्भव है कि आप सूत्र तो समझते हैं, पर सूत्रों की व्याख्या करने वाले भाष्य को नहीं समझते? फिर भी यदि आप सूत्रों को समझते हैं तो कृपया अपनी व्याख्या सुनाइए।" इस पर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने अपनी विधि से शंकर की विवर्त्तवाद-व्याख्या का स्पर्श किए बिना सब सूत्रों की व्याख्या की। श्रीसार्वभौम की तीक्ष्ण-बुद्धि को श्रीचैतन्य की व्याख्या में सत्य, सौन्दर्य और तर्क-समन्वय का दर्शन हुआ; वे यह कहने को बाध्य हो गए कि यह पहला अवसर है, जब उन्हें ब्रह्मसूत्र की ऐसी सरल व्याख्या सुनने को मिली। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि शांकर-भाष्य वेदान्त सूत्र की उतनी स्वाभाविक व्याख्या नहीं करते, जैसी उन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु से प्राप्त हुई। उन्होंने समर्थक और अनुयायी के रूप में समर्पण कर दिया। कुछ ही दिनों में श्रीसार्वभौम की अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वैष्णवों में गणना होने लगी। जब यह समाचार फैला तो सम्पूर्ण उड़ीसा श्रीगौरसुन्दर का गुण-गान करने लगा; शत-शत लोग उनकी शरण में आकर भक्त बन गए। इसी बीच, श्रीमन्महाप्रभु ने दक्षिण-यात्रा का विचार कर कृष्णदास नामक ब्राह्मण सहित पुरी से प्रस्थान कर दिया।

जीवनीकारों ने उनकी यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया है। वे सर्वप्रथम कूर्मक्षेत्र गए, जहाँ उन्होंने चमत्कारपूर्वक वासुदेव नामक कुष्ठरोगी का रोग-निवारण किया। गोदावरी तट पर विद्यानगर के शासक राय रामानन्द से भेंट कर प्रेमभक्ति की चर्चा की। एक चमत्कार में उन सप्त ताल वृक्षों को स्पर्श-मात्र से लुप्त कर दिया, जिनके पीछे से दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने महान् बालि राजा को बाण मारा था। यात्रा-भर में उन्होंने वैष्णव-धर्म और नाम-संकीर्तन का प्रचार किया। श्रीरंगक्षेत्र में वर्षा ऋतु में वेंकट

भट्ट के घर चातुर्मास्य किया। वहाँ उन्होंने वेंकट के सम्पूर्ण परिवार को रामानुज वैष्णव से कृष्णभक्त बनाया। उन्हीं में वेंकट के दस वर्षीय बालक गोपाल भी थे, जो बाद में वृन्दावन आकर श्रीकृष्णचैतन्य के छः गोस्वामियों में सम्मिलित हुए। अपने चाचा प्रबोधानन्द सरस्वती से संस्कृत-शिक्षा पाकर श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी ने अनेक वैष्णव-ग्रन्थों का प्रणयन किया।

दक्षिण में कन्याकुमारी तक अनेक स्थलों का परिभ्रमण कर श्रीचैतन्य-महाप्रभु दो वर्ष में भीमा नदी पर स्थित पंढरपुर के मार्ग से पुनः पुरी पधारे। उक्त स्थान पर उन्होंने श्रीतुकाराम को भक्त बनाया, जो बाद में महान् भक्ति-प्रचारक हुए। बम्बई नगर सेवा के सत्येन्द्रनाथ टैगोर द्वारा संकलित तुकाराम के अभंगों में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। यात्राकाल में उन्होंने अनेक स्थानों पर बौद्ध, जैन और मायावादियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें वैष्णव धर्म ग्रहण कराया।

श्रीमन्महाप्रभु के पुरी लौट आने पर, राजा प्रतापरुद्र देव और अनेक पण्डित ब्राह्मण उनके अनुयायी-भक्त हो गए। इस समय वे सत्ताईस वर्षीय हो चुके थे। अट्ठाईसवें वर्ष में वे मालदा में गौड़ तक गए। वहाँ उन्हें रूप-सनातन नामक दो महापुरुषों की प्राप्ति हुई। कर्नाटक ब्राह्मण-वंशी होने पर भी गौड़ के तत्कालीन शासक हुसैन शाह के संसर्ग से दोनों भाई प्रायः मुस्लिम हो गए थे। बादशाह ने उनके नाम तक बदल कर दबीर खास और साकर मल्लिक रख दिए थे। वे फारसी, अरबी और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित एवं शासन के विश्वास-पात्र सेवक थे। इन सब गुणों के कारण शासक को वे हृदय से प्रिय थे। दोनों सज्जनों को हिन्दू समाज में पुनः आगमन का कोई मार्ग नहीं मिला। श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर के पुरीवास के समय उन्होंने पत्र द्वारा प्रभु से पारमार्थिक सहायता की याचना की थी। श्रीगौरसुन्दर ने उत्तर में लिखा था कि वे स्वयं उनके पास आकर परमार्थ की समस्याओं से उनका उद्धार करेंगे। अतएव उनके गौड़-आगमन पर, दोनों भाई अपनी चिरकालीन प्रार्थना करने उनके चरणों में उपस्थित हुए। श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर ने आदेश दिया कि वे श्रीधाम वृन्दावन जाएँ और वहीं उनसे मिलें।

श्रीचैतन्य शान्तिपुर में स्नेहमयी जननी से भेंट कर पुनः पुरी धाम लौट आए। पुरी में अल्प निवास करके उन्होंने श्रीधाम वृन्दावन के लिए पुनः प्रस्थान किया। इस अवसर पर उनके साथ एक बलभद्र भट्टाचार्य नामक सेवक थे। श्रीधाम वृन्दावन का दर्शन करके और कुरान के आधार

पर अनेक मुस्लिमों को वैष्णव बनाकर वे प्रयाग पधारे। उन वैष्णवों के वंशज आज तक पठान-वैष्णव कहलाते हैं। प्रयाग में श्रीरूप गोस्वामी की उनसे भेंट हुई। दस दिन तक भक्ति विषयक शिक्षा प्रदान करके श्रीचैतन्य ने उन्हें अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए श्रीधाम-वृन्दावन जाने की आज्ञा दी। उनका पहला प्रयोजन था कि शुद्ध प्रेमाभक्ति का युक्तिसंगत प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों की रचना। दूसरे, भक्त-समाज के कल्याणार्थ उन स्थलों का पुनरुत्थान, जहाँ द्वापर युग के अन्त में श्रीकृष्णचन्द्र ने विविध दिव्य लीलाएँ की थीं। श्रील रूप गोस्वामी ने प्रयाग से श्रीवृन्दावन के लिए प्रस्थान किया तथा श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु काशी पधारे। वहाँ उन्होंने श्रीचन्द्रशेखर के स्थान पर निवास किया और श्रीतपन मिश्र के घर नित्य भिक्षा की। यहीं श्रील सनातन गोस्वामी ने उनके सान्निध्य में दो मास तक भक्ति-शिक्षा प्राप्त की। जीवनीकारों ने, विशेषत: श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीचैतन्य से रूप सनातन की प्राप्त हुई शिक्षा का विस्तृत वर्णन किया है। कृष्णदास समकालीन लेखक नहीं थे, पर महाप्रभु के शिष्य, गोस्वामियों से उन्हें सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हुई थी। श्रीरूप-सनातन के भाई के पुत्र तथा 'षड्सन्दर्भ' नामक अनुपम ग्रन्थ के प्रणेता श्रील जीव गोस्वामिपाद ने श्रीमहाप्रभु की शिक्षा का तत्त्व-निरुपण किया है। इन महापुरुषों के ग्रन्थों के आधार पर ही हमने श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा का संकलन एवं सार-ग्रहण किया है।

काशी में श्रीचैतन्य का नगर के विद्वान् संन्यासियों से उस महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के निवास पर वार्तालाप हुआ, जिसने उत्सव मे सब संन्यासियों को निमंत्रित किया था। इस वार्तालाप में श्रीचैतन्य महाप्रभु के चमत्कार से सारे संन्यासी उनके प्रति आकृष्ट हो गए। तदुपरान्त विचार-विनिमय हुआ। संन्यासियों का नेतृत्व कर रहे थे उस समय के सर्वोपरि विद्वान्—प्रकाशानन्द सरस्वती। अल्प विवाद के बाद ही श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के प्रति अवनत होकर उन्होंने स्वीकार किया कि वे शंकराचार्य के भाष्यों से भ्रमित हैं। विद्वान् पण्डित भी अधिक समय तक श्रीगौरसुन्दर का विरोध नहीं कर सकते। प्रभु में एक ऐसा वशीकरण था, जो उनके हृदयों का स्पर्श कर भक्ति-प्राप्ति के लिए विद्वानों को रुदन करने को विवश कर देता। काशी के संन्यासी शीघ्र श्रीचैतन्य-चरणारविन्द में गिरकर उनसे कृपा की याचना करने लगे। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने शुद्ध भक्ति का उपदेश कर उनके हृदय को दिव्य कृष्णप्रेम से भर दिया और वे साम्प्रदायिक

संकीर्णता से मुक्त हो गए। इस प्रकार संन्यासियों के भक्त बनने पर सारी की सारी काशी वैष्णव हो गई और जनता ने अपने नवोदित प्रभु श्रीगौर-सुन्दर के साथ महासंकीर्तन का आयोजन किया। श्रीसनातन को श्रीधाम-वृन्दावन भेजकर साथी बलभद्र के साथ वन-मार्ग से वे पुनः पुरी पधारे। बलभद्र ने समाचार दिया कि पुरी के मार्ग में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की कृष्णनाम-ध्वनि सुनकर सिंह-गजादि भी उन्मत्त नृत्य करने लगे। ऐसे अनेक चमत्कार हुए।

इस समय, अर्थात् इकतीसवें वर्ष से लेकर टोटा गोपीनाथ मन्दिर में संकीर्त्तन करते हुए अड़तालीसवें वर्ष में तिरोभाव तक महाप्रभु पुरी में निरन्तर काशी मिश्र के निवास पर ही रहे। इन अट्ठारह वर्षों में उनका जीवन स्थिर-प्रेम-भक्तिमय था। उनके परिकर में ऐसे अनेक परम-वैष्णव थे, शुद्धतम चरित्र, विद्वत्ता, दृढ़ धर्म-निष्ठा, तथा श्रीराधामाधव के दिव्य प्रेम में जन-साधारण से विलक्षण थे। श्रीस्वरूप दामोदर जो श्रीमन्महाप्रभु के नदिया-निवासकाल में पुरुषोत्तमाचार्य थे, काशी से पुरी आए और उनका सचिव-पद स्वीकार कर लिया। श्रीस्वरूप दामोदर से शुद्धता और सार्थकता सम्बन्धी स्वीकृति प्राप्त किए बिना कोई भी कविता अथवा दर्शन श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के आगे प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। श्रीराय रामानन्द उनके दूसरे सखा थे। जब-जब महाप्रभु कोई भाव प्रकट करते तो, वे और दामोदर उपयुक्त पदों का गान करते थे। परमानन्द पुरी धार्मिक विषय में उनके मंत्री थे। उनके जीवनीकारों द्वारा वर्णित ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जिनका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु बहुत अल्प शयन करते। उनमें दिन-रात उठनेवाले भाव भक्ति-आकाश में उन्हें बहुत दूर ले जाते। इस अवस्था में सब भक्त और अनुयायी निरन्तर उनकी शुश्रूषा में मग्न थे। वे भक्ति करते, वृन्दावन में स्थित अपने सेवकों से सम्पर्क करते और नवागन्तुक भक्तजनों से वार्तालाप भी करते। वे नाचते, गाते, अपना कुछ भी विचार नहीं करते और प्रायः भक्ति-माधुर्य में तन्मय हो जाते। उनके दर्शनार्थ आने वाले सभी श्रद्धालु उन्हें मानवता के कल्याण के लिए अधःलोक में अवतरित सर्व-माधुर्यपूर्ण स्वयं भगवान् मानते थे। जननी के प्रति उनका जीवन-भर प्रेम रहा, नदिया जाने वालों के हाथों वे समय-समय पर माता के लिए महाप्रसाद भेजते थे। वे स्वभावतः परम मृदु तथा मूर्तिमान दैन्य थे। उनका मधुर मुखचन्द्र अपने सम्पर्क में आने वाले सभी को प्रफुल्लित किया करता। श्रीनित्यानन्द प्रभु को उन्होंने बंगाल का

मुख्य प्रचारक नियुक्त किया और सुदूर देश में कृष्ण प्रेम प्रचारार्थ छः गोस्वामियों को वृन्दावन भेजा। पवित्र जीवन का उल्लंघन करने वाले अपने सब शिष्यों का उन्होंने शासन किया। छोटे हरिदास के सम्बन्ध में विशेष रूप से ऐसा किया। जीवन की उचित शिक्षा के याचकों को उन्होंने कभी निराश नहीं किया। श्रील रघुनाथदास गोस्वामी को उनकी शिक्षा में यह वस्तु देखने में आती है। ठाकुर हरिदास से उनके व्यवहार से प्रकट होता है कि वे भक्तों से कितना अगाध प्रेम करते थे और भक्ति में जाति-पाँति के भेद को बिल्कुल नहीं मानते थे।

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षाष्टक

भगवान् श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु ने अपने शिष्यों को श्रीकृष्ण-तत्त्व-विषयक ग्रन्थों की रचना करने की आज्ञा दी, जिसका पालन उनके अनुयायी आज तक भी कर रहे हैं। वास्तव में श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा जिस दर्शन की शिक्षा दी गई है उस पर हुई व्याख्याएँ और निरूपण गुरु-परम्परा की पद्धति के कारण परम विस्तृत, यथानुरूप एवं सुदृढ हैं। यद्यपि भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु अपने युवावस्था में ही परम विद्वान् के रूप में विख्यात थे, किन्तु उन्होंने हमें केवल आठ श्लोक ही प्रदान किए हैं। इन्हें 'शिक्षाष्टक' कहते हैं। ये आठ श्लोक श्रीमन्महाप्रभु के प्रयोजन तथा शिक्षा के स्पष्ट प्रकाशक हैं। इन परम मूल्यवान् प्रार्थनाओं का यहाँ मूलरूप एवं अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है।

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्नि निर्वापणं
श्रेय:कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्त्तनम् ।।१।।

''श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन की परम विजय हो जो वर्षों से संचित मल से चित्त का मार्जन करने वाला तथा बारम्बार जन्म-मृत्यु रूप महादावानल को शान्त करने वाला है। यह संकीर्त्तन-यज्ञ मानवता का परम कल्याणकारी है क्योंकि यह मंगलरूपी चन्द्रिका का वितरण करता है। समस्त अप्राकृत विद्या रूपी वधू का यही जीवन है। यह आनन्द के समुद्र की वृद्धि करने वाला है और यह श्रीकृष्ण-नाम हमारे द्वारा नित्य वांछित पूर्णामृत का हमें आस्वादन कराता है।''

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमित: स्मरणे न काल: ।

एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ।।२।।

"हे भगवन्! आपका अकेला नाम ही जीवों का सब प्रकार से मंगल करने वाला है— 'कृष्ण', 'गोविन्द' जैसे आपके लाखों नाम हैं। आपने इन अप्राकृत नामों में अपनी समस्त अप्राकृत शक्तियाँ अर्पित कर दी हैं। इन नामों का स्मरण और कीर्त्तन करने में देश-कालादि का कोई भी नियम नहीं है। प्रभो! आपने तो अपनी कृपा के कारण हमें भगवन्नाम के द्वारा अत्यन्त ही सरलता से भगवत्-प्राप्ति कर लेने में समर्थ बना दिया है, किन्तु मैं इतना दुर्भाग्यशाली हूँ कि आपके ऐसे नाम में भी मेरा अनुराग उत्पन्न न हो पाया।"

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ।।३।।

"स्वयं को मार्ग में पड़े हुए तृण से भी अधिक नीच मानकर, वृक्ष के समान सहनशील होकर, मिथ्या मान की भावना से सर्वथा शून्य रहकर एवं दूसरों को सदा ही पूर्ण मान देने वाला होकर ही सदा श्रीहरिनाम का कीर्त्तन विनम्र भाव से करना चाहिए।"

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।।४।।

"हे सर्वसमर्थ जगदीश! मुझे धन एकत्र करने की कोई कामना नहीं है, न मैं अनुयायियों, सुन्दरी स्त्री अथवा सालङ्कार कविता का ही इच्छुक हूँ। मेरी तो एकमात्र कामना यही है कि जन्म-जन्मान्तर में आपकी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।"

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ।।५।।

"हे नन्दतनुज (कृष्ण)! मैं तो आपका नित्य किंकर (दास) हूँ किन्तु किसी न किसी प्रकार से मैं जन्म-मृत्युरूपी सागर में गिर पड़ा हूँ। कृपया इस विषम मृत्युसागर से मेरा उद्धार कर अपने चरणकमल की धूलि का कण बना लीजिए।"

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गद्-रुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम-ग्रहणे भविष्यति ।।६।।

"हे प्रभो! आपका नाम-कीर्त्तन करते हुए, कब मेरे नेत्र अविरल प्रेमाश्रुओं की धारा से विभूषित होंगे? कब आपके नाम-उच्चारण करने

मात्र से ही मेरा कण्ठ गद्‌गद् वाक्यों से रुद्ध हो जाएगा और मेरा शरीर रोमांचित हो उठेगा?''

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द-विरहेण मे ।।७।।

''हे गोविन्द! आपके विरह में मुझे एक निमेष काल (पलक लगने तक का समय) एक युग के बराबर प्रतीत हो रहा है। नेत्रों से मूसलाधार वर्षा के समान निरन्तर अश्रु प्रवाह हो रहा है तथा आपके विरह में मुझे समस्त जगत् शून्य ही दीख पड़ता है।''

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ।।८।।

''एकमात्र श्रीकृष्ण के अतिरिक्त मेरे कोई प्राणनाथ हैं ही नहीं और वे मेरे लिए यथानुरूप बने ही रहेंगे, चाहे वे मेरा गाढ़-आलिंगन करें अथवा दर्शन न देकर मुझे मर्माहत करें। वे लम्पट कुछ भी क्यों न करें—वे तो सभी कुछ करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे नित्य, प्रतिबन्धरहित आराध्य प्राणेशवर हैं।''

भूमिका

(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी विरचित भगवान् श्रीचैतन्य के प्रामाणिक जीवन चरित्र, 'श्रीचैतन्यचरितामृत' पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ, न्यूयॉर्क के तत्त्वावधान में पाँच प्रवचनों के रूप में सर्वप्रथम प्रदत्त/दिनांक अप्रैल १०-१४, १९६७)

'चैतन्य' का अर्थ है चेतना (जीवनशक्ति)। चेतन जीव होने के कारण हम चल-फिर सकते हैं, किन्तु मेज नहीं चल सकती, क्योंकि उसमें चेतना नहीं है। चलना और क्रिया करना चेतना का चिह्न माना जा सकता है। वास्तव में कहा जा सकता है कि चेतना के अभाव में कुछ भी क्रिया सम्भव नहीं है। प्रकृति के बन्धन में भी चेतन अमृत है। अत: "चैतन्यचरितामृत" का अर्थ है—चेतना का अमृतमय चरित्र।

परन्तु यह चेतना शाश्वत रूप से कैसे प्रकाशित हो सकती है? इसका प्रकाश ब्रह्माण्ड के मनुष्य अथवा अन्य किसी जीव द्वारा नित्य नहीं होता, क्योंकि इन देहों में हममें से कोई भी अमृत नहीं है। हम चेतनायुक्त हैं, हम क्रिया करते हैं, स्वभाव और स्वरूप से अमृत हैं, पर हम जिस बन्धन में हैं वह हमारे अमृतत्त्व को नित्य प्रकाशित नहीं होने देती है। कठोपनिषद् में उल्लेख है कि हम और ईश्वर दोनों ही नित्य और चेतन हैं। यद्यपि यह सत्य है कि श्रीभगवान् के समान हम भी नित्य हैं, किन्तु दोनों में एक भेद है। जीवात्मा होने के नाते हम नाना क्रियाएँ करते हैं, परन्तु हममें अपरा प्रकृति (माया) में गिरने की प्रवृत्ति रहती है। श्रीभगवान् में ऐसा नहीं है। सर्व-शक्तिमान् होने के रूप में वे अपरा प्रकृति के अधीन कभी नहीं होते। वस्तुत: अपरा प्रकृति तो उनकी अचिन्त्य शक्तियों की अभिव्यक्ति मात्र है।

भूमि से आकाश में देखने पर हमें केवल मेघ दीखते हैं, किन्तु मेघों से

ऊपर उड़ने पर प्रकाशवान् सूर्य को देखा जा सकता है। दूसरी ओर आकाश से गगनचुम्बी भवन और नगर बहुत नन्हें से लगते हैं। उसी प्रकार श्रीभगवान् की दृष्टि में यह सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि नगण्य है। बद्ध-जीव की प्रवृत्ति उस ऊँची स्थिति से नीचे गिरने की है, जहाँ सब कुछ तत्त्व से देखा जा सकता है। श्रीभगवान् में ऐसा नहीं है। श्रीभगवान् का माया में गिरना उसी प्रकार सम्भव नहीं, जैसे बादलों से सूर्य का ढँकना। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण नित्यमुक्त हैं, क्योंकि वे कभी माया-मोहित नहीं हो सकते। हम अणु आत्माओं पर माया का अधिकार हो सकता है, इसलिए हम बद्ध हैं। निराकारवादी (मायावादी) दार्शनिकों का कहना है कि प्राकृत जगत् में आने पर जीव के समान भगवान् भी मायावश हो जाते हैं। जीव के सम्बन्ध में तो यह सत्य हो सकता है, पर भगवान् के लिए नहीं, क्योंकि प्रत्येक अवस्था में अपरा प्रकृति उन्हीं की अधीनता में कार्य करती है। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को भी भवबन्धन के अधीन समझने वालों को भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने 'मूढ़' कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।

"जब मैं मनुष्य के रूप में अवतीर्ण होता हूँ, मूढ़ मेरी अवहेलना करते हैं। उन्हें मेरे परम भाव एवं समस्त सृष्टि के ऊपर मेरी ईश्वरता का ज्ञान नहीं है।" (गीता ९.११)

हमें श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने समान नहीं समझना चाहिए। वे परम चेतन स्वयं श्रीकृष्ण हैं, इस कारण माया के अधीन कभी नहीं होते। श्रीकृष्ण, उनके अंश तथा उनके उत्तम भक्त तक कभी माया-मोहित नहीं हो सकते। श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्णप्रेम का प्रचार करने को भी अवतीर्ण हुए थे। भाव यह कि जीवों को कृष्णप्राप्ति की सच्ची पद्धति की शिक्षा प्रदान करने वाले वे स्वयं श्रीकृष्ण हैं। वे एक अध्यापक की भूमिका में हैं। विद्यार्थी को सिखाने के लिए अध्यापक स्वयं लेखनी से लिखता हुआ कहता है, "ऐसे लिखो— क ख ग।" इससे मूर्खतावश यह नहीं समझना चाहिए कि अध्यापक लिखना सीख रहा है। वे भक्त रूप से अवतीर्ण अवश्य हुए हैं, पर यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु, कृष्णभावना-भावित होने की शिक्षा देने वाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसी दृष्टि से उन्हें समझना चाहिए।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण सर्वोच्च धर्म की स्थापना इस प्रकार करते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एक मात्र मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम भय मत करो।" (गीता १८.६६)

यह शिक्षा देखने में सरल लग सकती है, परन्तु आचरण के समय प्रायः हमारी प्रतिक्रिया होती है, "ओह, शरणागति? त्याग? परन्तु मेरे इतने सारे कर्त्तव्य हैं।" माया हमसे कहती है, "ऐसा मत करना, नहीं तो तुम मेरे बन्धन से मुक्त हो जाओगे। मेरे पास ही रहो और मेरी लातें खाओ।" यह सच है कि हम निरन्तर माया की लातें खा रहे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे मैथुन के लिए गधी के पास जाने पर गधे के मुख पर लात पड़ती है। इसी भाँति मैथुन करते समय कुत्ते-बिल्ली भी निरन्तर लड़ते और झगड़ते हैं। यह सब प्रकृति का छल है। एक बड़ा हाथी तक वन में शिक्षित हथिनी की सहायता से गड्ढे में गिराकर पकड़ा जाता है। माया की अनेक क्रियाएँ हैं, जिनमें से प्राकृत जगत् में सबसे कड़ा पाश स्त्री है। अवश्य ही देखा जाय तो वास्तव में हम स्त्री अथवा पुरुष नहीं हैं; ये तो केवल देह रूपी बाहरी वस्त्र के सम्बोधन हैं। सच में तो हम सभी कृष्णदास हैं। परन्तु बद्ध अवस्था में, सुन्दर स्त्री रूपी लौह-पाश में हम सब बँध जाते हैं। इस प्रकार जीवमात्र कामवासना में बँधा है। अतः प्राकृत बन्धन से मुक्ति के लिए प्रयत्न करने पर सबसे पहले काम-विकार को जीतना है। अनियन्त्रित काम जीव को पूरी तरह मायाबद्ध कर देता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने औपचारिक रूप से इस माया का परित्याग केवल चौबीस वर्ष की अवस्था में कर दिया था, जबकि उनकी पत्नी सोलह वर्ष की थीं तथा माता सत्तर वर्षीय थीं एवं परिवार के एकमात्र पुरुष वे ही थे। सामान्य ब्राह्मण होने पर भी उन्होंने संन्यास ग्रहण कर पारिवारिक-बन्धन से अपने को मुक्त कर दिया।

यदि पूर्ण रूप में कृष्णभावनाभावित हो जाने की इच्छा हो, तो माया-बन्धन को छोड़ना होगा। परन्तु यदि माया के संसर्ग में रहना ही पड़े, तो इस प्रकार रहना चाहिए कि माया मोहित न कर सके। परिवार का त्याग अनिवार्य नहीं है; श्रीचैतन्य के अन्तरंग भक्तों में बहुत-से गृहस्थ थे। वास्तव में त्याग तो करना है विषय-भोग की रुचि का। श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने गृहस्थाश्रम में नियन्त्रित काम की छूट दी है, परन्तु संन्यासियों के सम्बन्ध में वे अत्यन्त दृढ़ नियमी थे। एक स्त्री से केवल बात करने पर उन्होंने

छोटे हरिदास को निर्वासित कर दिया। तात्पर्य यह है कि किसी एक मार्ग को ग्रहण करके दृढ़तापूर्वक उसका सेवन करना चाहिए, साथ ही भक्ति की सफलता के लिए सभी आवश्यक नियमों का पालन करना चाहिए। सारी जनता को कृष्णभक्ति के मार्ग की शिक्षा प्रदान कर अध्यात्मामृत प्राप्त कराना श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का प्रयोजन है।

'श्रीचैतन्यचरितामृत' से हमें, श्रीचैतन्य ने लोगों को अमृतत्त्व प्राप्त करने के लिए जो शिक्षा दी है, उसका ज्ञान होता है। अतः शीर्षक का ठीक ठीक अर्थ हुआ "चेतना का अमृतत्त्व।" भगवान् श्रीकृष्ण परम चैतन्य हैं। वे परम पुरुष हैं। चेतन जीवात्मा असंख्य हैं और उनमें से प्रत्येक का निज-निज स्वरूप है। यह इस बात से सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है कि हम सभी विचार करने और इच्छा करने में स्वतन्त्र हैं। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का भी अपना स्वरूप है। वे जीवों से भिन्न हैं। सबके अग्रणी और अतुलनीय हैं। प्रत्येक जीवात्मा दूसरी जीवात्मा से किसी न किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकती है। जीवों के समान भगवान् का भी निजी स्वरूप है, परन्तु यह भेद है कि वे परम चेतन पुरुष हैं। भगवद्गीता में भगवान् को अच्युत कहा है, अर्थात् उनका कभी पतन नहीं होता। यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि भगवद्गीता में अर्जुन मोहित हो गए, पर श्रीकृष्ण मोहित नहीं हुए। हम प्रायः सुनते हैं कि भगवान् अच्युत हैं और गीता में स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

"यद्यपि मैं अजन्मा हूँ और मेरे दिव्य शरीर का कभी क्षय नहीं होता एवं यद्यपि मैं सभी जीवों का ईश्वर हूँ, तद्यपि मैं अपने अप्राकृत स्वरूप में स्थित रहकर अपनी योगमाया से प्रत्येक युग में प्रकट होता हूँ।" (गीता ४.६)

अतः हमें यह नहीं समझना चाहिए कि प्राकृत-जगत् में अवतीर्ण होने पर श्रीकृष्ण अपनी मायाशक्ति के अधीन हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण और उनके अवतार माया के अधीन नहीं हैं। वे पूर्णरूप से स्वराट् (स्वाधीन) हैं। श्रीमद्भागवत में तो दैवी प्रकृति वालों को प्रकृति में स्थित होने पर भी प्राकृत गुणों से परे कहा गया है। यदि भक्त को यह स्वतन्त्रता मिल सकती है, फिर परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है?

वास्तविक प्रश्न यह है कि प्राकृत-जगत् में रहते हुए भी हम प्राकृत-

विकारों से मुक्त कैसे रह सकते हैं। श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार श्रीकृष्ण की सेवा को ही अपनी अनन्य अभिलाषा बनाने से जगत् में विकार-मुक्त रहा जा सकता है। इस पर जिज्ञासा होती है, "मैं सेवा किस प्रकार कर सकता हूँ?" स्पष्ट है कि यह ध्यान रूपी मानसिक क्रिया का विषय नहीं, वरन् आचरण का विषय है। श्रीकृष्ण-सेवा में अनुराग श्रीकृष्ण की सेवा करने से ही होता है। ऐसी सेवा में समूचे पदार्थों का उपयोग करना चाहिए। जो कुछ भी है, जो कुछ हमारा है, वह सब श्रीकृष्ण-सेवा में लगना चाहिए। इस प्रकार टंकण यंत्र (टाईपराइटर), वाहन, वायुयान, अस्त्र आदि सब पदार्थों का सदुपयोग किया जा सकता है। लोगों से श्रीकृष्ण भक्ति की चर्चा करना भी एक प्रकार की सेवा है। इस विधि से यदि हमारे मन, इन्द्रियाँ, वाणी, धन और सारी शक्ति श्रीकृष्ण-सेवा में संलग्न हैं तो फिर हमारी स्थिति प्राकृत-जगत् में नहीं है। श्रीकृष्णभावनामृत की महिमा से हम माया के परे हो जाते हैं। यह तथ्य है कि श्रीकृष्ण, उनके अंश और उनके सेवक-भक्त माया में स्थित नहीं हैं, यद्यपि अल्पज्ञ लोग उन्हें ऐसा समझते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत से हमें शिक्षा मिलती है कि आत्मा अमृत है तथा वैकुण्ठ-जगत् में उसकी क्रियाएँ भी अमृत होती हैं। परतत्त्व को निर्विशेष तथा निराकार माननेवाले मायावादी कहते हैं कि आत्मज्ञानी जीव के लिए बोलना अनावश्यक है। किन्तु कृष्णभक्त वैष्णवों के मतानुसार भगवत्प्राप्ति हो जाने पर ही यथार्थ बोलना प्रारम्भ होता है। वैष्णव कहते हैं, "पूर्व में हम केवल निरर्थक बोलते थे। अतः अब यथार्थ चर्चा—कृष्णकथा करें।" मायावादियों को घट (घड़े) का उदाहरण बड़ा प्रिय है। उसके आधार पर वे कहते हैं कि जल से भरा न होने पर पात्र ध्वनि करता है, जबकि जल से भर जाने पर कोई ध्वनि नहीं करता। किन्तु क्या हम जल-पात्र हैं? उनसे हमारी तुलना कैसे हो सकती है। उत्तम उपमा वही मानी जाती है, जिसमें दोनों पदार्थों की अधिक से अधिक समानताएँ हों। जल-पात्र हमारे समान क्रियाशील चेतन नहीं है। नित्य मौन-ध्यान जल-पात्र के लिए उपयुक्त हो सकता है, पर हमारे लिए नहीं। वास्तव में भगवत् प्राप्त भक्त को श्रीकृष्ण विषयक इतना अधिक कहना होता है कि चौबीस घण्टे पूरे नहीं पड़ते। मूढ़ लोग ही न बोलने तक पूजित होते हैं, मौन भंग होते ही उनकी अल्पज्ञता प्रकट हो जाती है। श्रीचैतन्यचरितामृत दिखाता है कि परतत्त्व श्रीकृष्ण के कीर्त्तन से अनेक अद्भुत उपलब्धियाँ होती हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत के प्रारम्भ में श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी

ने लिखा है, "मैं अपने गुरुओं की वन्दना करता हूँ।" गुरु-परम्परा को व्यक्त करने के लिए उन्होंने बहुवचन का प्रयोग किया। उन्होंने अपने ही सद्गुरु को नहीं, अपितु श्रीकृष्ण से प्रारम्भ हुई सम्पूर्ण शिष्य-परम्परा को प्रणाम किया। सारे वैष्णवों के प्रति लेखक के परम आदरभाव को प्रकट करने के लिए गुरु का निर्देश बहुवचन में है। गुरु-परम्परा की वन्दना के उपरान्त लेखक अन्य सब भक्तों, गुरु भाइयों, भगवत् अंशों तथा श्रीकृष्ण-शक्ति के प्रथम प्रकाश की वन्दना करते हैं। श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु इन सबके मूर्तरूप हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण, गुरु, भक्त और भगवत्-अवतार हैं। अपने पार्षद श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में वे प्रथम शक्ति-प्रकाश हैं; श्रीअद्वैत प्रभु के रूप में अवतार हैं; श्रीगदाधर के रूप में अन्तरंग शक्ति हैं, तथा श्रीवास के रूप में तटस्थ जीव हैं। अत: श्रीकृष्ण को अकेला न समझकर श्रीरामानुजाचार्य के वर्णन के अनुसार अपने प्रकाशों सहित नित्य विद्यमान जानना चाहिए। विशिष्टाद्वैत दर्शन में भगवद्शक्ति, भगवत् अवतार तथा भगवत् अंश में भेद-अभेद है। अर्थात्, श्रीकृष्ण भगवान् इन सबसे भिन्न नहीं हैं। सब तत्त्व समवेत रूप में भगवान् हैं।

वास्तव में 'श्रीचैतन्यचरितामृत' आरम्भकर्त्ताओं के लिए नहीं है। यह तो भागवत धर्म का स्नातकोत्तर ग्रन्थ है। आदर्शरूप में, भगवद्गीता से आरम्भ होकर श्रीमद्भागवत में प्रगति करके ही 'श्रीचैतन्यचरितामृत' का आस्वादन करना चाहिए। यद्यपि ये सभी महान् ग्रन्थ समान अद्वय स्तर पर हैं, फिर भी तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से 'श्रीचैतन्यचरितामृत' सर्वोच्च है। उसका एक-एक छन्द संसिद्ध (पूर्ण) है। वहाँ श्रीगौरसुन्दर चैतन्य देव और श्रीनित्यानन्द प्रभु को सूर्य-चन्द्रमा की उपमा दी गई है, वे प्राकृत जगत् के अन्धकार क़ा विनाश करते हैं। इस समय सूर्य चन्द्रमा का एक साथ उदय हुआ है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु की साथ ही साथ वन्दना करनी चाहिए।

जहाँ श्रीचैतन्य महाप्रभु की कीर्ति अपेक्षाकृत अज्ञात है, वहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है, "श्रीकृष्णचैतन्य कौन हैं?" इस जिज्ञासा के उत्तर में शास्त्रीय निष्कर्ष है कि वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सामान्यत: उपनिषदों में भगवान् के निराकार पक्ष का विवरण है, किन्तु साकार श्रीविग्रह का ईशोपनिषद् में वर्णन है। सर्वव्यापक के वर्णन के बाद वहाँ यह श्लोक आता है:-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे सर्वपालक प्रभो! आपका यथार्थ मुख आपके देदीप्यमान् प्रकाश से ढँका हुआ है। कृपया उस आवरण को दूर करके शुद्ध भक्तों को अपना दर्शन दीजिए।" (श्रीईशोपनिषद्, मन्त्र १५)

निर्विशेषवादियों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि ब्रह्मज्योति का अतिक्रमण करके इस ज्योति के स्रोत, श्रीभगवान् को प्राप्त करें। परन्तु ईशोपनिषद् के अन्त में एक श्लोक में श्रीभगवान् का वर्णन है। वहाँ निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन है। ब्रह्म को तो श्रीचैतन्य के श्रीविग्रह का देदीप्यमान प्रकाश समझना चाहिए। भाव यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु, ब्रह्म की प्रतिष्ठा हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का भी कथन है कि वे ब्रह्म के आश्रय हैं। ('ब्रह्मणो प्रतिष्ठाहम्,' गीता १४.२७)। जीव मात्र के हृदय में तथा ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु में स्थित परमात्मा, श्रीचैतन्य का आंशिक प्रकाश हैं। अतः श्रीकृष्ण चैतन्य, ब्रह्म तथा भगवत्-तत्त्व की भी प्रतिष्ठा हैं। परतत्त्व होने के कारण वे श्री, यश, वीर्य, रूप, ज्ञान और त्याग, इन छः ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। संक्षेपतः वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं; उनके समान अथवा उनसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। उनसे श्रेष्ठ परतत्त्व की कल्पना भी सम्भव नहीं; वही परम-ईश्वर हैं।

अन्तरंग भक्त श्रील रूप गोस्वामी ने, जिन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु से दस दिवस तक शिक्षा मिली, लिखा है—

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्य नाम्ने गौरत्विषे नमः॥

"परम-ईश्वर श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण सहित अन्य सब अवतारों से विशिष्ट महादाता हैं, क्योंकि वे उस कृष्णप्रेम का सर्वत्र मुक्तहस्त से वितरण कर रहे हैं, जैसा कभी किसी ने नहीं किया। मैं उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हूँ।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवत्प्राप्ति के किसी लम्बे और विस्तृत मार्ग का उपदेश नहीं करते। उनकी शिक्षा पूर्णतः पारमार्थिक है और उसका आरम्भ श्रीकृष्ण के चरणों में शरणागति से होता है। वे कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा हठयोग का वर्णन नहीं करते; उनकी शिक्षा का प्रारम्भ प्राकृत जीवन के अन्त, अर्थात् सम्पूर्ण प्राकृत विषय-आसक्ति का त्याग कर देने पर होता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपनी शिक्षा देह और आत्मा में भेद से प्रारम्भ की है और अट्ठारहवें अध्याय में जीव को भक्तिपूर्वक अपने शरणागत हो जाने के उपदेश से समाप्त की है। मायावादी तो वहीं

सारी वार्ता समाप्त कर देते, किन्तु वास्तव में उस स्तर पर तो यथार्थ वार्ता का प्रारम्भ ही होता है। वेदान्तसूत्र का आरम्भ है: 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा', "अब परतत्त्व विषयक जिज्ञासा करनी चाहिए।" श्रील रूप गोस्वामी ने श्रीकृष्ण, चैतन्य को महावदान्य अवतार कहकर उनकी स्तुति की है, क्योंकि सर्वोत्तम भक्ति का निर्देश करके वे जीव को महादान कर रहे हैं।

वस्तुत: भगवान् में आस्था रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति भक्ति में स्थित है। भगवान् की महानता को स्वीकार करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं। आचार्य के रूप में श्रीचैतन्य ने हमें शिक्षा दी कि श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित कर हम वास्तव में उनके मित्र बन सकते हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन कराया, क्योंकि अर्जुन उनके अतिप्रिय मित्र थे। श्रीकृष्ण के उस विश्वरूप का दर्शन कर अर्जुन श्रीकृष्ण से मैत्रीजन्य प्रमादि के लिए क्षमा याचना करने लगे थे। श्रीचैतन्य हमें इससे आगे ले जाते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा के माध्यम से हम श्रीकृष्ण के मित्र बन सकते हैं। यह ऐसी मैत्री है, जिसकी कोई सीमा नहीं। गौरवबुद्धि के बिना श्रीकृष्ण की शुद्ध मैत्री भी हम प्राप्त कर सकते हैं, यहाँ तक कि उनके पिता बन सकते हैं। यह श्रीचैतन्यचरितामृत ही का नहीं, अपितु श्रीमद्भागवत का भी सिद्धान्त है। संसार के किसी अन्य साहित्य में भक्त द्वारा भगवान् के साथ पुत्रवत् व्यवहार नहीं मिलता। प्राय: भगवान् को पुत्रों की इच्छाओं को पूरा करने वाला सर्वसमर्थ पिता समझा जाता है। किन्तु महाभागवत कभी-कभी भक्तियोग में भगवान् से पुत्रवत् व्यवहार भी करते हैं। पुत्र कुछ चाहता है और पिता उसकी पूर्ति करता है। श्रीकृष्ण की सेवा में भक्त पिता बन जाता है। इसी वात्सल्य रस में श्रीकृष्ण-जननी यशोदा ने उनसे कहा, "बेटा, यह भोजन कर ले, नहीं तो तू जीवित नहीं रहेगा। अच्छी प्रकार से भोजन कर।" इस प्रकार, सर्वेश्वर होने पर भी श्रीकृष्ण भक्त-कृपाश्रित हैं। मैत्री के इस अद्वितीय श्रेष्ठ स्तर पर भक्त अपने को श्रीकृष्ण का पिता मानता है।

श्रीचैतन्य का परम दान तो उनकी यह शिक्षा ही है कि श्रीकृष्ण में प्रियतम भाव भी किया जा सकता है। भगवान् की इस रस में इतनी आसक्ति है कि वे इसका विनिमय करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। श्रीकृष्ण व्रजगोपियों के इतने ऋणी हो गए थे कि प्रेम-विनिमय में उन्हें अपनी हार प्रतीत हुई। "तुम्हारे प्रेम का विनिमय करने में मैं समर्थ नहीं हूँ," उन्होंने कहा, "मैं तुम्हारा ऋण-विमोचन नहीं कर सकता।" इस

प्रकार भक्तियोग का आचरण परमश्रेष्ठ स्तर पर है। श्रीकृष्ण और भक्त के प्रेमी-प्रियतम रस का यही ज्ञान श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रदान किया है। उनसे पूर्व किसी भी अवतार अथवा आचार्य ने यह शिक्षा नहीं दी थी। अत: श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीचैतन्य के सम्बन्ध में कहा गया है: "आपने भक्ति का परमोच्च स्तर प्रदान किया है। हे शचीनन्दन! आप गौरवर्ण कृष्ण हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत के श्रोता आपको हृदय में विराजित करेंगे। आपके माध्यम से श्रीकृष्ण का ज्ञान सुगम होगा।" इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण का दान करने को अवतीर्ण हुए थे। उनकी पद्धति ध्यान, सकाम कर्म अथवा स्वाध्याय की नहीं, अपितु प्रेम की थी।

हमने बहुधा सुना है—"भगवत्प्रेम"। इस भगवत्प्रेम का विकास किस सीमा तक हो सकता है, इसकी शिक्षा वैष्णव दर्शन से प्राप्त होती है। भगवत्प्रेम का पुस्तकीय ज्ञान तो अनेक स्थलों और शास्त्रों में उपलब्ध है; पर उसका वास्तविक स्वरूप क्या है और उसके विकास की पद्धति क्या है, यह सब उल्लेख वैष्णव ग्रन्थों में ही है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मानवता को अद्वितीय और परमोच्च भगवत्प्रेम का दान किया है।

इस प्राकृत-जगत् में भी प्रेम का कुछ-कुछ आभास-सा होता है। यह कैसे है? इसका कारण भी श्रीभगवान् में होने वाला प्रेम ही है। इस बद्ध जीवन में हमें जो कुछ अनुभव है, वह सब सम्पूर्ण वस्तुओं के मूल परम ईश्वर श्रीकृष्ण में स्थित है। परम-ईश्वर श्रीकृष्ण से हमारे मूल सम्बन्ध में यथार्थ प्रेम है; वही प्रेम प्राकृत स्थितियों में विकृत रूप से प्रतिबिम्बित होता है। हमारा वास्तविक प्रेम अप्रतिहत और नित्य है, किन्तु प्राकृत-जगत् में विकृतिपूर्वक प्रतिबिम्बित होने के कारण वह प्रतिहत और दूषित हो जाता है। यदि हमें यथार्थ दिव्य प्रेम की वांछा हो तो अपना प्रेम परम प्रेमपात्र स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की ओर मोड़ना होगा। यह श्रीकृष्ण-भावनामृत का प्रधान सिद्धान्त है।

देहात्मबुद्धि में हम उस सबसे प्रेम करने का प्रयत्न कर रहे हैं जो कदापि प्रेम-पात्र नहीं है। हम कुत्ते-बिल्लियों से प्रेम करते हैं, जिससे यह भय बना रहता है कि मृत्युकाल में उन्हीं के चिन्तन से कुत्ते-बिल्ली के परिवार में हमारा जन्म हो। अत: श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य विषयक प्रेम अध: पतन का कारण बनता है। यह सत्य नहीं कि श्रीकृष्ण कोई दुर्बोध तत्त्व हैं अथवा उनकी प्राप्ति कुछेक गिने-चुने लोगों के लिए ही है। श्रीचैतन्य महाप्रभु सूचित करते हैं कि प्रत्येक देश और शास्त्र में भगवत्प्रेम का संकेत है।

किन्तु दुर्भाग्यवश, कोई नहीं जानता कि भगवत्प्रेम यथार्थ में क्या वस्तु है? पर वैदिक शास्त्रों की यह विशिष्टता है कि वे जीव मात्र को भगवत्प्रेम के मार्ग में भली-भाँति निर्देश करते हैं। अन्य शास्त्र प्रेम-प्राप्ति की पद्धति तथा भगवत्तत्त्व का वर्णन नहीं करते। औपचारिक रूप में वे भगवत्प्रेम का प्रचार तो करते हैं, परन्तु उसकी यथार्थ पद्धति का उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव में श्रीभगवान् से प्रेम का व्यावहारिक प्रदर्शन किया है। उन्होंने श्रीमती राधारानी का भाव स्वीकार कर राधारानी की ही भाँति श्रीकृष्ण से प्रेम किया। श्रीमती राधारानी के प्रेम से श्रीकृष्ण सदा विस्मित रहते थे। "श्रीमती राधारानी मुझे इतने आनन्द-रस का आस्वादन कैसे कराती हैं?" उनकी यह नित्य की जिज्ञासा थी। श्रीराधारानी के भाव को समझने के लिए श्रीकृष्ण ने उनका भाव अंगीकार कर स्वयं अपना आस्वादन किया। यही श्रीचैतन्य महाप्रभु के अवतार का अन्तरंग प्रयोजन है। श्रीचैतन्य स्वयं श्रीकृष्ण हैं, किन्तु श्रीकृष्ण से प्रेम की पद्धति को प्रकट करने के लिए उन्होंने राधाभाव स्वीकार किया है। अत: उनके चरणों में प्रार्थना की जाती है: "मैं श्रीराधाभावभावित श्रीकृष्ण की वन्दना करता हूँ।"

इस पर जिज्ञासा होती है कि श्रीराधा और श्रीराधाकृष्ण का तत्त्व वस्तुत: क्या है? वास्तव में श्रीराधाकृष्ण प्रेम-रस-विनिमय हैं। यह प्राकृत प्रेम नहीं है। श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों में तीन प्रधान हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था। अन्तरंगा शक्ति त्रिविध है: संवित्, ह्लादिनी तथा सन्धिनी। ह्लादिनी शक्ति आनन्ददायिनी है। यह आनन्द-वांछा की शक्ति अखिल जीवों में है, क्योंकि सभी आनन्द के अभिलाषी हैं। यह जीव का स्वभाव ही है। वर्त्तमान प्राकृत स्थिति में हम देह द्वारा अपनी ह्लादिनी शक्ति के आस्वादन का प्रयत्न कर रहे हैं, अर्थात् देह और विषयों के संग के द्वारा विषयों से आनन्द प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु हमें यह नहीं समझना चाहिए कि सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण भी हमारे समान इस प्राकृत स्तर पर आनन्दास्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण ने प्राकृत-जगत् को नश्वर और दु:खालय कहा है, अत: प्राकृत देह में वे आनन्द की वांछा क्यों करेंगे? वे परमात्मा हैं, उनका आनन्दास्वादन देहात्मबुद्धि से बिल्कुल परे है।

श्रीकृष्णरसामृत की प्राप्ति की पद्धति जानने के लिए हमें श्रीमद्‌भागवत, दशम स्कन्ध का अध्ययन करना चाहिए। वहाँ वर्णित श्रीमती राधारानी और व्रजगोपियों सहित श्रीकृष्ण की लीला में, श्रीकृष्ण की ह्लादिनी

शक्ति का प्रदर्शन है। दुर्भाग्यवश, अल्पज्ञ मनुष्य दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण-लीला पर सीधे पहुँच जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमती राधारानी को आलिंगन करने अथवा गोपियों के साथ नृत्य करने को प्रायः सामान्य लोग नहीं समझ पाते; वे इन लीलाओं को प्राकृत काम के रूप में लेते हैं और भ्रमपूर्वक समझते हैं कि श्रीकृष्ण उनके ही समान हैं तथा गोपियों का आलिंगन श्रीकृष्ण उसी प्रकार करते हैं जैसे साधारण मनुष्य किसी युवती का। कुछ लोगों की तो श्रीकृष्ण में रुचि भी इसी कारण से होती है। वे समझते हैं कि श्रीकृष्ण का धर्म काम का निषेध नहीं करता। यह वास्तव में कृष्णभक्ति नहीं, प्राकृत सहजिया (काम) है।

ऐसे भ्रमों से बचने के लिए हमें श्रीराधाकृष्ण का यथार्थ तत्त्व समझना चाहिए। श्रीराधाकृष्ण अपनी लीला को श्रीकृष्ण की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रकट करते हैं। श्रीकृष्ण की अन्तरंगा शक्ति की ह्लादिनी सामर्थ्य का तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है; श्रीकृष्ण को तत्त्व से जाने बिना उसे जानना सम्भव नहीं। श्रीकृष्ण इस प्राकृत-जगत् में लेश मात्र भी आनन्दास्वादन नहीं करते, उनकी अपनी ह्लादिनी शक्ति है। जीव श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं, अतः वह ह्लादिनी जीवों में भी है। जीव अपरा प्रकृति में उसे प्रदर्शित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जबकि श्रीकृष्ण ऐसा निष्फल प्रयास नहीं करते। भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी का विषय श्रीमती राधारानी हैं। वस्तुतः अपनी शक्ति को श्रीमती राधारानी के रूप में प्रकट करके वे उनसे प्रेम-विलास करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण इस बहिरंगा शक्ति में आनन्दास्वादन नहीं करते, अपितु अपनी अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति को श्रीमती राधारानी के रूप में प्रकट करते हैं। भाव यह है कि अपनी अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति को प्रकट करने के लिए श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानी के रूप में प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण के सब प्रकाश, अंश तथा अवतारों में यह ह्लादिनी शक्ति सर्वोत्तम और सर्वप्रधाना है।

श्रीराधारानी श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। श्रीराधारानी स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, क्योंकि शक्ति-शक्तिमान् में भेद नहीं होता। शक्ति के अभाव में शक्तिमान् का कोई अर्थ नहीं तथा शक्तिमान् से रहित शक्ति सम्भव ही नहीं। इसी प्रकार, श्रीराधा के बिना श्रीकृष्ण का कोई अर्थ नहीं तथा कृष्णरहित राधा भी निरर्थक हैं। अतएव वैष्णव दर्शन सर्वप्रथम परम-ईश्वर श्रीकृष्ण की ह्लादिनी और शक्ति की वन्दना-आराधना करता है। इसीलिए श्रीभगवान् और उनकी शक्ति को सदा "राधाकृष्ण" से सम्बोधित किया जाता

है। ऐसे ही नारायणोपासक "लक्ष्मीनारायण" कहकर प्रथम 'लक्ष्मी' नाम का उच्चारण करते हैं तथा रामोपासक पहले श्रीसीतानाम लेते हैं। इस प्रकार सीताराम, राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण— इन सबमें सर्वदा शक्ति का स्थान पहले है।

श्रीराधाकृष्ण एकतत्त्व हैं, जब भगवान् श्रीकृष्ण को आनन्दास्वादन की इच्छा होती है, तो स्वयं वे राधारूप से प्रकट होते हैं। श्रीराधाकृष्ण का दिव्य प्रेमविलास वास्तव में श्रीकृष्ण की अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति का कार्य है। यद्यपि समझाने के लिए कहा गया है कि 'जब' श्रीकृष्ण की इच्छा होती है, पर उनके इच्छा-काल का निर्धारण हम नहीं कर सकते। ऐसा हम इसीलिए कहते हैं कि बद्ध जीवन में हमारी धारणा के अनुसार सबका जन्म हुआ है, पर दिव्य जीवन आदि-अन्त से रहित है। यह समझने के लिए कि श्रीराधाकृष्ण अभिन्न हैं तथा समय-समय पर विभिन्न भी हो जाते हैं, मन में स्वत: जिज्ञासा होती है 'कब?' आनन्दास्वादन की इच्छा होने पर श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमती राधारानी के भिन्न विग्रह में प्रकट हुए तथा श्रीमती राधारानी के माध्यम से अपने रसास्वादन की कामना होने पर श्रीमती राधारानी से एक हुए। श्रीराधाकृष्ण के उस एक रूप का नाम है श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु।

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीचैतन्य महाप्रभु का रूप क्यों धारण किया? यह वर्णन किया गया है कि श्रीकृष्ण को श्रीराधारानी की प्रणय महिमा जानने की इच्छा थी। "श्रीराधारानी मुझे इतना प्रेम क्यों करती हैं?" श्रीकृष्ण विचारने लगे। "उनका आकर्षण करने वाली मेरी अद्‌भुत मधुरिमा क्या है? तथा मेरे प्रति उनके प्रेम का यथार्थ स्वरूप क्या है?" परतत्त्वस्वरूप श्रीकृष्ण का किसी के प्रेम से आकृष्ट होना आश्चर्यजनक है। हम दोषयुक्त तथा अपूर्ण हैं, इसीलिए किसी स्त्री अथवा पुरुष के प्रेम की खोज करते हैं। स्त्री के प्रेम की शक्ति और आनन्द का पुरुष में अभाव है। इसी कारण पुरुष को स्त्री की वांछा है। किन्तु आप्तकाम भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में ऐसा नहीं है। अत: श्रीकृष्ण ने विस्मय व्यक्त किया: "श्रीराधारानी के प्रति मैं आकृष्ट क्यों होता हूँ? तथा मेरे प्रेम में श्रीमती राधारानी का यथार्थ आस्वादन कैसा है?" उसी प्रेमरस के परम माधुर्य का आस्वादन करने श्रीकृष्ण सिन्धु से चन्द्रमा की भाँति प्रकट हुए। चन्द्रमा समुद्र-मन्थन से प्रकट हुआ था। उसी प्रकार श्रीराधाकृष्ण के प्रेम-विलास के मन्थन से श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यचन्द्र प्रकट हुए। वास्तव में श्रीचैतन्य महाप्रभु चन्द्रमा

के समान ही गौरवर्ण थे। यद्यपि यह आलंकारिक भाषा है, किन्तु इससे श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु के प्राकट्य का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। उनके प्राकट्य की सम्पूर्ण महिमा का आगामी अध्यायों में वर्णन होगा।

श्रीचैतन्यचरितामृत में भगवान् के प्रकाशों का भी वर्णन है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की वन्दना के उपरान्त, श्रील कृष्णदास कविराज श्रीनित्यानन्द प्रभु की वन्दना करते हैं। उन्होंने श्रीमहाविष्णु के स्रोत श्रीसंकर्षण को श्रीनित्यानन्द का अंश कहा है। श्रीबलराम श्रीकृष्ण के प्रथम प्रकाश हैं। उनसे क्रमश: श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न तथा श्रीअनिरुद्ध का प्राकट्य होता है। इस प्रकार अनेक प्रकाश हैं। ब्रह्मसंहिता के प्रमाण के अनुसार श्रीकृष्ण इन सबके आदिकारण हैं। वे उस आदि दीपक के समान हैं जिससे लाखों दीप जलते हैं। असंख्य दीपकों के प्रज्वलित हो जाने पर भी आदि दीपक का अपना आदि स्वरूप बना रहता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण विष्णुतत्त्व नामक अनेक अंशों में अपना प्राकट्य करते हैं। भगवान् श्रीविष्णु बड़े दीपक हैं और हम जीव छोटे-छोटे दीप हैं। तत्त्वत: ये सभी श्रीकृष्ण के अंश हैं।

प्राकृत ब्रह्माण्ड की सृष्टि का समय होने पर श्रीविष्णु भगवान् श्रीमहाविष्णु रूप से प्रकट होते हैं। कारण समुद्र पर शयन करते हुए इन श्रीमहाविष्णु के नासाछिद्रों से श्वास के साथ समस्त ब्रह्माण्ड बाहर प्रकट हुआ करते हैं। इस प्रकार श्रीमहाविष्णु तथा कारण समुद्र से प्रकट होकर सब ब्रह्माण्ड कारण समुद्र में तैरते हैं। इस सन्दर्भ में त्रिपाद-विस्तार करते समय अपने पैर से ब्रह्माण्डावरण का भेदन करने वाले भगवान् श्रीवामन की कथा है। उनके पदनिर्मित छिद्र से कारण समुद्र का जल प्रवाहित होने लगा। कहा जाता है वही जल-प्रवाह गंगा कहलाया। अत: परम पवित्र विष्णुजल के रूप में गंगा की मान्यता है तथा हिमालय से बङ्गदेश तक समस्त हिन्दुओं द्वारा वह पूजित है।

कारणाब्धिशायी श्रीमहाविष्णु वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रथम-प्रकाश तथा वृन्दावन लीला में श्रीकृष्ण के बड़े भाई श्रीबलराम के अंश हैं। महामन्त्र **"हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।।"** में 'राम' शब्द श्रीबलराम का सूचक है। श्रीनित्यानन्द श्रीबलराम के प्रकाश हैं। अत: 'राम' शब्द से उनका भी निर्देश है। इस प्रकार 'हरे कृष्ण, हरे राम' श्रीकृष्ण-बलराम का ही नहीं, अपितु श्रीचैतन्य-नित्यानन्द का भी सम्बोधन है।

श्रीचैतन्यचरितामृत की विषय-वस्तु इस प्राकृत सृष्टि से अतीत तत्त्व है। प्राकृत सृष्टि प्रकाश को माया कहते हैं क्योंकि उसका अस्तित्व नित्य नहीं है। कभी व्यक्त तो कभी अव्यक्त होने के कारण वह मायिक है। भगवद्गीता के निर्देशानुसार इस अनित्य अभिव्यक्ति से परे एक परा प्रकृति है —

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

"यह व्यक्त और अव्यक्त जड़ प्रकृति से परे एक अन्य प्रकृति है, जो दिव्य तथा सनातन है, यह परा तथा अविनाशी है। इस जगत् के नष्ट हो जाने पर भी उसका विनाश नहीं होता।" (गीता ८.२०)

वह परा प्रकृति व्यक्त-अव्यक्त से परे है। जन्म-मृत्यु से अतीत यही सब जीवों की देहों में प्रकाशित चेतना है। देह अपरा प्रकृति से बनी अवश्य है, किन्तु परा प्रकृति ही उसे क्रियाशील करती है। उस परा प्रकृति का लक्षण चेतना है। अतः पूर्णरूप से परा प्रकृति द्वारा निर्मित वैकुण्ठ-जगत् में सभी कुछ चैतन्य है। प्राकृत-जगत् में निर्जीव पदार्थ अचेतन हैं, वैकुण्ठ-जगत् में ऐसा नहीं है। वहाँ मेज, भूमि, वृक्षादि सभी कुछ चेतन हैं।

इस प्राकृत सृष्टि की सीमा का अनुमान नहीं किया जा सकता। प्राकृत-जगत् में सब कुछ कल्पना अथवा किसी अन्य अपूर्ण विधि द्वारा अनुमानित है। परन्तु वैदिक शास्त्र तो प्राकृत ब्रह्माण्ड से अतीत तत्त्व की भी जानकारी देते हैं। प्रयोग-ज्ञान में विश्वास करने वाले वैदिक सिद्धान्तों में सन्देह कर सकते हैं, क्योंकि वे न तो इस ब्रह्माण्ड की सीमा का ही अनुमान कर सकते हैं और न स्वयं ब्रह्माण्ड में दूर जा सकते हैं। प्रयोग विधि के द्वारा इस प्राकृत ब्रह्माण्ड से परे के तत्त्व की जानकारी नहीं हो सकती। धारणा से अतीत तत्त्व को अचिन्त्य कहते हैं। अचिन्त्य के सम्बन्ध में तर्क अथवा मनोधर्म करना व्यर्थ है। यथार्थ अचिन्त्य तत्त्व मनोधर्म अथवा प्रयोग का विषय नहीं हो सकता। हमारी शक्ति और इन्द्रिय-ज्ञान सीमित हैं। अतः अचिन्त्य तत्त्व के विषय में हमें वैदिक सिद्धान्तों पर ही निर्भर रहते हुए परा प्रकृति का ज्ञान तर्क के बिना स्वीकार करना होगा। उस विषय में तर्क कैसे किया जा सकता है, जिसमें हमारा प्रवेश ही न हो? भगवद्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने तत्त्व ज्ञान की पद्धति का उल्लेख किया है। चौथे अध्याय के प्रारम्भ में उन्होंने अर्जुन से कहा —

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

"इस अविनाशी योग का मैंने सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश किया। विवस्वान् ने मानव जाति के जन्मदाता मनु को इसकी शिक्षा दी तथा मनु ने इसे इक्ष्वाकु के प्रति कहा।" (गीता ४.१)

यह गुरु-परम्परा की विधि है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने सृष्टि के आदि जीव ब्रह्मा के हृदय में ज्ञान का संचार किया। ब्रह्माजी ने यही शिक्षा नारद मुनि को दी तथा नारदजी ने इसे अपने शिष्य व्यासदेव को दिया। व्यासदेव से मध्वाचार्य को ज्ञान हुआ। मध्वाचार्य से श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने तथा श्रीमाधवेन्द्र पुरी से श्रीईश्वर पुरी ने उसे ग्रहण कर भगवान् श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु को प्रदान किया।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण हैं, तो उन्हें गुरु की क्या आवश्यकता ? निःसन्देह उन्हें गुरु की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु आचार्य (निज आचरण से शिक्षा देने वाले) के रूप में उन्होंने परम्परानुसार गुरु-पादाश्रय ग्रहण किया। इस प्रकार श्रीभगवान् लोगों के लिए आदर्श स्थापित करते हैं। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि अल्पज्ञ होने के कारण वे गुरु-शरण लेते हैं। वे तो केवल गुरु-परम्परा अंगीकार करने को महत्त्वपूर्ण सिद्ध कर रहे हैं। उस गुरु-परम्परा का ज्ञान वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण से आता है। अक्षुण्ण रूप में अवतरित होने पर ही ज्ञान पूर्ण होता है। यद्यपि ज्ञान-प्रदाता आदि पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण से हमारा प्रत्यक्ष सान्निध्य नहीं है, किन्तु प्रसारण की इस पद्धति से गुरु द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्माजी के हृदय में दिव्य ज्ञान का संचार किया। अतः ज्ञान-प्राप्ति का एक मार्ग हृदय है। ज्ञान-प्राप्ति की दो पद्धतियाँ हैं— एक परमात्मारूप में प्राणीमात्र के अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है और दूसरी श्रीकृष्ण के प्रकाश-स्वरूप गुरु पर निर्भर करती है। इस प्रकार बाह्य और अन्तर, दोनों रूपों में श्रीकृष्ण ज्ञान का संचार करते हैं। हमें केवल उसे धारण करना है। यदि ज्ञान इस विधि से प्राप्त किया जाय तो यह महत्त्वपूर्ण नहीं रहता कि वह अचिन्त्य है अथवा नहीं।

श्रीमद्भागवत में प्राकृत ब्रह्माण्ड से अतीत वैकुण्ठ लोकों के सम्बन्ध में विशद जानकारी उपलब्ध है। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में भी प्रचुर अचिन्त्य ज्ञान है। प्रयोग विधि से इस ज्ञान की प्राप्ति का कोई भी प्रयास सम्भव

नहीं है। इस ज्ञान को इसी रूप में स्वीकार ही करना होगा। वैदिक शास्त्रों में शब्द-प्रमाण का महत्त्व है। वैदिक ज्ञान में शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि शुद्ध होने के कारण वह प्रमाण है। प्राकृत-जगत् में भी दूरभाष (फोन) अथवा आकाशवाणी (रेडियो) द्वारा सहस्रों मील दूर प्रसारित जानकारी स्वीकार की जाती है। इस प्रकार अपने दैनिक जीवन में भी हम शब्द को प्रमाणिक समझते हैं। यद्यपि सूचना देने वाले को देख नहीं सकते, पर शब्द के आधार पर उसकी सूचना को स्वीकार करते हैं। वैदिक ज्ञान के प्रसार में शब्द-प्रमाण अतिशय महत्त्वपूर्ण है।

वेद हमें सूचित करते हैं कि इस सृष्टि से परे विशाल लोक हैं और परव्योम (आध्यात्मिक आकाश) भी है। यह प्राकृत अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सृष्टि का अत्यन्त लघु अंश है। प्राकृत सृष्टि में इस ब्रह्माण्ड जैसे असंख्य ब्रह्माण्डों का समावेश है; ये सारे प्राकृत ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण सृष्टि के अंशमात्र हैं। सृष्टि का मुख्यांश परव्योम में है। वहाँ वैकुण्ठ नामक असंख्य लोकों की स्थिति है। प्रत्येक वैकुण्ठ में श्रीनारायण—श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न, श्रीअनिरुद्ध तथा श्रीवासुदेव—अपने इस चतुर्व्यूह में स्थित हैं।

पूर्व उल्लेखानुसार, प्राकृत ब्रह्माण्डों को परम-ईश्वर श्रीकृष्ण श्रीमहाविष्णु रूप से प्रकट करते हैं। जिस प्रकार सन्तान के लिए पति-पत्नी का संग होता है, उसी प्रकार श्रीमहाविष्णु अपनी पत्नी माया अथवा अपरा प्रकृति के साथ परोक्ष संग करते हैं। इसकी पुष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है:

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

"हे कौन्तेय (अर्जुन)! यह समझना चाहिए कि सभी योनियों के जीवों का जन्म इस बहिरंगा शक्ति से होता है, अर्थात् प्रकृति माता है और मैं बीज देने वाला उन सबका पिता हूँ।" (गीता १४.४)

श्रीविष्णु देखने मात्र से माया अथवा बहिरंगा प्रकृति में गर्भाधान कर देते हैं। यह दिव्य पद्धति है। प्राकृत होने के कारण हम केवल अपने एक अंग से गर्भाधान कर सकते हैं, किन्तु परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अथवा श्रीमहाविष्णु किसी भी अंग द्वारा किसी भी अंग में गर्भाधान कर सकते हैं। वे केवल अपरा प्रकृति की ओर देखकर उसके पेट में असंख्य जीवों का गर्भाधान कर सकते हैं। ब्रह्मसंहिता भी प्रमाणित करती है कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य श्रीविग्रह इतना शक्तिशाली है कि उसका

कोई भी अंग किसी भी अन्य अंग का कार्य सम्पादित कर सकता है। हम हाथ अथवा त्वचा द्वारा ही स्पर्श करने में समर्थ हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो दृष्टि से भी स्पर्श कर सकते हैं। हम नेत्रों द्वारा केवल देख सकते हैं, स्पर्श अथवा गन्ध-ग्रहण नहीं कर सकते, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण अपने अप्राकृत नेत्रों से गन्ध-ग्रहण और भोजन करने में भी समर्थ हैं। जब श्रीकृष्ण को भोग अर्पण किया जाता है तो हम उन्हें भोजन करते नहीं देखते, अन्न पर दृष्टि डालकर ही वे भोजन कर लेते हैं। वैकुण्ठ-जगत् में होने वाली क्रिया की पद्धति का हम अनुमान तक नहीं लगा सकते; क्योंकि वहाँ सब कुछ अप्राकृत है। यह नहीं कि श्रीकृष्ण कुछ खाते नहीं हैं या हम उनके द्वारा खाने की कल्पना मात्र कर लेते हैं। वे वास्तव में खाते हैं, पर उनकी भोजन-विधि हमारे खाने की विधि से भिन्न है। हमारी भोजन-विधि उनकी विधि के समान तभी होगी जब हम शुद्ध सत्त्व के स्तर पर आरूढ़ हो जाएँ। उस स्तर पर देह का प्रत्येक अंग किसी भी दूसरे अंग का कार्य कर सकता है।

सृष्टि करने के लिए भगवान् श्रीविष्णु को कुछ भी नहीं चाहिए। ब्रह्मा की उत्पत्ति के लिए उन्हें लक्ष्मीजी की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मा का जन्म श्रीविष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से होता है; लक्ष्मीदेवी तो निरन्तर उनके चरणों की सेवा में नियुक्त रहती हैं। प्राकृत जगत् में सन्तान की उत्पत्ति के लिए मैथुन अनिवार्य है, किन्तु वैकुण्ठ जगत् में पत्नी की सहायता बिना ही कितनी भी सन्तान हो सकती है। आध्यात्मिक शक्ति का कोई अनुभव न होने के कारण हम समझते हैं कि श्रीविष्णु की नाभि से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति काल्पनिक कथामात्र है। आध्यात्मिक शक्ति की 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुम्' सामर्थ्य को हम नहीं जानते। प्राकृत शक्ति कुछ नियमों पर आधारित है, जबकि अप्राकृत शक्ति सब प्रकार से स्वतन्त्र है।

ब्रह्मा की उत्पत्ति श्रीमहाविष्णु के अंश श्रीगर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से होती है। महाविष्णु के रोमों में असंख्य ब्रह्माण्ड बीज रूप में विद्यमान रहते हैं; उनके निश्वास के साथ वे सभी प्रकट होते रहते हैं। प्राकृत-जगत् में हमें ऐसा कोई अनुभव नहीं है, पर स्वेद-स्राव (पसीना निकलने) की प्रक्रिया में हम इसकी विकृत छाया का अनुभव कर सकते हैं। श्रीमहाविष्णु के एक निश्वासकाल का अनुमान तक हमारी कल्पना से परे है, क्योंकि उनके एक श्वास में ही सब ब्रह्माण्डों का सृजन-संहार हो जाता है। ब्रह्माजी का जीवन श्रीमहाविष्णु की एक श्वास तक सीमित है। हमारे ४,३२०,०००,००० वर्ष ब्रह्मा के बारह घंटे के बराबर है, इस परिणाम के अनुसार ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष है। ब्रह्माजी की यह पूर्णायु श्रीमहाविष्णु

के एक निश्वास में ही समाप्त हो जाती है। स्पष्टत: परमेश्वर श्रीविष्णु की निश्वास शक्ति का अनुमान हमारे लिए असम्भव है। वे श्रीमहाविष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के अंश-प्रकाश मात्र हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण तथा प्रभु श्रीनित्यानन्द को भगवान् श्रीकृष्ण का प्रथम प्रकाश श्रीबलराम निरूपित किया है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के ही एक अन्य प्रधान शिष्य श्रीअद्वैताचार्य श्रीमहाविष्णु के अवतार हैं। अत: श्रीअद्वैताचार्य प्रभु भी भगवान् हैं और अधिक ठीक-ठीक तो वे भगवत् अवतार हैं। उनका नाम अद्वैत है क्योंकि वे परम-ईश्वर श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। उन्हें आचार्य भी कहा जाता है। कारण; उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के समान हैं। भगवान् श्रीचैतन्य स्वयं श्रीकृष्ण हैं, किन्तु सामान्य जनता को कृष्णप्रेम की शिक्षा देने के हेतु वे भक्तरूप में अवतीर्ण हुए। इसी प्रकार, श्रीअद्वैताचार्य कृष्णभक्ति के प्रसारार्थ प्रकट हुए। इसलिए वे भक्तावतार हैं। श्रीकृष्ण का पंचरूपों में प्रकाश है, जिनमें वे अपने पार्षदों सहित परम-ईश्वर श्रीकृष्ण के भक्तरूप में अवतीर्ण होते हैं—श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीगदाधर तथा श्रीवासादि। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ही सब प्रकार से अपने भक्तों के शक्ति-स्रोत हैं। इस कारण श्रीकृष्ण-भक्ति के साधन में सफलता के लिए भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के शरणागत हो जाने पर प्रगति में कोई सन्देह नहीं रहता। ठाकुर नरोत्तमदास का एक भजन है: "हे चैतन्य महाप्रभो! मुझ पर कृपा कीजिए। आप जैसा कृपामय दूसरा कोई नहीं है, इसलिए मेरी याचना परम आवश्यक है। आपका अवतार पतितों के उद्धार के लिए हुआ है और मुझसे बढ़कर पतित कोई दूसरा नहीं है। कृपया मेरी ओर सबसे पहले ध्यान दें।"

श्रीचैतन्यचरितामृत के रचयिता श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी वृन्दावनवासी परम भागवत थे। पहले वे अपने परिवार सहित बंगाल के वर्धवान जिले में कटवा जनपद में निवास करते थे। उनके परिवार में श्रीराधाकृष्ण की आराधना होती थी। एक समय परिवार में भक्ति-सम्बन्धी विवाद होने पर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने स्वप्न में उन्हें घर त्यागकर श्रीधाम वृन्दावन जाने का आदेश दिया। वयोवृद्ध होने पर भी उन्होंने उसी रात्रि श्रीधाम वृन्दावन के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ पर निवास करते हुए उनकी भेंट श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्य, छ: गोस्वामियों से हुई। श्रीधाम वृन्दावन के भक्तों ने उनसे श्रीचैतन्यचरितामृत की रचना के लिए अनुरोध किया। यद्यपि उन्होंने यह कार्य अत्यन्त वृद्धावस्था में

प्रारम्भ किया था, पर भगवान् श्रीगौरसुन्दर की कृपा से वे उसे पूरा कर सके। आज वह भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा और जीवन-चरित पर सर्वोपरि प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी के वृन्दावनवास काल में वहाँ अधिक मन्दिर नहीं थे। उस समय श्रीमदनमोहन, श्रीगोविन्ददेव तथा श्रीगोपीनाथ ये तीन प्रधान मन्दिर थे। वृन्दावनवासी होने के कारण इन मन्दिरों में श्रीविग्रह-वन्दना कर उन्होंने भगवत्कृपा की याचना की: "प्रभो! भक्ति में मेरी प्रगति अत्यन्त मन्द है, अत: आपकी कृपा की याचना कर रहा हूँ।" श्रीचैतन्यचरितामृत में वे कृष्णभक्ति के वर्धन में सहायक श्रीमदनमोहन विग्रह की वन्दना करते हैं। श्रीकृष्णभावनामृत का प्रथम कर्त्तव्य श्रीकृष्ण तथा उनसे अपने सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना है। श्रीकृष्ण का ज्ञान ही आत्म-ज्ञान है तथा आत्म-ज्ञान ही श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का ज्ञान है। इस सम्बन्ध की शिक्षा श्रीमदनमोहन की आराधना से मिलती है। अत: श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी सबसे पहले उन्हीं से सम्बन्ध जोड़ते हैं।

इस सम्बन्ध को स्थापित कर श्रील कृष्णदास अभिधेय-विग्रह गोविन्दजी की आराधना करते हैं। श्रीगोविन्दजी श्रीधाम वृन्दावन में नित्य विराजमान हैं। श्रीवृन्दावन में प्रासाद स्पर्शमणि से रचित हैं, प्रचुर दुग्ध देने वाली सुरभि गायों, सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्षों से वह धाम परिपूर्ण है। श्रीधाम वृन्दावन में श्रीकृष्ण सुरभि गायों को चराते हैं तथा लक्ष्मीरूपा हजारों गोपियाँ उनकी आराधना में संलग्न रहती हैं। श्रीकृष्ण के प्राकृत-जगत् में अवतीर्ण होने पर, यह श्रीधाम वृन्दावन भी अवतरित होता है, उसी प्रकार जैसे किसी विशिष्ट पुरुष का परिकर उसका अनुगमन किया करता है। श्रीधाम वृन्दावन को प्राकृत-जगत् में स्थित नहीं माना जाता, क्योंकि श्रीकृष्ण के आने पर उनकी यह व्रज-भूमि उन्हीं के साथ आती है। अत: भक्त गण पृथ्वी पर स्थित गोकुल वृन्दावन का आश्रय लेते हैं क्योंकि वह आदि वृन्दावन धाम गोलोक का प्रतिरूप है। यह शंका हो सकती है कि आज वहाँ कोई कल्पवृक्ष नहीं है, किन्तु गोस्वामियों के निवासकाल में वहाँ कल्पवृक्ष थे। ऐसे वृक्ष के निकट जा कर केवल इच्छा करना पर्याप्त नहीं, अपितु पहले भक्त बनना होगा। गोस्वामी गण एक वृक्ष के आश्रय में एक रात्रि-भर रहते थे। कल्पवृक्ष उनकी सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूरा कर देते। सामान्य मनुष्य के लिए यह महान् आश्चर्य-जनक हो सकता है। पर भक्ति में प्रगति करने पर इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

श्रीधाम वृन्दावन का यथार्थ आस्वादन वही कर सकता है, जिसने

विषयों में सुखानुसन्धान करना छोड़ दिया हो। एक महाभागवत के उद्‌गार हैं, "विषयभोग की वासना से मेरा चित्त कब शुद्ध होगा, जिससे मैं श्रीधाम वृन्दावन का दर्शन कर सकूँगा?" जो जितना अधिक कृष्णभावनाभावित होकर पथ पर उन्नति करेगा, उतना ही सारा जगत् वैकुण्ठ लगने लगेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रील कृष्णदास कविराज इस वृन्दावन को परव्योम में स्थित वृन्दावन धाम के तुल्य मानते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में उनका उल्लेख है कि श्रीधाम वृन्दावन में कल्पद्रुम के नीचे शोभायमान रत्नागार सिंहासन पर श्रीश्रीराधागोविन्ददेव विराजमान हैं। वहाँ श्रीकृष्ण के प्रिय ग्वाल सखा और गोपांगनाएँ गान, नृत्य, ताम्बूल, नैवेद्यार्पण तथा पुष्पसज्जा द्वारा श्रीराधाकृष्ण की सेवा करते हैं। आज भी श्रावण मास में झूला सजाकर इस दृश्य को पुनर्जीवित किया जाता है। प्राय: उस समय लोग श्रीवृन्दावन जाकर भगवत्-विग्रह के दर्शन करते हैं।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी का दृढ़ विश्वास है कि श्रीराधागोविन्द विग्रह हमें श्रीराधाकृष्ण-सेवा की शिक्षा देते हैं। श्रीमदनमोहन विग्रह से केवल यही स्थापित होता है कि "प्रभो! मैं आपका नित्य दास हूँ।" किन्तु श्रीगोविन्दजी से सेवा की वास्तविक स्वीकृति होती है, इसलिए वे अभिधेय विग्रह हैं। श्रीगोपीनाथ गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण हैं। अपने वेणु-नाद से उन्होंने सब गोपियों को आकृष्ट किया और अपने पास आने पर उनके साथ नृत्य किया। श्रीमद्‌भागवत, दशम् स्कन्ध में इन लीलाओं का वर्णन है। ये गोपीजन श्रीकृष्ण की शैशवकालीन सखियाँ थीं। वे सभी विवाहिता थीं, क्योंकि उस समय बारह वर्ष की आयु में कन्याओं का विवाह हो जाता था, पर बालकों का विवाह अट्ठारहवें वर्ष से पूर्व नहीं होता था। श्रीकृष्ण भी जिनकी वय उस समय दस-बारह वर्ष की थी, विवाहित नहीं थे। उन्होंने इन गोपियों को घरों से बुलाकर अपने साथ नृत्य के लिए आमन्त्रित किया। वह नृत्य रासलीला कहलाता है और वृन्दावन की लीलाओं में परमोच्च है। इसी कारण श्रीकृष्ण गोपीनाथ कहलाते हैं; वे गोपीजनों के प्रियतम वल्लभ हैं।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी की कृपा की याचना करते हैं। "गोपीवल्लभकृष्ण श्रीगोपीनाथजी आप पर कृपा करें। आपको गोपीनाथजी की कृपा प्राप्त हो।" श्रीचैतन्यचरितामृतकार की प्रार्थना है कि जैसे श्रीकृष्ण ने अपने वेणुनाद से गोपियों को आकृष्ट किया है, उसी प्रकार अपने दिव्य नाद से वे पाठक का चित्त आकृष्ट करेंगे। उस नाद के सार को सरल, सुपाठ्य एवं सारांश रूप में प्रसारित करना ही 'श्रीचैतन्य-महाप्रभु का शिक्षामृत' नामक इस पुस्तक का प्रयोजन है।

अध्याय १

श्रीरूप-शिक्षा

श्रील सनातन गोस्वामी के अनुज श्रील रूप गोस्वामी अपने छोटे भाई श्रीवल्लभ के साथ प्रयागराज गए। जब उन्होंने सुना कि श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु चैतन्यदेव वहाँ निवास कर रहे हैं तो दोनों अतिशय प्रसन्न हुए और उनके दर्शन करने गए। उस समय भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु श्रीबिन्दुमाधव मन्दिर की ओर जा रहे थे। मन्दिर के मार्ग में हरिध्वनि और नृत्य करते हुए महाप्रभु का लाखों व्यक्ति अनुगमन कर रहे थे। इनमें से कुछ रुदन कर रहे थे, कुछ हँस रहे थे, कुछ नृत्य कर रहे थे, कुछ गा रहे थे, तो कुछ प्रभु को दण्डवत् प्रणाम कर रहे थे। वे सभी परम पवित्र कृष्णनाम का तुमुल उद्घोष कर रहे थे। जनश्रुति है कि गंगा-यमुना के संगम पर स्थित होते हुए भी प्रयाग में भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के समय तक कभी बाढ़ नहीं आई थी। किन्तु श्री श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु के अवतीर्ण होने पर तो वहाँ भक्ति की ऐसी बाढ़ आई कि सारा प्रयाग ही कृष्णप्रेम-पारावार में निमग्न हो गया।

दोनों भाई, श्रीरूप और श्रीवल्लभ जनसमूह से अलग एकान्त में खड़े होकर उस महान् जन-समुदाय और अद्भुत दृश्य को देखने लगे। नृत्य करते समय ऊर्ध्वबाहु होकर भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु "हरिबोल! हरिबोल!" की तुमुल ध्वनि कर रहे थे। उनके चारों ओर एकत्रित व्यक्ति उनकी अद्भुत क्रियाओं से चमत्कृत थे। मन्दिर में दर्शन के पश्चात् श्रीगौर-सुन्दर महाप्रभु ने एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण के घर प्रसाद ग्रहण किया। इन्हीं ब्राह्मण के घर में श्रील रूप तथा श्रीवल्लभ उनका दर्शन करने गए। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु को विराजमान देखकर दूर से ही दोनों भाइयों ने दण्डवत्-प्रणाम किया तथा अनेक वैदिक श्लोकों से वन्दना की। श्रीमन्महाप्रभु ने जब देखा कि श्रील रूप गोस्वामी प्रणाम कर रहे हैं, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने श्रीरूप गोस्वामी को भूमि से उठने को कहा।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी को सूचित किया कि उन पर (श्रीरूप पर) श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा बरस रही है, क्योंकि कुछ ही समय पूर्व श्रीकृष्ण ने उन्हें विषयभोगमय जीवन से मुक्त किया था।

श्रीमन्महाप्रभु ने दोनों भाइयों को अपने भक्त के रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने एक श्लोक पढ़ा जिसके अनुसार यह सम्भव है कि एक चतुर्वेदी ब्राह्मण को भगवान् अपने भक्त-रूप में स्वीकार नहीं करें और चाण्डाल होने पर भी एक सच्चे भक्त को निज दास बना लें। इसके उपरान्त श्रीमन्महाप्रभु ने दोनों भाइयों का आलिंगन किया तथा अनपायिनी कृपा के कारण अपने चरणारविन्द से उनके सिर पर स्पर्श किया। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु की कृपा प्राप्त कर दोनों ने अपने शब्दों में श्रीमहाप्रभु की वन्दना की। उनकी प्रार्थना से स्पष्ट था कि श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने कृष्णचैतन्यदेव नाम से तप्तकांचन गौरांग-रूप धारण किया है। वे श्रीकृष्ण के महावदान्य अवतार हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ कृष्णप्रेम वितरण कर रहे हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने गोविन्दलीलामृत (१.२.) का एक श्लोक भी उद्धृत किया—

योऽज्ञानमत्तं भुवनं दयालुरुल्लाघयन्नप्य करोत् प्रमत्तम्।
स्वप्रेम सम्पत्सुधयाद्भुतेहं श्रीकृष्णचैतन्यममुं प्रपद्ये॥

"श्रीगौरसुन्दर कृष्णचैतन्य महाप्रभु सर्वाधिक करुणामय परम पुरुष स्वयं भगवान् हैं। वे अज्ञान-निमग्न जीवों का उद्धार करते हैं तथा सर्वोत्तम वस्तु—कृष्णप्रेम—प्रदान कर उन्हें कृष्णभावना-उन्मत्त कर देते हैं। मैं उनके चरणारविन्द की शरण लेता हूँ।"

इसके उपरान्त श्रीवल्लभ भट्ट के निमन्त्रण पर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु गंगा के दूसरे तट पर गए। उस क्षण से श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु जहाँ भी जाते श्रीरूप गोस्वामी उनका अनुगमन करते और उनके साथ निवास करते। श्रीमन्महाप्रभु को भीड़-भाड़ अप्रिय थी। अतः उन्होंने श्रीरूप गोस्वामी को अपने साथ गंगा के दशाश्वमेध घाट पर चलने की आज्ञा दी। दस दिन तक कृष्णतत्त्व, भक्ति-सिद्धान्त तथा श्रीकृष्ण से दिव्य रस-तत्त्व के विषय में उन्होंने श्रीरूप गोस्वामी को शिक्षा प्रदान की। इन सभी विषयों का सांगोपांग वर्णन किया गया, जिससे भविष्य में श्रीरूप अपने ग्रन्थ श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु द्वारा कृष्णविद्या का वितरण कर सकें। श्रील रूप गोस्वामी ने इस घटना का उल्लेख कर श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के प्रथम श्लोक में श्रीमन्महाप्रभु की अहैतुकी कृपा का वर्णन किया है।

परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण परमचेतन तथा सर्वशक्तिमान् हैं एवं अपनी अहैतुकी कृपा से वे जीव को अपनी कृपाप्राप्ति की सामर्थ्य देते हैं। बद्ध अवस्था के कारण अधिकांश व्यक्ति कृष्णभक्ति तथा कृष्णभावना से विमुख हैं। वास्तव में मनुष्यों में अधिकतर ऐसे ही हैं जो भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध तथा जीवन के परम लक्ष्य, भगवत्-प्राप्ति सम्बन्धी कृष्ण-भक्ति की प्रधान शिक्षाओं को नहीं जानते। यही नहीं, वैकुण्ठ की लौटने की पद्धति का भी उन्हें ज्ञान नहीं है। बद्ध जीवों को इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों का ज्ञान कराने के लिए श्रीमहाप्रभु ने अपनी अहैतुकी कृपा से श्रीरूप गोस्वामी को भक्ति-सिद्धान्तों की शिक्षा प्रदान की। बाद में, मानव-समाज के कल्याण हेतु श्रील रूप गोस्वामी ने उसी भक्ति-विद्या का प्रसार-प्रचार किया।

अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीभक्तिरसामृतसिंधु' के प्रारम्भ में श्रीरूप गोस्वामी ने लिखा है—

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्देवस्य॥

"हृदय में जिनसे प्रेरणा पाकर मैं इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रवृत्त हो रहा हूँ, उन परम-ईश्वर स्वयं भगवान् हरिस्वरूप श्रीगौरसुन्दर श्रीचैतन्यदेव के चरणारविन्द की वन्दना करता हूँ।"

श्रीरूप गोस्वामी को शिक्षा प्रदान करने से पूर्व श्रीमहाप्रभु ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, "प्रिय रूप! भक्ति-विज्ञान एक असीम सिंन्धु जैसा है, जिसका ओर-छोर पाना असम्भव है। फिर भी उसमें से एक बिन्दु लेकर मैं उस सागर का वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा। इस प्रकार उसका आस्वादन कर तुम यह जान जाओगे कि भक्तिरसामृत-सिन्धु का स्वरूप वस्तुतः क्या है।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने बताया कि इस ब्रह्माण्ड में असंख्य जीव हैं जो अपने कर्मफल के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि में और एक लोक से अन्य लोकों में निरन्तर देहान्तर कर रहे हैं। इस प्रकार प्राकृत-जगत् के बन्धन में वे अनन्तकाल से बँधे पड़े हैं। ये जीव वस्तुतः परमात्मा के परमाणु भिन्न-अंश हैं। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि एक जीवात्मा का माप केश की नोक के१०,०००वें भाग जितना है। अर्थात्, जीवात्मा इतनी सूक्ष्म है कि दृष्टिगोचर नहीं हो पाती। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस तथ्य का प्रमाण है। श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध में एक महान् यज्ञ की पूर्ति पर सनन्दन कुमार ने यह प्रार्थना की, "हे परम सत्यस्वरूप भगवन्!

जीव यदि आप परमात्म-स्वरूप के सूक्ष्म अंश नहीं होते, तो प्रत्येक जीव सर्व-व्यापक एवं ईश्वरीय शक्ति से स्वतन्त्र होता। किन्तु यदि जीव को परमात्मा का लघु अंश स्वीकार किया जाय, तो ईश्वरीय शक्ति द्वारा उसका शासन स्वयमेव सिद्ध हो जाएगा। वस्तुतः यही स्वाभाविक स्थिति है और इसी में स्थित रह कर वह पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है।'' (भा. १०.८७.३०) यदि कोई भ्रान्तिपूर्वक अपनी स्थिति को स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के बराबर मानने लगे तो अद्वैत-सिद्धान्त से दूषित होने के कारण वह भक्तिमार्ग से गिर जाएगा, उसके भगवत्प्राप्ति सम्बन्धी प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होंगे।

श्रीमद्‌भागवत की इन शिक्षाओं की व्याख्या करते हुए श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने जीवों के दो भेदों का उल्लेख किया—नित्यमुक्त तथा नित्यबद्ध। नित्यबद्ध जीव भी दो प्रकार के हैं—चर और अचर। वृक्षादि जीवों की अचर संज्ञा है। पक्षी और पशु जैसे चलायमान जीवों को जंगम कहा जाता है। इनकी भी तीन उपश्रेणियाँ हैं—नभ, जल तथा थलचारी। थलचारी करोड़ों जीवों के अति लघु अंश के रूप में मनुष्य है। मानव समाज में भी अधिकांश मानव परमार्थ से बिलकुल अनभिज्ञ, दुराचारी तथा घोर नास्तिक हैं। सारांश में, अधिकतर मनुष्य पशु के समान जीवनयापन कर रहे हैं। इसका अनुमान मानव अथवा सभ्य समाज के सदस्यों की संख्या से लगाया जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि शास्त्र अथवा ईश्वर के अस्तित्व अथवा केवल सदाचार में भी विश्वास रखने वाले थोड़े से मनुष्य भी मिलने बड़े कठिन हैं। इनके महत्त्व में विश्वास रखने वाले 'आर्य' हैं। 'आर्य' शब्द से परमार्थ के विकास में श्रद्धावान् मनुष्य इंगित हैं। इनमें भी दो वर्ग हैं—सदाचारी और दुराचारी। सदाचारी सामान्यतः इन्द्रियसुख की प्राप्ति के लिए सकाम कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। इन्द्रियतृप्ति के निमित्त सत्कार्यों में प्रवृत्त रहने वाले ऐसे व्यक्तियों में बहुत थोड़े परम सत्य का ज्ञान पाते हैं। इन्हें ब्रह्मवादी ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे हजारों ज्ञानियों में बहुत थोड़े ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। सिद्धान्त के अनुसार मुक्तावस्था में मुक्तजीव को प्राकृत तत्त्वों से अतीत अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। केवल सिद्धान्त रूप में इस मत को मानने वाले जीव को भी मुक्त कहा जा सकता है; पर वास्तव में मुक्त वही है जो भगवान् के नित्यदास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप को जान ले। ऐसे मुक्त जीव श्रद्धा और भक्ति सहित भगवत् सेवा में तत्पर रहते हैं और कृष्णभक्त कहलाते हैं।

कृष्णभक्तों में भोगवासना का अभाव रहता है। केवल सिद्धान्त रूप में

प्रकृति से परे अपने आत्म-स्वरूप को जानने वाले जीवों की गणना **भी मुक्त जीवों के वर्ग में की जाती है,** पर उनमें भोग-वासना बनी रह सकती है। **भगवान् का सायुज्य प्राप्त** करना ही उनकी मुख्य अभिलाषा है। ऐसे व्यक्ति सामान्यत: प्राकृत सुख-समृद्धि के उपभोग के लिए वैदिक कर्मकाण्ड तथा पुण्यकर्मों में संलग्न रहते हैं। उनमें से कुछ प्राकृत-सुखोपभोग का लंघन कर परव्योम में प्रवेश भी कर लेते हैं, परन्तु भगवान् के सायुज्य को प्राप्त हो कर अपने सुखोपभोग को वे बनाए रखना चाहते हैं। उनमें से कुछ योगाभ्यास द्वारा यौगिक सिद्धियों की प्राप्ति के भी इच्छुक होते हैं। जब तक **हृदय में ये इच्छाएँ रहती हैं, तब तक कोई भी शुद्धभक्ति का** स्वरूप नहीं समझ सकता। इनसे उद्विग्न चित्त वाला कभी शान्त नहीं रह सकता। वास्तव में जब तक प्राकृत सिद्धि की कोई भी इच्छा विद्यमान है, तब तक मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती। श्रीकृष्णभक्त कुछ भी लौकिक कामना नहीं करते; अत: प्राकृत-जगत् में शान्त पुरुष केवल वे ही हैं। श्रीमद्भागवत से प्रमाणित है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

"हे महामुने! लाखों-लाखों मुक्तों एवं सिद्ध योगियों में भी भगवान् श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) के परायण रहने वाले पूर्ण शान्त जन सुदुर्लभ हैं।" (भा. ६.१४.५)

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने वर्णन किया कि प्राकृत-जगत् में भटकते असंख्य जीवों में किसी एक बिरले परम सौभाग्यशाली जीव को परम करुणामय श्रीकृष्ण तथा गुरु की अनपायिनी कृपा से भक्तिलता का बीज प्राप्त होता है। सामान्यत: पुण्यात्मा और धार्मिक व्यक्ति मन्दिरों में विभिन्न देव-अर्चा-विग्रहों की अर्चना करता है। किन्तु यदि अवसर मिलने पर अनजाने में भी वह कभी भगवान् श्रीविष्णु की वन्दना करे अथवा भगवद्भक्त (वैष्णव) की कृपा प्राप्त कर ले तो अविलम्ब भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। भागवत में देवर्षि नारद के जीवन-चरित से यह पूर्ण रूप में स्पष्ट है। पूर्वजन्म में वैष्णवसेवा के फलस्वरूप विष्णु-भक्तों की कृपा से ही नारद महामुनि बन सके। वस्तुत: ऋषियों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

वैष्णव भक्त बद्ध जीवों पर स्वभाववश द्रवित होकर कृपा करते हैं। बिना बुलाए भक्त द्वार-द्वार जाकर लोगों को जाग्रत करता है तथा श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में जीव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान देकर अविद्या के

अन्धकार से उनका उद्धार करता है। ऐसे भक्तों को जनता में कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए भगवान् अपनी विशेष शक्ति प्रदान करते हैं। भगवान् से आदेश-प्राप्त प्रामाणिक आचार्यों की कृपा से बद्धजीवों को भक्तिलता का बीज मिलता है। भगवान् श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा का प्रथम अनुभव तब होता है जब किसी ऐसे योग्य गुरु का साक्षात्कार हो, जो बद्धजीव को भक्ति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ करने में समर्थ हो। इसी कारण श्रीमहाप्रभु ने कहा है कि गुरु-कृपा से जीव अहैतुकी भगवत् कृपा पाता है तथा भगवत् कृपा से गुरु की कृपा प्राप्त होती है।

इस प्रकार गुरु और श्रीकृष्ण की कृपा से जीव को भक्तिलता का बीज मिलता है। जीव को तो केवल एक माली की भाँति उस अमूल्य बीज को अपने हृदय-क्षेत्र में आरोपित करना है। बोने के बाद भगवन्नाम के श्रवण-कीर्त्तन या भगवच्चर्चा रूपी जल से उसे सींचना होगा। भक्ति के बीज से अंकुरित हुई भक्तिलता निर्बाध बढ़ती है। पूर्ण बढ़ जाने पर इस ब्रह्माण्ड को फोड़ कर वह उस परव्योम में पहुँचती है जहाँ सब कुछ ब्रह्मज्योति के तेज से प्रकाशित है। भक्तिलता इस ब्रह्मज्योति का भी लंघन करके क्रमशः गोलोक वृन्दावन नामक परमधाम में प्रविष्ट होती है। वहाँ वह भक्तिलता श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण लेती है। यही भक्ति का चरम लक्ष्य है। इस स्थिति (कृष्ण-शरण) की प्राप्ति के बाद उस भक्तिलता में भगवत्प्रेम रूपी फल लगता है। किन्तु दिव्य माली (भक्त) के लिए श्रवण-कीर्त्तनरूपी जल से भक्तिलता को नित्य सिंचित करना अनिवार्य है। श्रवण-कीर्त्तनरूपी जल के अभिसिंचन के बिना भक्तिलता का सूख जाना बहुत सम्भव है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी को भक्तिलता को सींचते समय उपस्थित होने वाले भय का संकेत किया। लता के कुछ बढ़ने पर कोई पशु उसे खा अथवा नष्ट कर सकता है। पशु द्वारा हरे-हरे पल्लव खाए जाने पर लता सामान्यतः निष्प्राण हो जाती है। सर्वाधिक भयावह पशु पागल हाथी है, क्योंकि यदि वह किसी उद्यान में प्रवेश कर जाए तो पेड़-पौधों को अत्यन्त हानि पहुँचाता है। भगवान् के शुद्धभक्त का अपराध वैष्णवापराध पागल हाथी जैसा ही भयावह है। शुद्धभक्त के चरणारविन्द के विरुद्ध किया अपराध भक्तिमार्ग में महान् उत्पात का कारण हो सकता है। अतः कनिष्ठ भक्त को भक्तिलता का पोषण करते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिए, साथ ही अपराधों से भी बचना चाहिए। यदि वह सावधान रहे तो लता ठीक प्रकार से फलित होगी।

श्रीभगवन्नाम के जप में दस अपराध बन सकते हैं। पहला अपराध

भगवन्नाम की पवित्र कीर्ति को विश्व-व्यापी बनाने वाले महाभागवतों की निन्दा करना है। कृष्णनाम का विश्वभर में प्रचार करने वाला श्रीकृष्ण का अतिशय प्रेमपात्र है क्योंकि कृष्णनाम श्रीकृष्ण से अभिन्न है। दूसरा अपराध भगवान् विष्णु को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार न करना है। भगवान् के नाम, गुण, रूप, लीलादि में कुछ भी भेद नहीं है। इनमें भेद मानना अपराध है। श्रीभगवान् सर्वोपरि हैं, कोई भी उनके समान अथवा उनसे उत्तम नहीं है। अत: उनके तथा देवताओं के नामों में अभेद मानने वाला अपराधी है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य देवों को समान नहीं मानना चाहिए।

तीसरा अपराध गुरु को सामान्य मनुष्य समझना है। चौथा अपराध वैदिक शास्त्रों तथा पुराणादि प्रामाणिक ग्रन्थों की निन्दा है। पाँचवा अपराध नाम-महिमा को अर्थवाद समझना है। छठा अपराध है भगवन्नाम को कल्पित मानना। सातवाँ अपराध है भगवन्नाम के बल पर पाप करना। यह सत्य है कि भगवन्नाम का उच्चारण करने वाला पाप-मुक्त हो जाता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसी बल पर पापाचरण करता जाए। यह अपराध सर्वोपरि माना गया है। आठवाँ अपराध है कर्मकाण्ड, त्याग, यज्ञ तथा अन्य प्रकार के त्यागों को भगवन्नाम-कीर्त्तन के तुल्य मानना। भगवन्नाम कीर्त्तन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का सान्निध्य है। पुण्य कर्म केवल श्रीभगवान् की प्राप्ति के साधन मात्र हैं; इसके अतिरिक्त, वे लौकिक कामना से भी प्रेरित हो सकते हैं। नौवाँ अपराध श्रवण की इच्छा से रहित श्रद्धाहीन मनुष्य से भगवन्नाम-कीर्ति का वर्णन। दसवाँ और अन्तिम अपराध है हरिनाम का श्रवण-कीर्त्तन करते हुए भी विषय-आसक्ति बनाए रखना। सारांश में, अपराधरहित भगवन्नाम-कीर्त्तन से मुक्तावस्था प्राप्त होती है। मुक्तावस्था में जीव सब प्रकार की प्राकृत आसक्तियों से अपने आप मुक्त हो जाता है। इसलिए यदि हरिनाम-कीर्त्तन करने पर भी किसी में आसक्ति बनी रहे तो अवश्य ही वह कोई न कोई नाम-अपराध कर रहा है।

कुछ अन्य कारण भी भक्तिलता में मार्ग में उत्पात करते हैं। भक्तिलता के साथ-साथ लौकिक कामना रूपी घास-पात उग आती है। यह स्वाभाविक है कि भक्तिपथ पर प्रगति करने वाले के पास बहुत-से व्यक्ति शिष्य बनने अथवा कुछ प्राकृत सुख-साधन स्वीकार करने की प्रार्थना करने आते हैं। यदि वह शिष्यों की बड़ी संख्या से अथवा उनके द्वारा दिए प्राकृत सुखों के प्रति आकृष्ट होकर गुरु के रूप में अपने कर्त्तव्य को भूल बैठता है तो

भक्तिलता की वृद्धि रुक जाती है। प्राकृत सुख-साधनों का लाभ लेने मात्र से उनमें प्रबल आसक्ति का हो जाना सम्भव है।

मुक्ति की कामना भी हानिप्रद मानी गई है। एकमात्र भक्तिपूर्ण सेवा करने की इच्छा ही होनी चाहिए। यही नहीं प्रमादपूर्वक विधि-निषेध का अतिक्रमण भी हानिकर है। प्रामाणिक शास्त्रों में निम्नलिखित निषेध हैं—व्यभिचार, मद्यपान, मांसाहार तथा जुआ। साधक के लिए इनका पूर्ण निषेध है। इन सिद्धान्तों का पूर्णत: पालन न करने पर भक्ति-साधना में महान् व्यवधान उपस्थित हो सकता है।

विशेष सावधानी के अभाव में भक्तिलता को जल द्वारा सींचने से अनावश्यक घास-पात भी उग आएगी, जो उसकी प्रगति में बाधक सिद्ध होगी। देखा जाता है कि किसी उद्यान में जल देने से केवल इच्छित पौधे ही नहीं बढ़ते, अपितु घास-पात भी बढ़ते जाते हैं। यदि माली इन विघ्नों को देखकर निर्मूल न करे, तो वे अवश्य भक्तिलता पर अधिकार करके उसे सुखा डालेंगे। किन्तु यदि साधक सावधानी से अनावश्यक घास को बढ़ने न दे, तो भक्ति रूपी लता निर्बाध बढ़ती हुई शीघ्र परम लक्ष्य गोलोक वृन्दावन की प्राप्ति कर लेती है। भक्तिमय सेवा में संलग्न जीव जब भगवत्-प्रेम रूपी परम रसमय फल का आस्वादन करता है, तब वह सब कर्मकाण्ड तथा आर्थिक उन्नति को भूल जाता है। इसके बाद न तो उसे निजेन्द्रिय सुख की अभीप्सा रहती है और न वह परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की ज्योति से एक होना चाहता है।

अध्यात्म ज्ञान तथा दिव्य आनन्द के अनेक स्तर हैं। एक स्तर पर वेद द्वारा कहे गए कर्मकाण्ड के यज्ञ, त्याग, सत्कर्म तथा योगाभ्यास हैं। ये सभी कर्म कर्त्ताओं को विभिन्न फल देने वाले हैं। इन सभी अभ्यासों के फल तभी तक चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं जब तक भगवत्-सेवा के दिव्यातिदिव्य स्तर की प्राप्ति नहीं होती। भगवत्प्रेम सुप्त रूप से जीवमात्र में विद्यमान है। उसे शुद्ध भक्ति के अभ्यास से जाग्रत किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार से जैसे सर्प द्वारा डसे व्यक्ति को क्षार से जगाया जाता है। भक्ति पर इस प्रकार बोलने के अनन्तर श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी को भगवत्-भक्ति एवं भक्ति के लक्षणों का वर्णन सुनाया। उन्होंने कहा कि शुद्ध भक्ति में श्रीकृष्ण-भावनामृत में उन्नति करने के अतिरिक्त अन्य इच्छाएँ शेष नहीं रह सकतीं। देवपूजन अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के अन्य स्वरूप की उपासना, मनोधर्म या सकाम कर्म आदि के लिए शुद्ध भक्ति में कोई स्थान नहीं होता है। भक्त को

इन सभी दूषणों से मुक्त होना होगा। भक्त के लिए केवल वे ही वस्तुएँ ग्राह्य हैं, जो शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक हों। शरीर की आवश्यकताओं को बढ़ाने वाले अन्य पदार्थों को त्याग देना चाहिए। अतः शरीर धारण की मूलभूत वस्तुओं को ही स्वीकार करना चाहिए। शारीरिक आवश्यकताओं को कम से कम कर लेने के द्वारा, श्रीहरिनाम कीर्त्तन के माध्यम से श्रीकृष्ण-भावनामृत के उदय में, समय का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। शुद्ध भक्ति का अर्थ सारी शारीरिक इन्द्रियों से निरन्तर भगवत्-सेवा करना है। इस समय हमारी सब इन्द्रियाँ उपाधियुक्त हैं, क्योंकि शरीर ही उपाधियुक्त है। परिणामतः हम समझते हैं कि यह शरीर किसी समाज, देश अथवा परिवार विशेष का है। इस प्रकार शरीर कितनी ही उपाधियों से बँधा हुआ है। इसी कारण शरीर की इन्द्रियाँ भी अनेक उपाधियों के बन्धन में पड़ जाती हैं और परिवार, समाज, देशादि के लिए व्यस्त रहती हैं। इस प्रकार व्यस्त होने पर वे श्रीकृष्णभावनामृत के उदय में सहायक नहीं हो सकतीं। इन इन्द्रियों को शुद्ध करना है। यह तभी होगा जब जीव शुद्ध रूप से समझ जाएगा कि वह केवल श्रीकृष्ण का है तथा उसका जीवन केवल श्रीकृष्ण के सेवार्थ है। भक्त को अपना स्वरूप श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में देखना चाहिए। इस प्रकार वह अपनी इन्द्रियों को भगवत्-सेवा में नियुक्त कर सकता है। ऐसी क्रिया ही विशुद्ध भक्ति कहलाती है।

शुद्धभक्त को दिव्य प्रेममयी भगवत्-सेवा ही चाहिए। निज इन्द्रिय-तृप्ति-प्रदायक सब प्रकार के मोक्षों को वह त्याग देता है। श्रीमद्भागवत (३.२९.११-१३) में भगवान् कपिल ने कहा है कि शुद्ध भक्त के कान में जैसे ही अन्तर्यामी परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की कीर्त्ति तथा दिव्य गुणावली प्रवेश करती है, तत्क्षण उसकी मनोवृत्ति प्रभु की ओर उसी प्रकार प्रवाहित होने लगती है जैसे गंगाजल समुद्र की ओर स्वाभाविक रूप से बहता रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में ऐसा स्वाभाविक आकर्षण शुद्ध भक्ति में सर्व प्रधान है। भगवत्-भक्ति को शुद्धा तभी कहा जाता है जब हम प्राकृत बाधाओं से अप्रभावित रह कर निष्काम भाव से भगवत्-सेवा में संलग्न रहें। शुद्धभक्त सालोक्य (भगवान् के समान लोक), सार्ष्टि (भगवान् के समान ऐश्वर्य), सारूप्य (भगवान् के समान रूप), सामीप्य (भगवान् के समीप निवास) अथवा सायुज्य (भगवान् में लीन होने) की इच्छा नहीं रखता। भगवान् के देने पर भी वह उन्हें त्याग देता है। भक्त वास्तव में भगवान् की प्रेममयी सेवा-कार्य में निरन्तर इतना संलग्न

रहता है कि इस कार्य के अतिरिक्त किसी अन्य लाभ के विषय में सोचने का उसे अवकाश ही नहीं होता। जिस प्रकार एक साधारण सांसारिक व्यापारी कार्य में व्यस्तता के समय अन्य कुछ नहीं सोचता, उसी भाँति भगवत्सेवा-परायण भक्त उस सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सोच पाता।

भगवत्-सेवा में ऐसी तन्मयता को प्राप्त भक्त को भक्ति के परम शिखर पर आरूढ़ समझना चाहिए। ऐसी दिव्य भक्ति (प्रेममयी भगवत्-सेवा) के द्वारा ही माया के प्रभाव से मुक्त होकर भगवत्-प्रेम के परम विशुद्ध रस का आस्वादन सम्भव है। जब तक भुक्ति, मुक्ति की वासना रूपी मायावी पिशाचियाँ हृदय में बैठी हैं, तब तक कोई भी भक्तिजनित परम दिव्य प्रेममयी भगवत्-सेवा का रसास्वादन नहीं कर सकता।

भगवत् भक्ति की तीन श्रेणियाँ हैं—भक्ति के उदय की प्रारम्भिक श्रेणी, द्वितीय—भगवत्-सेवा की सिद्धि एवं अन्त में भगवत्-प्रेम-प्राप्ति। भगवत् भक्ति के उदय की विधियाँ नौ हैं। जैसे—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि। प्रथम श्रेणी में इन सभी विधियों का उपयोग किया जाता है। श्रद्धा-भक्ति सहित श्रवण तथा कीर्त्तन करने से प्राकृत अनर्थों की शनैः शनैः निवृत्ति हो जाती है। जैसे-जैसे भक्त का विश्वास भक्ति में बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे ही वह उच्चतर सिद्धावस्था की प्राप्ति में आश्वस्त होता जाएगा। इस प्रकार वह भक्ति से दृढ़तापूर्वक युक्त हो कर तथा अपनी भक्ति विषयक रुचि का परिवर्धन करके भक्ति का आकर्षण तथा परमानन्दानुभूति प्राप्त कर सकता है। यह भक्ति-जनित आनन्द का अनुभव भगवत्-प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में ही होने लगता है। फिर निरन्तर श्रवण-कीर्त्तन से भाव परिवर्धित हो कर भगवत्प्रेम का नाम धारण कर लेता है।

तृतीय श्रेणी में दिव्य भगवत्प्रेम की प्राप्ति होने पर, क्रमशः राग, अनुराग, भाव तथा अन्त में परमोच्च महाभाव की प्राप्ति होती है। इन अवस्थाओं में क्रमशः उन्नति गन्ने के रस के घनीभूत होने के समान है। सर्वप्रथम, गन्ने का रस द्रव रूप में होता है। वाष्पीकरण से खाँड में बदल जाता है; तथा अन्त में अत्यन्त घनीभूत होकर शर्करा (शक्कर) आदि बन जाता है। जिस प्रकार गन्ने का रस एक से दूसरी अवस्था में उन्नत होता है, उसी प्रकार दिव्य भगवत्प्रेम विभिन्न अवस्थाओं में क्रमशः उन्नतोज्ज्वल होता जाता है।

वस्तुतः भक्ति के शुद्ध सत्त्व में आरूढ़ होने पर ही स्थिर रहना सम्भव है। अन्य स्तरों पर स्थिति सुदृढ़ नहीं हो सकती, वहाँ से गिर जाना सम्भव है।

भक्ति के दिव्य स्तर पर स्थित हो जाने पर पतन का भय सर्वथा समाप्त हो जाता है। इस स्थिति को "स्थायीभाव" कहते हैं। इससे भी श्रेष्ठ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी आदि अनेक स्थितियाँ हैं। इनकी प्राप्ति के उपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण के साथ रस-आस्वादन अथवा दिव्य-क्रीड़ा होती है। प्रेमी-प्रियतम में ऐसा पारस्परिक प्रेममय विनिमय सामान्यत: कृष्णभक्तिरस कहलाता है। यह स्मरणीय है कि दिव्य प्रेमरस-विनिमय पूर्व वर्णित स्थायीभाव की दृढ़ भूमि पर स्थित है। विभाव का मूल सिद्धान्त स्थायीभाव है तथा अन्य सभी क्रीड़ाएँ भगवत्प्रेम की वृद्धि में सहायक हैं, अर्थात् संचारी भाव हैं।

दिव्य भगवत्प्रेम रूपी विभाव के दो अंग हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन के दो भेद हैं—आश्रयालम्बन और विषयालम्बन। कृष्णरति के विषयालम्बन श्रीकृष्ण हैंतथा आश्रयालम्बन श्रीकृष्ण-भक्तिरस है। श्रीकृष्ण के दिव्य गुण उद्दीपन हैं; श्रीकृष्ण की दिव्य गुणावली श्रीकृष्ण-सेवा के लिए भक्त को प्रोत्साहित करती है। निराकारवादी (मायावादी) दार्शनिक कहते हैं कि परम सत्य निर्गुण है, किन्तु वैष्णव आचार्यों का कथन है कि परम सत्य को निर्गुण कहने का कारण उसमें प्राकृत गुणों का न होना है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसमें दिव्य गुण भी नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि श्रीश्यामसुन्दर के दिव्य गुण इतने अनन्त तथा मनमोहक हैं कि आत्मारामों को भी आकृष्ट कर लिया करते हैं। इसका वर्णन श्रीमद्भागवत के 'आत्माराम' श्लोक में है। उस श्लोक के अनुसार आत्मज्ञानी मुनि भी श्रीकृष्ण के अप्राकृत गुणों से आकृष्ट हो जाया करते हैं। अत: निस्सन्देह श्रीकृष्ण के गुण मायिक न हो कर परम विशुद्ध तथा चिन्मय हैं।

अनुभाव (भाव की उच्च अवस्था) के तेरह लक्षण हैं— (१) नृत्य, (२) भूमि पर लोटना, (३) गाना, (४) उच्च स्वर से पुकारना, (५) अंगड़ाई लेना, (६) हुंकार भरना, (७) जँभाई लेना, (८) लम्बे श्वास छोड़ना, (९) लोक लज्जा-त्याग, (१०) लार टपकाना, (११) अट्टहास, (१२) चक्कर आना, (१३) हिचकी आना। इन सारे के सारे लक्षणों का एक साथ उदय नहीं होता। श्रीकृष्ण-सम्बन्धी विभिन्न दिव्य रसों के अनुसार ही ये प्रकट होते हैं। किसी समय एक लक्षण प्रमुख रहता है तो कभी दूसरा।

श्रीकृष्ण-विषयक दिव्य रस पाँच हैं। प्रारम्भिक रस है शान्त रति। इसमें जीवन्मुक्त पुरुष परम पुरुषोत्तम भगवान् के ऐश्वर्य का आस्वादन

करता है। इस अवस्था को प्राप्त भक्त भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में भली भाँति संलग्न नहीं हो पाता, कारण—यह तटस्थ अवस्था है। दास्य रति नामक द्वितीय अवस्था में भक्त भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी स्थिति का आस्वादन करता है। उसे ज्ञात रहता है कि वह नित्य भगवान् की अहैतुकी कृपा पर आश्रित है। साथ ही, इस स्तर पर राग का स्वाभाविक उदय प्रारम्भ होता है जैसा कि बड़े होने पर पिता के उपकारों को समझने पर पुत्र में होता है। इस स्थिति में माया के स्थान पर जीव श्रीश्यामसुन्दर की सेवा करना चाहता है। सख्य रति रूपी तीसरी अवस्था में भगवत्प्रेम आगे बढ़ जाता है तथा भक्त प्रेम तथा आदर के समस्तर पर भगवान् के साथ क्रीड़ा करता है। इस रस में वृद्धि होने पर परस्पर हास परिहास आदि होते हैं। भगवान् के साथ सख्य प्रेम का आस्वादन होता है; जीव सर्व-बन्धन-विमुक्त हो जाता है। इस स्थिति में भक्त को जीवरूप में अपनी नीची स्थिति का बिल्कुल विस्मरण-सा हो जाता है; साथ ही परम पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति उसमें सम्भ्रम भाव बना रहता है।

वात्सल्य रति नामक चौथी श्रेणी में प्रदर्शित सख्य राग वात्सल्य राग के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उस समय जीव भगवान् श्रीकृष्ण में पुत्रभाव रखता है। भगवत्-पूजन करने के स्थान पर माता-पिता के रूप में जीव स्वयं भगवान् का पूज्य बन जाता है। भगवान् इस अवस्था में अपने शुद्धभक्त के कृपापात्र बनकर उनके वश में हो जाते हैं। इस श्रेणी के भक्त वह उच्च स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें वे भगवान् का आलिंगन एवं ललाट-चुम्बन कर सकते हैं। मधुर रति नामक पंचम श्रेणी में प्रियतमा और प्रेमी में माधुर्य रति का वास्तविक परस्पर अलौकिक आस्वादन हुआ करता है। श्रीकृष्ण एवं व्रजरमणियों का एक दूसरे को देखना इसी श्रेणी की रति थी, क्योंकि इसीमें परस्पर प्रेममय दृष्टिपात, नेत्र चांचल्य, मधुर सम्भाषण, आकर्षक हास्य आदि होते हैं।

इन पाँच प्रधान रसों के अतिरिक्त हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स नामक सात उपप्रधान रस हैं। उदाहरणार्थ, श्रीभीष्म का भगवान् श्रीकृष्ण के साथ योद्धा रूप में वीर रस का सम्बन्ध था। हिरण्यकशिपु को भयानक तथा वीभत्स रस का अनुभव हुआ। शुद्धभक्त के हृदय में पाँच प्रधान रस सदा विद्यमान रहते हैं। इन्हें अधिक आस्वाद्य बनाने के लिए सात उपप्रधान रसों का भी समय-समय पर उदय-विलय होता रहता है। प्रधान रसों को परिपुष्ट कर के वे शान्त हो जाते हैं।

शान्त भक्तों के उदाहरण हैं—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन आविर्होत्र, द्रविड़ अथवा द्रुमिल, चमस और करभाजन नामक नौ योगी। चारों कुमार (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्) भी इसी श्रेणी में हैं। दास्य रति नामक द्वितीय श्रेणी के सेवकभाव वाले भक्तों में गोलोक रस में रक्तक, चित्रक तथा पत्रक हैं। ये सभी श्रीकृष्ण के अनुगत हैं। द्वारका में दारुक हैं एवं वैकुण्ठ लोकों में हनुमान् आदि हैं। श्रीवृन्दावन में श्रीदामा तथा द्वारका एवं कुरुक्षेत्र के रण में भीम और अर्जुन सख्य रति के भक्त हैं। इनके अतिरिक्त, दूसरे भी हैं। श्रीकृष्ण के वात्सल्य-प्रेमियों में यशोदा मैया और नन्द महाराज जैसे भक्त—अर्थात् श्रीकृष्ण के माता, पिता, गुरुजन आदि हैं। मधुर प्रेम में व्रजभूमि वृन्दावन की रमणियों, द्वारका की महिषियों तथा लक्ष्मियों की स्थिति है। इस रस के अनन्त भक्तों की गणना कोई नहीं कर सकता।

भगवान् श्रीकृष्ण में रति (प्रेमभाव) दो प्रकार की होती है। ऐश्वर्य-ज्ञानमिश्रा और केवला रति। पहले प्रकार के प्रेमभाव में गौरव, बुद्धि एवं पूज्य भाव-मिश्रित रहता है। इस प्रकार के भाव में पूर्ण स्वतन्त्रता का अभाव-सा है। इसका प्रकाश मथुरा तथा वैकुण्ठादि लोकों में है। इन भगवद् धामों में दिव्य प्रेममयी सेवाभावना संकुचित रहती है। किन्तु गोलोक वृन्दावन में स्वच्छन्द निर्बाध प्रेम का आस्वादन है। गोप-बालकों एवं व्रजसुन्दरियों को श्रीकृष्ण की पूर्ण भगवत्ता का समग्र ज्ञान है, फिर भी उनके साथ परम अन्तरंगता होने के कारण वे ऐश्वर्यजन्य गौरवबुद्धि एवं आदर भाव का प्रदर्शन नहीं करते, यह केवला रति है। पाँच प्रधान परम दिव्य रसों में ऐश्वर्यजनित आश्चर्य और आदरभाव कभी-कभी भगवान् की वास्तविक महानता का आच्छादन करने वाले विघ्न सिद्ध होते हैं और कभी-कभी भक्त की भगवत्-सेवा में बाधक तक बन जाते हैं। सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव में ऐसा गौरव-भाव और आदर-भाव घट जाता है। उदाहरण-स्वरूप श्रीवसुदेव और देवकीजी के पुत्ररूप में श्रीकृष्ण के प्रकट होने पर माता-पिता आश्चर्य-आदर सहित उनकी स्तुति करने लगे, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि स्वयं परम-ईश्वर श्रीकृष्ण अथवा श्रीविष्णु उनके अबोध बालक के रूप में प्रगट हुए हैं। श्रीमद्भागवत (१०.४४.५१) से यह स्पष्ट है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण बालक रूप में प्रकट थे, किन्तु वसुदेव-देवकी ने उनका स्तवन किया। विश्वरूप दर्शन कर के अर्जुन भयभीत हो गए तथा अन्तरंग मित्र के रूप में किए गए श्रीकृष्ण से अपने व्यवहार के लिए क्षमा याचना

करने लगे। मित्ररूप से अर्जुन ने अनेक अवसरों पर उनसे निर्बाध व्यवहार किया था, किन्तु अद्भुत एवं परम आश्चर्यमय विश्वरूप को देख कर वे कहने लगे —

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।

"आपकी महिमा को न जानकर पूर्व में मैंने आपको 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा', ऐसे पुकारा है। प्रमाद अथवा प्रेमवश मेरे द्वारा हुए वे सब अपराध क्षमा कीजिए। विश्राम करते हुए अथवा एक ही शय्या पर लेटे हुए या भोजन करते समय मैंने अनेक बार एकान्त में एवं मित्रों के सामने भी आपका अपमान किया है। हे अच्युत! मेरे उन सब अपराधों को कृपया क्षमा करें।" (गीता ११. ४१, ४२)

इसी प्रकार श्रीकृष्ण के हास-परिहास से श्रीमती रुक्मिणी देवी को यह भय हो गया कि श्रीकृष्ण मुझे त्याग रहे हैं; वे इतनी उद्विग्न हो उठीं कि श्रीकृष्ण की सेवा में संलग्न चँमर उनके करारविन्द से छूट गया तथा वे स्वयं भी अचेतन अवस्था में भूमि पर गिर पड़ीं। श्रीधाम वृन्दावन में श्रीकृष्ण-जननी यशोदाजी के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१०.८.४५) में वर्णन है:

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्।।

"वेद, उपनिषद् तथा सांख्य दर्शन आदि सारे प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा आराधित परमपुरुष श्रीभगवान् को यशोदा मैया गर्भ से उत्पन्न हुआ माना करती थीं।" भागवत (१०.९.१४) में यह भी वर्णन है कि यशोदा मैया ने अपने शरीर से उत्पन्न साधारण बालक की भाँति बालकृष्ण को रस्सी से बाँध लिया। इसी प्रकार भागवत (१०.१८.२४) में श्रीकृष्ण से व्यवहार के अन्य वर्णन भी हैं। क्रीड़ा में मित्रों से पराजित हो जाने पर श्रीकृष्ण उन्हें, विशेषत: श्रीदामा को कन्धे पर उठाते थे।

श्रीधाम वृन्दावन में श्रीगोपीजन एवं श्रीकृष्ण के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में श्रीमद्भागवत (१०.३०. ३६-४०) में उल्लेख है कि जब श्रीकृष्ण रास-मण्डल से श्रीमती राधारानी को एकान्त में ले गए तो वे समझीं कि श्रीकृष्ण ने अन्य गोपियों को त्याग दिया। यद्यपि वे सभी समान सुन्दरी थीं, तथापि श्रीकृष्ण ने उन्हें इस प्रकार सन्तुष्ट किया। अत: वे मानपूर्वक सोचने लगीं, "प्रियतम कृष्ण ने सब सुन्दरी गोपियों का त्याग कर दिया। वे केवल मुझ से ही सन्तुष्ट होते हैं।" वन में उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा, "प्रियतम श्रीकृष्ण! मैं और स्वयं चलने में असमर्थ हूँ। अत: अपनी इच्छानुसार मुझे कहीं भी ले चलो।" श्रीकृष्ण ने कहा, "प्रिये! मेरे कन्धे का सहारा ले लो।" यह कहते ही वे अन्तर्धान हो गए, जिससे श्रीमती राधारानी को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ।

रासमण्डल से श्रीकृष्ण के तिरोहित हो जाने पर सब गोपिकाएँ पश्चात्ताप करते हुए कहने लगीं, "प्रिय कृष्ण! अपने पति, पुत्र, सम्बन्धी, भाई तथा मित्रादि को त्याग कर के हम यहाँ आई हैं। उनके आदेश की अवहेलना कर हम तुम्हारे पास आई हैं; हमारे इस प्रकार आने का कारण तुम भली प्रकार जानते हो। तुम्हें पता है, तुम्हारी वंशी के परम मधुर स्वर से मुग्ध और परवश होकर हम यहाँ आई हैं। किन्तु तुम इतने कपटी हो कि मध्य रात्रि के समय हम जैसी रमणियों को त्याग रहे हो। तुम्हारे लिए यह बिलकुल शोभा नहीं देता।"

अब शान्त रस के स्वरूप का वर्णन किया जाता है। 'शम' शब्द का अर्थ मन का संयम करके और भगवान् श्रीकृष्ण में केन्द्रित कर उसे इधर-उधर भटकने से रोकना है। परम-ईश्वर श्रीकृष्ण में एकाग्र चित्त वाले को शम-स्तर पर स्थित समझा जाता है। इस स्तर पर भक्त को यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक अनुभवगत वस्तु के मूल श्रीकृष्ण हैं। इसका वर्णन भगवद्गीता (७.१९) में है। वह जानता है कि श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु में वर्त्तमान हैं एवं सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हैं। यद्यपि प्रत्येक वस्तु परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के नियन्त्रण में, उनकी शक्ति में स्थित है, पर फिर भी उस सबसे श्रीकृष्ण का निज रूप भिन्न है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के अनुसार यह समझने वाला एवं श्रीकृष्ण में एकाग्रबुद्धि भक्त शम को प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— **'शमो मन्निष्ठता बुद्धे'**— जब तक कोई शान्तरति के स्तर पर नहीं पहुँचता, तब तक वह श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-ज्ञान में अथवा सम्पूर्ण प्रकट सृष्टि के कारण श्रीकृष्ण की विभिन्न

शक्तियों के एकत्व-ज्ञान में ठीक-ठीक स्थित नहीं हो सकता। यही निर्देश श्रीमद्भागवत (११.१९.३६) में है—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ।।

"भगवान् श्रीगोविन्द ही सबके आदि कारण हैं— इस निर्णय पर पहुँचने वाले को मन की एकाग्र स्थिति प्राप्त हो सकती है। इन्द्रिय-निग्रह की संज्ञा 'दम' है। इन्द्रियदमन तथा मनोनिग्रह के लिए सब दुःखों को सहन करना 'तितिक्षा' अथवा सहनशीलता है। तथा जिह्वा और उपस्थ को जीत लेना 'धृति' है। धृतिवान् धीर और शान्त रहता है। शान्त पुरुष जिह्वा और उपस्थ के वेग से कभी नहीं विचलित होता।"

मन को श्रीकृष्ण में अविचलित रूप में केन्द्रित करने से शान्तरस नामक श्रीकृष्णभावनामृत में सुदृढ़ स्थिति हो जाती है। शान्तरस में श्रीकृष्ण के प्रति अडिग विश्वास स्थापित होता है, जिसके फलस्वरूप समूची विषय-वासना निवृत्त हो जाती है। शान्तरस के ये विशिष्ट लक्षण— श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास (निष्ठा) तथा श्रीकृष्ण से सम्बन्ध-रहित सारी कामनाओं को त्याग— सभी रसों में पाए जाते हैं, उसी प्रकार जैसे शब्द गुण अन्य सभी तत्त्वों (वायु, अग्नि, जल, भूमि) में पाया जाता है, क्योंकि उसका कारण आकाश है। इसी न्याय से शान्तरस के ये दोनों गुण अन्य सब दिव्यरसों (दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि) में भी रहते हैं।

जब हम 'अकृष्ण' वस्तु के विषय में बोलते हैं अथवा श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रहित कामना करते हैं, तो इससे यह अभिप्राय नहीं कि कोई भी वस्तु श्रीकृष्ण से रहित हो सकती है। वास्तव में तो 'अकृष्ण' कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि सभी कुछ कृष्णशक्ति का कार्य है। श्रीकृष्ण तथा उनकी शक्ति में अभेद होने के कारण एक प्रकार से तो सभी कुछ कृष्णमय है। उदाहरणस्वरूप चेतना जीव-मात्र में है। किन्तु श्रीकृष्ण पर केन्द्रित चेतना या भावना (श्रीकृष्ण-भावनामृत) शुद्ध होती है, जबकि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी वस्तु पर केन्द्रित अथवा विषय भोगोन्मुखी भावना को अकृष्ण-भावना कह सकते हैं। अतः केवल दूषित अवस्था में ही अकृष्ण धारणा हो सकती है। शुद्धावस्था में तो कृष्ण-भावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

श्रीकृष्ण में सक्रिय रुचि— अर्थात् श्रीकृष्ण मेरे हैं अथवा मैं श्रीकृष्ण का हूँ तथा मेरा एकमात्र कर्म श्रीकृष्ण की इन्द्रियों की तृप्ति करना है— यह ज्ञान निर्विशेष शान्तरस से उच्चतर अवस्था की विशेषता है। श्रीकृष्ण के

श्रीधाम वृन्दावन में श्रीगोपीजन एवं श्रीकृष्ण के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में श्रीमद्भागवत (१०.३०. ३६-४०) में उल्लेख है कि जब श्रीकृष्ण रास-मण्डल से श्रीमती राधारानी को एकान्त में ले गए तो वे समझीं कि श्रीकृष्ण ने अन्य गोपियों को त्याग दिया। यद्यपि वे सभी समान सुन्दरी थीं, तथापि श्रीकृष्ण ने उन्हें इस प्रकार सन्तुष्ट किया। अत: वे मानपूर्वक सोचने लगीं, "प्रियतम कृष्ण ने सब सुन्दरी गोपियों का त्याग कर दिया। वे केवल मुझ से ही सन्तुष्ट होते हैं।" वन में उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा, "प्रियतम श्रीकृष्ण! मैं और स्वयं चलने में असमर्थ हूँ। अत: अपनी इच्छानुसार मुझे कहीं भी ले चलो।" श्रीकृष्ण ने कहा, "प्रिये! मेरे कन्धे का सहारा ले लो।" यह कहते ही वे अन्तर्धान हो गए, जिससे श्रीमती राधारानी को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ।

रासमण्डल से श्रीकृष्ण के तिरोहित हो जाने पर सब गोपिकाएँ पश्चात्ताप करते हुए कहने लगीं, "प्रिय कृष्ण! अपने पति, पुत्र, सम्बन्धी, भाई तथा मित्रादि को त्याग कर के हम यहाँ आई हैं। उनके आदेश की अवहेलना कर हम तुम्हारे पास आई हैं; हमारे इस प्रकार आने का कारण तुम भली प्रकार जानते हो। तुम्हें पता है, तुम्हारी वंशी के परम मधुर स्वर से मुग्ध और परवश होकर हम यहाँ आई हैं। किन्तु तुम इतने कपटी हो कि मध्य रात्रि के समय हम जैसी रमणियों को त्याग रहे हो। तुम्हारे लिए यह बिलकुल शोभा नहीं देता।"

अब शान्त रस के स्वरूप का वर्णन किया जाता है। 'शम' शब्द का अर्थ मन का संयम करके और भगवान् श्रीकृष्ण में केन्द्रित कर उसे इधर-उधर भटकने से रोकना है। परम-ईश्वर श्रीकृष्ण में एकाग्र चित्त वाले को शम-स्तर पर स्थित समझा जाता है। इस स्तर पर भक्त को यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक अनुभवगत वस्तु के मूल श्रीकृष्ण हैं। इसका वर्णन भगवद्गीता (७.१९) में है। वह जानता है कि श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु में वर्त्तमान हैं एवं सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हैं। यद्यपि प्रत्येक वस्तु परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के नियन्त्रण में, उनकी शक्ति में स्थित है, पर फिर भी उस सबसे श्रीकृष्ण का निज रूप भिन्न है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के अनुसार यह समझने वाला एवं श्रीकृष्ण में एकाग्रबुद्धि भक्त शम को प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— **'शमो मन्निष्ठता बुद्धे'**— जब तक कोई शान्तरति के स्तर पर नहीं पहुँचता, तब तक वह श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-ज्ञान में अथवा सम्पूर्ण प्रकट सृष्टि के कारण श्रीकृष्ण की विभिन्न

शक्तियों के एकत्व-ज्ञान में ठीक-ठीक स्थित नहीं हो सकता। यही निर्देश श्रीमद्भागवत (११.१९.३६) में है—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥

"भगवान् श्रीगोविन्द ही सबके आदि कारण हैं— इस निर्णय पर पहुँचने वाले को मन की एकाग्र स्थिति प्राप्त हो सकती है। इन्द्रिय-निग्रह की संज्ञा 'दम' है। इन्द्रियदमन तथा मनोनिग्रह के लिए सब दुःखों को सहन करना 'तितिक्षा' अथवा सहनशीलता है। तथा जिह्वा और उपस्थ को जीत लेना 'धृति' है। धृतिवान् धीर और शान्त रहता है। शान्त पुरुष जिह्वा और उपस्थ के वेग से कभी नहीं विचलित होता।"

मन को श्रीकृष्ण में अविचलित रूप में केन्द्रित करने से शान्तरस नामक श्रीकृष्णभावनामृत में सुदृढ़ स्थिति हो जाती है। शान्तरस में श्रीकृष्ण के प्रति अडिग विश्वास स्थापित होता है, जिसके फलस्वरूप समूची विषय-वासना निवृत्त हो जाती है। शान्तरस के ये विशिष्ट लक्षण— श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास (निष्ठा) तथा श्रीकृष्ण से सम्बन्ध-रहित सारी कामनाओं को त्याग— सभी रसों में पाए जाते हैं, उसी प्रकार जैसे शब्द गुण अन्य सभी तत्त्वों (वायु, अग्नि, जल, भूमि) में पाया जाता है, क्योंकि उसका कारण आकाश है। इसी न्याय से शान्तरस के ये दोनों गुण अन्य सब दिव्यरसों (दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि) में भी रहते हैं।

जब हम 'अकृष्ण' वस्तु के विषय में बोलते हैं अथवा श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रहित कामना करते हैं, तो इससे यह अभिप्राय नहीं कि कोई भी वस्तु श्रीकृष्ण से रहित हो सकती है। वास्तव में तो 'अकृष्ण' कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि सभी कुछ कृष्णशक्ति का कार्य है। श्रीकृष्ण तथा उनकी शक्ति में अभेद होने के कारण एक प्रकार से तो सभी कुछ कृष्णमय है। उदाहरणस्वरूप चेतना जीव-मात्र में है। किन्तु श्रीकृष्ण पर केन्द्रित चेतना या भावना (श्रीकृष्ण-भावनामृत) शुद्ध होती है, जबकि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी वस्तु पर केन्द्रित अथवा विषय भोगोन्मुखी भावना को अकृष्ण-भावना कह सकते हैं। अतः केवल दूषित अवस्था में ही अकृष्ण धारणा हो सकती है। शुद्धावस्था में तो कृष्ण-भावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

श्रीकृष्ण में सक्रिय रुचि— अर्थात् श्रीकृष्ण मेरे हैं अथवा मैं श्रीकृष्ण का हूँ तथा मेरा एकमात्र कर्म श्रीकृष्ण की इन्द्रियों की तृप्ति करना है— यह ज्ञान निर्विशेष शान्तरस से उच्चतर अवस्था की विशेषता है। श्रीकृष्ण के

ऐश्वर्य को जानने मात्र से जीव शान्तरस की स्थिति प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था का उपास्य निराकार ब्रह्म अथवा परमात्मा भी हो सकता है। निराकार ब्रह्म और परमात्मा की उपासना ज्ञानी तथा योगी करते हैं। किन्तु कृष्णभक्ति अथवा अध्यात्म ज्ञान में और अधिक उन्नति करने वाला जान जाता है कि सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्ण ही नित्य उपास्य हैं। ऐसा जानकर वह उनकी शरण ले लेता है।

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' (गीता ७.१९)

"ब्रह्म और परमात्मा की उपासना से युक्त बहुत से जन्मों के बाद कहीं जाकर जब जीव श्रीवासुदेव (श्रीकृष्ण) की शरण में जाता है तथा अपने को श्रीवासुदेव का नित्य सेवक समझता है, तब वह एक दिव्यानुभूति युक्त महात्मा बन जाता है।" **उस समय परम सत्य स्वरूप** श्रीकृष्ण के साथ पूर्ण सम्बन्ध के कारण वह भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमसेवा में नियुक्त हो जाता है। इस प्रकार शान्तरस नामक तटस्थ अवस्था दास्य-रस में रूपान्तरित हो जाती है।

दास्यभाव में परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति सर्वाधिक आश्चर्य व सम्भ्रमभाव सूचित होता है। भाव यह है कि दास्यरस में प्रभु के ऐश्वर्य के आस्वादन की प्रधानता रहती है। यह स्मरणीय है कि शान्तरस में भगवत्सेवा-कार्य का अभाव है। दास्य-स्तर पर ही सेवा-कार्य प्रारम्भ होता है। अत: दास्यरस में शान्तरस के विशिष्ट गुणों के साथ भगवत्सेवा के दिव्य आस्वादन का भाव भी रहता है।

शान्त और दास्यरस में दिव्य गुण अवश्य विद्यमान रहते हैं, पर इनसे श्रेष्ठ एक अन्य गुण भी है— विश्वासपूर्ण भाव अथवा विशुद्ध भगवत्प्रेम। भगवान् श्रीकृष्ण में प्रेममय विश्वास विश्रम्भ कहलाता है। विश्रम्भ-प्रेम के स्तर पर भगवान् में गौरव-बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। अत: सख्यरस नामक दिव्य प्रेमरस में तीन दिव्य गुण हैं—कृष्णनिष्ठा, सेवाभाव तथा गौरवबुद्धि रहित अन्तरंगता। इस प्रकार सख्यरस में अलौकिक गुणावली का क्रमश: विकास होता है।

ऐसे ही वात्सल्यरस में चार गुण हैं। पूर्वोक्त तीन गुणों के अतिरिक्त इसमें यह भाव भी रहता है कि भगवान् भक्त के कृपा-पात्र हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के **माता-पिता के रूप में भक्त कभी-कभी** उन्हें अनुशासित करता है, क्योंकि वह अपने को उनका पालनकर्ता समझता है। सबके पालनकर्ता का पालनकर्ता होने का यह भाव भक्त और भगवान् दोनों के लिए परम सुखदायक है।

श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी को भक्तिरसामृतसिन्धु नामक दिव्य ग्रन्थ लिखने तथा पाँच दिव्य रसों के तत्त्व-विवरण सहित भक्तिविज्ञान का वर्णन करने का आदेश दिया। इस दिव्य और महान् ग्रन्थ में श्रीकृष्ण में सुदृढ़ विश्वास वाले शान्तरस के सेवा भावमय दास्यरस में परिवर्द्धन होने का वर्णन है। तत्पश्चात् भक्त क्रमशः सख्यरस तथा उससे भी श्रेष्ठ वात्सल्यरस के दिव्य स्तर पर पहुँचता है, जहाँ वह अपने को प्रभु का पालक मानता है। इन सभी रसों का पर्यवसान मधुररस के परमोच्च स्तर पर है, जहाँ ये सभी एक साथ विद्यमान रहते हैं।

अध्याय २

श्रील सनातन गोस्वामी

वन्देऽनन्ताद्भुतैश्वर्यं श्रीचैतन्यमहाप्रभुम् ।
नीचोऽपि यत्प्रसादात् स्याद्भक्तिशास्त्रप्रवर्तकः ।।

"जिनके अनुग्रह से अधम से अधम जीव भी भक्ति-शास्त्र का प्रवर्तक हो जाता है, अनन्ताद्भुत ऐश्वर्यशाली उन श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की मैं वन्दना करता हूँ।"

संन्यास आश्रम ग्रहण करने पर श्रीमन्महाप्रभु ने सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण किया। इसी काल में वे बंगाल के मालदा जिले में भी गए। उस क्षेत्र के रामकेलि नामक ग्राम में नवाब हुसैन शाह के शासन के दो मन्त्री रहते थे। उस समय उनके नाम साकर मल्लिक और दबीर खास थे। यही कुछ काल बाद श्रील सनातन और श्रील रूप गोस्वामी कहलाए। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की प्रेरणा से उन्होंने शासन-कार्य को त्याग कर उनके संकीर्त्तन-यज्ञ में सम्मिलित होने का निश्चय किया।

यह निश्चित करके दोनों भाइयों ने अविलम्ब अपने को सांसारिक बन्धन मुक्त करने के उद्देश्य से उद्योग प्रारम्भ कर दिया। साथ ही, उन्होंने दो वैदिक ब्राह्मणों को वैदिक-कृत्यों में नियुक्त किया, जिससे भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में लगने के लिए उन्हें संसार से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाए। इन प्रारम्भिक कृत्यों को पुरश्चरण कहते हैं। इन कर्मकाण्डों में दिन में त्रिकाल पितृ-श्राद्ध, यज्ञ तथा ब्रह्मभोज अनिवार्य है। समय का नियम, पूजा, तर्पण, यज्ञ तथा ब्रह्मभोज, इन पाँचों से पुरश्चरण की पूर्ति होती है। विधि-विधान के प्रामाणिक ग्रन्थ 'श्रीहरिभक्तिविलास' में ऐसे सब कृत्यों का विवरण है।

उक्त कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करके दोनों में छोटे दबीर खास (श्रीमद् रूप गोस्वामी) शासन-सेवा में अर्जित अपनी विपुल धनराशि सहित घर

लौट आए। उनके द्वारा लाए स्वर्ण और रजतमुद्राओं से एक बड़ी भारी नौका भर गई। घर पहुँचने पर उन्होंने सबसे पहले उस सम्पदा के दो भाग कर के एक भाग ब्राह्मणों एवं वैष्णवों में वितरित किया। इस प्रकार श्रीभगवान् की प्रीति के लिए अपनी सम्पत्ति के अर्धांश का उन्होंने भगवान् की प्रेममयी सेवा में लगे जनों में बाँटा। ब्राह्मणों का एकमात्र कर्त्तव्य परम सत्यस्वरूप श्रीकृष्ण का ज्ञान प्राप्त करना है। श्रीकृष्ण का ज्ञान होने के बाद उनकी प्रेम सेवा में यथार्थ रूप से संलग्न रहने पर उन्हें वैष्णव कहा जाता है। ब्राह्मण और वैष्णव दोनों को सदा भगवत्-सेवा में संलग्न माना जाता है। अतः श्रील रूप गोस्वामी ने उनकी महान् एवं दिव्य स्थिति को देखते हुए उन्हें निजी सम्पत्ति का आधा भाग समर्पित किया। शेष धन के पुनः दो भाग किए गए— एक भाग का वितरण उन्होंने सम्बन्धियों एवं परिवार के आश्रित सदस्यों में किया; दूसरा निजी आपत्-काल के लिए रख छोड़ा।

निजी धन का ऐसा वितरण आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति के सब अभिलाषियों के लिए बड़ा शिक्षाप्रद है। प्रायः धनवान् व्यक्ति अपनी सारी उपार्जित सम्पत्ति कुटुम्बियों के लिए छोड़कर ज्ञान में प्रगति की इच्छा से गृह-त्याग देता है। किन्तु यहाँ श्रील रूप गोस्वामी का आदर्श व्यवहार अनुसरणीय है। अपने आधे धन का उन्होंने परमार्थ के लिए दान किया। सभी के लिए यह अनुसरण योग्य है। निजी संकटों के लिए रखे पचास प्रतिशत धन को उन्होंने एक समृद्ध-व्यापार संस्था में जमा कर दिया, क्योंकि उस समय बैंक नहीं थे। अपने बड़े भाई श्रील सनातन गोस्वामी के व्यय के लिए दस सहस्र मुद्रा रखवा दीं।

इसी समय श्रील रूप गोस्वामी को समाचार मिला कि श्रीचैतन्य महाप्रभु जगन्नाथ पुरी से वृन्दावन के लिए प्रस्थान करने वाले हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने प्रभु के मार्ग की यथार्थ जानकारी के लिए दो सन्देशवाहक भेजे और स्वयं प्रभु के दर्शन करने मथुरा जाने की योजना बनाई। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रील रूप गोस्वामी को श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के निकट जाने की आज्ञा हो गई थी, पर श्रील सनातन को नहीं। इसीलिए निजी शासकीय कर्त्तव्यों को अपने विश्वासपात्र सचिवों को सौंपकर श्रील सनातन गोस्वामी श्रीमद्भागवत का अध्ययन करने घर आ गए और दस-बीस ब्राह्मणों को नियुक्त करके उनके साथ श्रीमद्भागवत का गम्भीर अध्ययन करने लगे। इस प्रकार संलग्न होकर उन्होंने नवाब को अपने रोग-ग्रस्त होने की सूचना भेज दी, किन्तु राजकीय कार्यवाही में श्रीसनातन के परामर्श

के लिए नवाब इतना आतुर था कि अकस्मात् वह स्वयं उनके घर आ पहुँचा। नवाब के प्रवेश करने पर श्रील सनातन गोस्वामी एवं एकत्रित ब्राह्मणों ने उठकर उसका अभिवादन किया तथा एक उच्च आसन प्रदान किया।

"तुमने रुग्णता की सूचना भेजी है," नवाब ने श्रील सनातन से कहा। "किन्तु मेरे द्वारा भेजे निजी वैद्य ने मुझे सूचित किया है कि तुम पूर्णतः स्वस्थ हो। तुम्हारे रुग्णता की सूचना भेजने तथा कार्य पर न आने के कारण को न जानने से मैं स्वयं तुम्हें देखने आया हूँ। तुम्हारे व्यवहार से मैं अत्यन्त उद्विग्न हूँ। तुम्हें विदित ही है मैं पूर्णतः तुम पर और तुम्हारे विश्वस्त सरकारी कार्य पर निर्भर हूँ। तुम पर निर्भरता के कारण मैं अन्य विषयों की कार्यवाही में स्वतन्त्र था। अब यदि तुम मेरा साथ नहीं दोगे, तो तुम्हारा पिछला सब कार्य दूषित हो जाएगा। अतः तुम्हारा आशय क्या है? मुझे स्पष्ट बता दो।"

यह सुनने पर श्रील सनातन गोस्वामी ने उत्तर दिया कि आगे और कार्य करने में वे असमर्थ हैं, अतः नवाब उनको सौंपे कार्य के लिए किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति करने की कृपा करें। यह सुनकर नवाब बहुत क्रोधित होकर बोला, "तुम्हारा बड़ा भाई शिकार करता रहता है; ऐसे में अगर तुम भी प्रशासन का त्याग करोगे तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा।" कहा जाता है नवाब श्रील सनातन से छोटे भाई जैसा व्यवहार करता था। देश के विभिन्न प्रदेश विजय करने तथा शिकार में व्यस्त रहने के कारण राजकीय प्रशासन के लिए वह पूर्ण रूप से श्रील सनातन पर निर्भर था। अतः उसने उनसे अनुनय की, "तुम्हारे प्रशासन-त्याग से शासन कैसे चल सकेगा?"

"आप गौड़ के शासक हैं," श्रील सनातन गोस्वामी ने अत्यन्त गम्भीरता से उत्तर दिया। "विभिन्न अपराधियों को आप भिन्न-भिन्न प्रकार से दण्डित करते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्यानुरूप अनुशासित करने में आप समर्थ हैं"।" इस उत्तर से श्रील सनातन का अभिप्राय यह था कि वे दोनों ही अपने कर्मानुसार, दुःख भोगें, क्योंकि नवाब अपने राज्य का विस्तार करने के लिय पशु-आखेट तथा मानव-वध में व्यस्त था और वे श्रीमद्भागवत के अध्ययन में मग्न थे। नवाब बुद्धिमान् था, अतः श्रील सनातन गोस्वामी का अभिप्राय समझ गया और क्रोधित हो वह वहाँ से चला गया। बहुत शीघ्र उसने उत्कल राज्य पर चढ़ाई कर दी, अपने लौटने तक श्रील सनातन को कारागार में बन्द रखने का आदेश वह दे गया था।

नवाब द्वारा अपने भाई के पकड़े जाने का समाचार सुनकर श्रील रूप ने उन्हें सूचित कराया कि गौड़ में एक व्यापारी के यहाँ दस हजार मुद्रा जमा है; उनका प्रयोग श्रील सनातन अपनी मुक्ति के लिए कर लें। श्रील सनातन गोस्वामी ने अपने कारागार अध्यक्ष को पाँच हजार मुद्रा देने का प्रस्ताव किया। श्रील सनातन ने उसे वह धन लेकर उन्हें छोड़ देने का परामर्श दिया, क्योंकि उनसे धन स्वीकार करने से वह केवल भौतिक रूप से ही लाभान्वित नहीं होगा, अपितु सनातन को भक्ति के लिए मुक्त करके पुण्योपार्जन भी करेगा।

"अवश्य ही मैं आपको छोड़ सकता हूँ," अध्यक्ष ने कहा, "क्योंकि आपने मुझ पर अनेक उपकार किए हैं तथा आप राजकीय प्रशासन में हैं। किन्तु मुझे नवाब का भय है। आप की कारागार-मुक्ति सुनकर वह क्या करेगा? मुझे उसको पूर्ण स्पष्टीकरण देना होगा। मैं यह प्रस्ताव कैसे स्वीकार कर सकता हूँ?" तब श्रील सनातन गोस्वामी ने एक ऐसी कहानी कल्पित की, जिसे कारागाराध्यक्ष नवाब को सुना सके कि सनातन किस प्रकार निकल भागे और अपने प्रस्ताव को दस हजार मुद्रा तक बढ़ा दिया। धन के लोभ में कारागाराध्यक्ष सहमत हो गया तथा श्रील सनातन को जाने दिया। इस बीच छोटे भाई वल्लभ के साथ श्रीरूप श्रीमन् महाप्रभु से मिलने श्रीधाम वृन्दावन की ओर चल पड़े थे।

श्रील सनातन गोस्वामी भी महाप्रभु-मिलनार्थ चले। राजपथ से न जाकर वनमार्ग से गमन कर बिहार में पातड़ा नामक स्थान में पहुँच गए। वे एक सराय में ठहरे, किन्तु वहाँ नियुक्त ज्योतिषी से सराय वाले को सूचना मिली कि उनके पास कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। धन-प्राप्ति की इच्छा से सराय वाला श्रील सनातन से कपटपूर्वक आदर से बोला।

"आज रात आप विश्राम करें," वह बोला, "प्रातः काल इस बीहड़ वन से आपके निकलने की व्यवस्था मैं कर दूँगा।" किन्तु श्रील सनातन गोस्वामी को उसके व्यवहार से शंका हुई। उन्होंने अपने सेवक ईशान से पूछा कि कहीं उसके पास धन तो नहीं है। ईशान ने उत्तर दिया कि उसके पास सात स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। श्रील सनातन गोस्वामी को सेवक का धन रखना ठीक नहीं लगा। उन्होंने क्रोधित होकर उससे कहा, "इस मृत्यु-दूत को मार्ग में साथ क्यों लिए जा रहे हो?"

श्रील सनातन ने तुरन्त वे सभी मुद्राएँ सराय वाले को दे दीं और उन्होंने उससे वन से निकलने में सहायता की प्रार्थना की। उन्होंने उसे

सूचित किया कि वे एक विशेष राजकीय यात्रा पर जा रहे हैं। अत: राजपथ से जाना उचित न होने के कारण सराय वाला वन-पर्वत पार करने में उनकी सहायता करने की कृपा करे।

"मुझे पता था कि आपके पास आठ स्वर्ण-मुद्राएँ हैं और उनके लिए मैं आपको मारने की भी सोच रहा था," सराय वाले ने स्वीकार किया। "पर मैं समझता हूँ कि आप इतने श्रेष्ठ मनुष्य हैं कि अब आपको ये मुझे देने की आवश्यकता नहीं।"

"यदि तुम ये मुद्राएँ नहीं लोगे तो कोई और मुझसे ले लेगा," श्रील सनातन गोस्वामी ने उत्तर दिया। "सम्भव है इनके लिए कोई मेरी हत्या भी कर दे। अत: अच्छा होगा यदि तुम्हीं इन्हें ले लो। मैं इन्हें तुम्हें समर्पित करता हूँ।" इसके बाद सराय वाले ने उनकी पूर्ण सहायता की तथा उसी रात पर्वतीय मार्ग के पार पहुँचवा दिया।

पर्वतीय प्रदेश से निकलने पर श्रील सनातन ने अपने सेवक से उसके पास शेष बची एक मुद्रा से घर लौटने का निवेदन किया। वे अकेले ही आगे जाना चाहते थे। सेवक के लौट जाने पर वे पूर्णत: स्वतन्त्र हो गए। जीर्ण कन्था तथा कमण्डल हाथ में लेकर श्रीमहाप्रभु से मिलने के लिए आगे चले। मार्ग में शासन में नियुक्त अपने एक धनाढ्य सम्बन्धी से उनकी भेंट हुई। उसके विशेष आग्रह पर श्रील सनातन गोस्वामी ने उनका एक बहुत उत्तम कम्बल स्वीकार किया। फिर उनसे विदा लेकर श्रीमहाप्रभु के दर्शनार्थ उन्होंने वाराणसी के लिए प्रस्थान किया।

वाराणसी पहुँचकर तथा वहाँ श्रीमहाप्रभु की उपस्थिति सुनकर वे परम आनन्दित हुए। उन्हें सूचना मिली कि भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु श्रीचन्द्रशेखर आचार्य के घर पर विराजमान हैं। अत: प्रभु के दर्शनार्थ वे वहाँ गए। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु घर के भीतर थे, पर द्वार पर श्रीसनातन का आना जानकर उन्होंने श्रीचन्द्रशेखर से बाहर बैठे व्यक्ति को बुलाने के लिए कहा। "वे भगवान् के परम भक्त वैष्णव हैं," श्रीमन्महाप्रभु ने कहा। श्रीचन्द्रशेखर बाहर आए, पर उन्हें कोई वैष्णव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। एक भिक्षु-सा अवश्य दिखा। श्रीमहाप्रभु ने उसी भिक्षुक से मिलने की इच्छा व्यक्त की। श्रील सनातन के भीतर आँगन में प्रवेश करने पर श्रीमहाप्रभु उनके दर्शन एवं आलिंगन के लिए दौड़ पड़े। श्रीमहाप्रभु के आलिंगन से श्रील सनातन गोस्वामी प्रेम भाव समाधि में निमग्न होकर कहने लगें, "प्रभो! कृपया मेरा स्पर्श न करें।" पर वे दोनों पुन: आलिंगन कर रोने

लगे। श्रीमहाप्रभु एवं श्रीसनातन को इस स्थिति में देखकर श्रीचन्द्रशेखर अवाक् रह गए। तदुपरान्त श्रीमहाप्रभु ने श्रील सनातन को निकट बैठने की आज्ञा दी। वे अपने करकमल से श्रील सनातन का स्पर्श कर रहे थे। अत: श्रील सनातन गोस्वामी ने फिर उनसे कहा, "प्रभो! कृपया मेरा स्पर्श न करें।"

"मैं तुम्हारा स्पर्श केवल आत्मशुद्धि के लिए कर रहा हूँ," श्रीमहाप्रभु बोले, "तुम महाभागवत हो। अपनी भक्तिसेवा की सामर्थ्य से तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बन्धनमुक्त कर सारे जीवों को भगवद्धाम वापस भेज सकते हो।"

श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत का एक श्लोक पढ़ा, जिसके अनुसार श्रीकृष्णभक्ति में पूर्ण संलग्न कृष्णभक्त उस ब्राह्मण से अति श्रेष्ठ है, जो चारों वेदों में पारंगत होने पर भी भगवद्भक्ति से हीन हो। अपने हृदय में स्थित भगवान् श्रीकृष्ण के कारण भक्त सब स्थानों और वस्तुओं को परम पवित्र बना देता है। वैदिक साहित्य में निर्दिष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण सब वेद-वेदान्त में दक्ष उच्च विद्वान् को स्वीकार नहीं करते, जबकि अकुलीन होने पर भी भक्त उन्हें प्रिय हैं। अभक्त ब्राह्मण को दिया दान प्रभु स्वीकार नहीं करते। किन्तु भक्त द्वारा कुछ भी अर्पण करने से वे उसे अपना लेते हैं। अर्थात् जिस भी वस्तु को भगवान् को अर्पण करना हो वह उनके भक्तों को समर्पित करनी चाहिए। श्रीमहाप्रभु ने भागवत से यह भी बताया कि बारह ब्रह्मगुणों से अलंकृत तथा उच्च कुल में उत्पन्न होने पर भी भगवद्भक्ति से शून्य ब्राह्मण परमाधम से भी अधिक अधम है। इसके विपरीत एक श्वान भोजी चाण्डाल-कुल में जन्मा भक्त अपने कुल को शुद्ध करके पूर्व-उत्तर की शत-शत पीढ़ियों की भी मुक्ति कर सकता है; अभिमानी ब्राह्मण तो अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता। हरिभक्तिसुधोदय (१३.२) का वचन है—

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि तनोः फलं त्वादृशगात्रसंगः।
जिह्वाफलं त्वादृशकीर्त्तनं हि सुदुर्लभा भागवता हि लोके॥

"हे प्रह्लाद! तुम जैसे भक्तों के दर्शनों में ही नेत्रों की सार्थकता है, तुम जैसे भक्तों के शरीर-स्पर्श में ही देह की सार्थकता है तथा तुम जैसे भक्तों के गुणादि के कीर्त्तन करने में जिह्वा की सार्थकता है, क्योंकि जगत् में भगवद्भक्त बड़े दुर्लभ हैं।"

इस प्रकार भक्तों की महिमा का वर्णन करके श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने

कहा, "सनातन! सुनो, श्रीकृष्ण अति दयामय पतितपावन हैं। उन्होंने तुम्हें महारौरव नरक से निकाल लिया है।" इस महारौरव का श्रीमद्भागवत उस स्थान के रूप में वर्णन है जहाँ पशु-वधिक और मांसाहारी जाते हैं।

"श्रीकृष्ण की कृपा को तो मैं नहीं जानता," श्रील सनातन गोस्वामी ने कहा, "किन्तु इतना अवश्य समझ रहा हूँ कि मुझ पर आपकी अहैतुकी कृपा है। आपने ही सांसारिक बन्धन से मुझे मुक्त किया है।"

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने उनसे जिज्ञासा की, "तुम बन्धन से किस प्रकार छूट निकले? मैंने तो सुना था कि कारागार में हो।" श्रील सनातन ने अपनी मुक्ति का सम्पूर्ण वृतान्त कह सुनाया। "तुम्हारे भाइयों से मैं भेंट कर चुका हूँ," प्रभु ने उन्हें सूचित किया, "मेरे निर्देशानुसार वे वृन्दावन गए हैं।"

श्रीमहाप्रभु ने श्रीतपन मिश्र तथा श्रीचन्द्रशेखर से श्रील सनातन गोस्वामी का परिचय कराया तथा श्रीतपन मिश्र ने प्रसन्नतापूर्वक अपने घर भोजन के लिए उन्हें निमन्त्रित किया। प्रभु ने श्रीचन्द्रशेखर से श्रील सनातन का क्षौर कराने को कहा, जिससे वे सज्जन लगने लगे। श्रील सनातन गोस्वामी की लम्बी बड़ी दाढ़ी श्रीमन्महाप्रभु को उत्तम प्रतीत नहीं हो रही थी। स्नान एवं क्षौर के अतिरिक्त उन्होंने श्रीचन्द्रशेखर से श्रील सनातन गोस्वामी को नवीन वस्त्र पहनाने को भी कहा। स्नान करने के बाद, श्रीचन्द्रशेखर ने उन्हें कुछ उत्तम वस्त्र दिए। जब श्रीमहाप्रभु को पता चला कि श्रील सनातन ने नवीन वस्त्र स्वीकार नहीं किए, वरन् तपन मिश्र से कुछ पुराने वस्त्र ही लेकर पहने हैं तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। श्रीमहाप्रभु भिक्षा के लिए श्री तपन मिश्र के घर गए और श्रील सनातन गोस्वामी के लिए थोड़ा भोजन रखने के लिए उनसे कहा। श्रीतपन मिश्र ने श्रील सनातन गोस्वामी को तुरन्त भोजन नहीं दिया; अपितु प्रभु के भोजन कर लेने पर उनका प्रसादान्न अर्पित किया, जबकि श्रीमहाप्रभु विश्राम कर रहे थे।

विश्राम के बाद श्रीमहाप्रभु ने अपने एक भक्त महाराष्ट्रीय ब्राह्मण का श्रील सनातन गोस्वामी से परिचय कराया। उस ब्राह्मण ने श्रील सनातन को काशीवास के समय में नित्य अपने स्थान पर भिक्षा करने को निमन्त्रण दिया।

"जब तक मैं काशी में हूँ, तब तक द्वार-द्वार मैं भिक्षा मांगूँगा।" श्रील सनातन गोस्वामी बोले, "किन्तु कभी-कभी श्रीमन्महाप्रभु अवश्य आपका निमन्त्रण स्वीकार करेंगे।"

श्रीमहाप्रभु को श्रील सनातन के इस व्यवहार से हार्दिक हर्ष हुआ, किन्तु उनकी दृष्टि उस मूल्यवान् कम्बल पर गई जिसे श्रील सनातन गोस्वामी के बहनोई ने मार्ग में दिया था, श्रीमहाप्रभु ने कुछ नहीं कहा, पर श्रील सनातन समझ गए कि उनके शरीर पर ऐसे मूल्यवान् वस्त्र का प्रभु अनुमोदन नहीं कर रहे हैं। श्रील सनातन ने उसे त्यागने का संकल्प कर लिया। वे तुरन्त गंगातट पर गए। वहाँ उन्होंने एक भिक्षुक को जीर्ण कन्था धोते देखा। श्रील सनातन गोस्वामी ने उससे जीर्ण कन्थे के स्थान पर मूल्यवान् कम्बल ले लेने को कहा। यह प्रस्ताव सुनकर वह समझा कि श्रील सनातन परिहास कर रहे हैं। "यह कैसे हो सकता है"? भिक्षुक ने आश्चर्य से कहा। आप देखने में तो सज्जन प्रतीत होते हैं, फिर इस प्रकार आप मेरा परिहास क्यों कर रहे हैं!"

"मैं आपका परिहास नहीं कर रहा हूँ" श्रील सनातन गोस्वामी ने उन्हें सूचित किया। यह मैं पूर्ण गम्भीर भाव से कह रहा हूँ। क्या आप कृपापूर्वक उस जीर्ण कन्थे के स्थान पर यह कम्बल स्वीकार करेंगे?" भिक्षुक ने कन्था देकर कम्बल ले लिया, और श्रील सनातन श्रीमन्महाप्रभु के समीप लौट आए।

"तुम्हारा बहुमूल्य कम्बल कहाँ गया?" श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने तुरन्त पूछा। श्रील सनातन गोस्वामी ने उन्हें सब सूचना दी, तो श्रीमन्महाप्रभु ने उन्हें अपना स्नेह एवं साधुवाद दिया। "तुम पर्याप्त बुद्धिमान् हो तथा अब तुमने सम्पूर्ण भोगासक्ति को निर्मूल कर दिया है।" भाव यह है कि सेवाभक्ति के लिए किसी को भगवान् तभी स्वीकार करते हैं, जब वह प्राकृत परिग्रहों से पूर्णतः मुक्त हो जाय। श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा, "इतना मूल्यवान् कम्बल देह पर डाले हुए भिक्षा माँगना शोभा नहीं देता। यह परस्पर विरोधी होने से धर्म-हानि होती है और लोग भी उपहास करते हैं।"

"भोगासक्ति से मुक्ति पाने के लिए मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह सब आपकी कृपा है।" श्रील सनातन गोस्वामी ने उत्तर दिया। श्रीमन्महाप्रभु उनसे बहुत प्रसन्न हुए एवं दोनों ने पारमार्थिक विषयक चर्चा की। भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु तथा श्रील सनातन गोस्वामी की इस भेंट से पूर्व श्रीमहाप्रभु श्रील रामानन्द राय नामक एक गृहस्थ से मिल चुके थे, उस भेंट में, जिसका विवरण आगे किया जाएगा, श्रीमहाप्रभु ने श्रील राय रामानन्द से अनेक प्रश्न किए तथा श्रील रामानन्द ने गुरुवत् उत्तर दिए। किन्तु इस समय श्रील सनातन ने प्रश्न किए तथा स्वयं श्रीमन्महाप्रभु ने उनके उत्तर दिए।

श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेव के उपदेश तथा शिक्षाएँ जन-साधारण के लिए परम महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीमहाप्रभु ने भक्ति की शिक्षा प्रदान की है, जो जीव का स्वरूपभूत स्वाभाविक धर्म है। भगवत्-विद्या में प्रगति करना वस्तुत: प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। श्रीमहाप्रभु तथा श्रील सनातन के सत्संग में अनेक भगवत् विषयों की विशद् चर्चा हुई है। श्रीमहाप्रभु की कृपा से श्रील सनातन गोस्वामी उनसे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न कर सके, जिनका यथोचित उत्तर श्रीमहाप्रभु ने दिया।

श्रील सनातन गोस्वामी और श्रीमन्महाप्रभु के सम्मिलन से हमें शिक्षा मिलती है कि भगवत्-तत्त्व को जानने के लिए हमें भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु जैसे योग्य गुरु के सानिध्य में जाकर विनम्र जिज्ञासा करनी चाहिए। गीता (४.३४) में उल्लेख है कि गुरु के निकट जाकर भगवत् परायण जीवन व्यतीत करने की विद्या सीखनी चाहिए।

अध्याय ३

श्रीसनातन-शिक्षा

श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन को जो शिक्षा दी है, उससे हम भगवत्-रूप, भगवदैश्वर्य और भगवद्भक्ति विषयक भगवत्तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुत: समस्त तत्त्वों का स्वयं श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन को उपदेश किया है। उस समय, श्रीसनातन ने अत्यन्त दीनभाव से श्रीमन्महाप्रभु के चरणारविन्द में प्रणिपात कर अपने यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, "प्रभो! मैं नीच कुल में जन्मा हूँ। मेरे सभी साथी निन्दनीय हैं तथा मैं पतित, सर्वाधिक अधमाधम हूँ। विषयभोगरूपी कूपान्ध में पड़ा हुआ मैं जल रहा था, जीवन के यथार्थ उद्देश्य का मुझे आभास तक न था। मैं तो अपना वास्तविक हित भी नहीं जानता हूँ। मैं विश्व में एक महान् विद्वान् के रूप में ख्यात हूँ, पर वास्तव में तो ऐसा बड़ा मूर्ख हूँ कि स्वयं भी अपने को विद्वान् मान बैठा हूँ। आपने सेवक के रूप में मुझे स्वीकार किया; आपने ही मुझे सांसारिक बन्धन से मुक्त किया है। इसलिए अब इस मुक्तावस्था में मेरा कर्त्तव्य बताने की कृपा करें।"

इस प्रार्थना से स्पष्ट होता है कि मुक्ति संसिद्धि का परम लक्ष्य नहीं है। मूक्तावस्था में भी क्रिया अनिवार्य है। श्रीसनातन गोस्वामी स्पष्ट कहते हैं, "आपने संसार-बन्धन से मेरी रक्षा की है। अब, मुक्तावस्था में मेरा क्या कर्त्तव्य है?" उन्होंने आगे पूछा, "प्रभो! मैं कौन हूँ? मुझे तापत्रय क्यों सदा जलाया करते हैं? तथा इस संसार-बन्धन से मुक्ति का उपाय क्या है? साध्य-साधन तत्त्व विषयक जिज्ञासा करना तक मैं नहीं जानता। अत: आपसे प्रार्थना है कि कृपाकर इन सब आवश्यक तत्त्वों को मुझसे कहिए।"

गुरु की शरण में जाने की यही पद्धति है। जिज्ञासु को चाहिए कि सर्वप्रथम गुरु के सान्निध्य में जाकर उनके प्रपन्न हो; तत्पश्चात् उनसे अपनी साधना सम्बन्धी जिज्ञासा करे।

श्रीसनातन के परम विनम्र व्यवहार से प्रसन्न होकर श्रीमहाप्रभु बोले, "सनातन! तुम्हें श्रीकृष्ण-कृपा प्राप्त हो चुकी है। इस कारण तुम सब कुछ जानते हो तथा संसार के सब तापों से भी तुम मुक्त हो चुके हो।" प्रभु ने पुनः स्पष्ट किया, "कृष्णभावनाभावित होने के कारण तुम स्वतः ही सर्वज्ञ हो चुके हो। फिर भी विनम्र भक्त होने के कारण ही अपने ज्ञान की पुष्टि के लिए मुझसे पूछते हो। यह अतिशय श्रेयस्कर है।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने प्रसन्नता व्यक्त की। शुद्धभक्त के ये लक्षण हैं। नारद-भक्तिसूत्र में कथन है कि श्रीकृष्णभावनामृत का लोलुप अतिशीघ्र भगवत्-कृपा से श्रीकृष्ण का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "सनातन! तुम भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए योग्य पात्र हो। अतः श्रीकृष्ण-तत्त्व की तुम्हें शिक्षा प्रदान करना मेरा कर्त्तव्य है। अब मैं क्रमशः तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्व समझाता हूँ।"

गुरु के शरणागत होकर अपने स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करना शिष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। इस आध्यात्मिक पद्धति के अनुसार श्रीसनातन पहले ही पूछ चुके हैं कि, "प्रभो! मैं कौन हूँ, तथा किस कारण से मैं तापत्रय से पीड़ित हूँ?" तापत्रय आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक हैं। आध्यात्मिक ताप का अर्थ मन एवं शरीर में उत्पन्न कष्ट है। जीव कभी शारीरिक कष्ट पाता है तो कभी मन से अशान्त रहता है। ये दोनों आध्यात्मिक ताप हैं। इन दुःखों का अनुभव हमें मातृ-गर्भ में ही होने लगता है। जैसा कि हम जानते हैं, अनेक दुःख हमारे शरीर की निर्बलता का अनुचित लाभ उठाकर हमें पीड़ित करते हैं। अन्य जीवों द्वारा प्राप्त होने वाली पीड़ा को आधिभौतिक कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि पीड़ा पहुँचाने वाले जीव बड़े ही हों; मच्छर जैसे छोटे जीव भी सोते समय हमें अपार कष्ट देते हैं। झींगुर जैसे नगण्य जीव कभी-कभी हमें पीड़ित करते हैं तो कभी विभिन्न लोकों में उत्पन्न जीव भी दुःख देते हैं। आधिदैविक ताप का सम्बन्ध स्वर्ग के देवताओं द्वारा की जाने वाली प्राकृतिक दुर्घटनाओं से है। उदाहरणस्वरूप, समय-समय पर तीव्र शीत, ग्रीष्म, बिजली का गिरना, भूकम्प, तूफान, सूखा आदि प्राकृतिक दुर्घटनाएँ हमें ग्रसती हैं। वस्तुतः सब समय हम इनमें से एक या अधिक से पीड़ित रहते हैं।

श्रीसनातन गोस्वामी की जिज्ञासा बुद्धिसम्मत थी। उन्होंने पूछा, "जीव का स्वरूप क्या है? वे सदा तापत्रय से पीड़ित क्यों रहते हैं?" श्रीसनातन अपनी दीनता स्वीकार कर चुके थे। यद्यपि जन समुदाय में वे एक अत्यन्त

विद्वान् के रूप में प्रख्यात थे (वास्तव में वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित भी थे) और स्वयं इस उपाधि को वे स्वीकार कर भी चुके थे, फिर भी अपने स्वरूप का एवं तापत्रय के कारण का उन्हें ज्ञान नहीं था।

गुरु के समीप जाना केवल एक लोकाचार ही नहीं है, वह तो तापत्रय के प्रति गम्भीरतापूर्वक सचेत व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, जो उनसे मुक्ति का इच्छुक हो। ऐसे पुरुष का कर्त्तव्य है कि गुरु के निकट जाए। इस सन्दर्भ में हमें गीता में इसके समान स्थिति पर ध्यान देना चाहिए। युद्ध करने अथवा न करने की समस्या के कारण अनेक द्वन्द्वों से किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाने पर अर्जुन ने अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ली। वहाँ भी परम-गुरु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीव के स्वरूप का उपदेश किया।

भगवद्‌गीता में कहा गया है कि जीव का स्वरूप उसकी आत्मा है। वह पाँचभौतिक नहीं है। आत्मा के रूप में वह परमात्मा, परम सत्यस्वरूप भगवान् का भिन्न-अंश है। गीता से हम यह भी जानते हैं कि जीव का एकमात्र कर्त्तव्य भगवत्-शरणागति है, क्योंकि इसके बिना सुखोपलब्धि नहीं हो सकती। गीता का अन्तिम आदेश यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में पूर्णतः शरणागत हो कर जीव नित्यानन्द में निमग्न हो जाय।

यहाँ भी, श्रीमन्महाप्रभु श्रीसनातन को उत्तर देते समय उसी सत्य की पुनरुक्ति कर रहे हैं, किन्तु एक अन्तर के साथ। श्रीमहाप्रभु ने यहाँ आत्मा विषयक वह जानकारी नहीं दी जो पहले से गीता में विद्यमान है। वरन् उन्होंने श्रीसनातन को श्रीकृष्णोपदेश के आगे शिक्षित किया। महाभागवतों के अनुसार श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण हैं तथा इस दृष्टि से उन्होंने श्रीसनातन गोस्वामी को उपदेश वहाँ से आरम्भ किया, जहाँ अर्जुन को दिया गया गीतोपदेश समाप्त होता है।

"तुम्हारा स्वरूप यह है कि तुम विशुद्ध जीवात्मा हो। इस पाँचभौतिक शरीर का तुम्हारे स्वरूप से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; मन, बुद्धि और अहंकार भी तुम्हारा यथार्थ स्वरूप नहीं है। तुम्हारा यथार्थ स्वरूप यही है कि तुम श्रीकृष्ण के नित्य दास हो। तुम्हारी स्थिति प्रकृति से परे है। श्रीकृष्ण की अन्तरंगा शक्ति स्वरूपतः परा है तथा बहिरंगा शक्ति अपरा है। अन्तरंगा एवं बहिरंगा शक्तियों के मध्य तुम्हारी तटस्थ स्थिति है। श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति होने के कारण श्रीकृष्ण और तुम में अचिन्त्य भेद तथा अभेद है। आत्मा होने से तुम श्रीकृष्ण से अभिन्न हो, जबकि श्रीकृष्ण के अणु-अंश होने के कारण उनसे भिन्न हो।"

यह अचिन्त्य भेद-अभेद जीवात्माओं तथा परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के बीच सदा रहता है। जीव की तटस्थ स्थिति से अचिन्त्य भेदाभेद का सिद्धान्त समझा जा सकता है। जीव सूर्य-प्रकाश के परमाणु-तुल्य हैं जबकि श्रीकृष्ण स्वयं प्रकाशवान् सूर्य जैसे हैं। श्रीमहाप्रभु ने जीवों को अग्नि की देदीप्यमान चिनगारियों की तथा भगवान् को सूर्य की प्रज्वलित अग्नि की उपमा दी है। इस सन्दर्भ में श्रीमहाप्रभु ने विष्णु पुराण (१.२२.५३) से उद्धरण दिया—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥

"इस प्राकृत-जगत् में प्रकाशित प्रत्येक वस्तु परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति का कार्य है। एक स्थान पर प्रज्वलित अग्नि की किरणें जैसे सब दिशाओं में व्याप्त रहती हैं, उसी प्रकार यद्यपि श्रीभगवान् परव्योम में अपने धाम में नित्य विराजमान हैं, पर अपनी विभिन्न शक्तियों का वे सर्वत्र प्रकाश करते हैं। वस्तुतः सारी सृष्टि उन्हीं की शक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकाशों का कार्य है।"

श्रीभगवान् की शक्ति परा और दिव्य है तथा जीव उसका भिन्न-अंश है। भगवान् श्रीकृष्ण की माया नामक एक अन्य शक्ति भी है जो अज्ञान द्वारा आवृत है। यह शक्ति अर्थात् अपरा प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों में विभक्त है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने विष्णुपुराण से एक अन्य श्लोक (१.३.२) उद्धृत किया। उसके अनुसार सारी अचिन्त्य शक्तियों का निवास भगवान् श्रीकृष्ण में है तथा सम्पूर्ण व्यक्त सृष्टि उन्हीं की अचिन्त्य शक्ति का कार्य है।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने आगे कहा कि जीवात्मा क्षेत्रज्ञ कहलाती है। गीता के तेरहवें अध्याय में देह को क्षेत्र तथा जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। यद्यपि स्वरूपतः जीवात्मा अन्तरंगा शक्ति से परिचित है अथवा उसे समझ सकती है, किन्तु माया शक्ति से आवृत होने पर वह अपने को शरीर मान बैठती है। इसी का नाम 'मिथ्या अहंकार' है। 'मैं शरीर हूँ'—इस मिथ्या अहंकार से विमूढ़ और मोहित हुआ जीव संसार में पुनः पुनः देहान्तर करता हुआ नाना दुःख भोगता है। भिन्न-भिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न स्तर तक अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रहता है।

दूसरे शब्दों में, यह जानना चाहिए कि जीव परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अन्तरंगा शक्ति का भिन्न-अंश है। माया-शक्ति अपरा है,

इसलिए इससे मुक्त हो कर चित्शक्ति का उपयोग करने की जीव में सामर्थ्य है। भगवद्गीता में कहा गया है कि अन्तरंगा चिच्छक्ति माया शक्ति से आवृत है। इसी कारण संसार में जीव दुःख भोगने के लिए बाध्य हैं; यहाँ प्रत्येक जीव रज एवं तमोगुण के परिमाण के अनुसार दुःख भोगता है। जो कुछ सचेत हैं वे कम भोगते हैं, किन्तु सामान्यतः तो मायाबन्धन के कारण संसार में सभी दुःख पाते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गीता के सातवें अध्याय से वह उद्धरण दिया, जिसमें कथन है कि भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार से भगवान् श्रीकृष्ण की अपरा माया-शक्ति बनी हैं। परन्तु जीव का वास्तविक स्वरूप तो अन्तरंगा चिच्छक्ति है; इसी शक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि क्रियाशील है। जीवात्मा रूपी चिच्छक्ति के बिना प्राकृत तत्त्वों से निर्मित सृष्टि में स्वयं कार्य करने की सामर्थ्य का अभाव है। यह यथार्थ में ही कहा जा सकता है कि जीव द्वारा चिच्छक्ति परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भुला देना ही उसकी बद्धावस्था में हेतु है। उस सम्बन्ध के विस्मरण के परिणामस्वरूप ही बद्धावस्था होती है। भगवान् के नित्य दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप को फिर से प्राप्त हो जाने पर ही जीव को मुक्ति मिल सकती है।

अध्याय ४

बुद्धिमान् मनुष्य

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने जीव के माया-बन्धन को अनादि कहा है, क्योंकि किसी को भी नहीं पता कि उसका आरम्भ कब हुआ। अनादि का अर्थ यह है कि बद्धावस्था सृष्टि के पूर्व भी थी। सृष्टि होते समय तथा सृष्टि के उपरान्त उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। स्वरूप को भूल जाने के कारण आत्मा होने पर भी जीव संसार में विभिन्न दुःख भोगता है। यह स्मरणीय है कि ऐसे भी नित्य मुक्त जीव हैं जो वैकुण्ठ जगत् में स्थित हैं। ये मुक्त जीव सर्वदा श्रीकृष्णभावनामृत, भगवद्भक्ति में तत्पर रहते हैं।

मायाबद्ध जीवों को पुनर्जन्म में कर्मानुसार विभिन्न प्राकृत शरीर मिलते हैं। बद्धजीव को संसार में अनेक सुख-दुःख बलात् प्राप्त होते रहते हैं। पुण्यकर्मों के फलस्वरूप उसे उच्च लोकों में देव-शरीर प्राप्त होता है तो पापों को भोगने के समय भयंकर नरकों में गिराया जाता है, जहाँ सांसारिक दुःखों से कहीं अधिक यातनाएँ दी जाती हैं। श्रीमहाप्रभु ने ऐसे दण्ड का बड़ा उत्तम उदाहरण दिया है। पूर्वकाल में अपराधी को दण्ड देने के लिए राजा पहले उसे नदी में डुबोते, श्वास के लिए फिर ऊपर निकालते और फिर डुबोते। माया भी जीवात्मा को इसी प्रकार दण्डित तथा पुरस्कृत करती है। दण्डित करने के लिए उसे यातनाओं के जल में डुबोती है और पुरस्कार के समय कुछ समय के लिए बाहर निकालती है। उच्चलोक अथवा जीवन में उच्च स्तर की प्राप्ति स्थायी कदापि नहीं होती। जल में डूबने के लिए फिर नीचे आना ही होगा। संसार में यह क्रम निरन्तर चल रहा है; कभी जीव उच्च लोकों में पहुँच जाता है तो कभी संसार की नारकीय स्थिति में फेंक दिया जाता है।

इस सन्दर्भ में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने भगवान् श्रीकृष्ण के पिता श्रीवसुदेव एवं नारदजी के संवाद से श्रीमद्भागवत (११.२.३७) के निम्नलिखित श्लोक का पाठ किया—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥

महाराज निमि को नव योगेश्वरों के उपदेश के इस श्लोक में 'माया' को 'जीव द्वारा श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध की विस्मृति' बताया गया है। वास्तव में माया का अर्थ है 'जो यथार्थ में नहीं है'—जिसका कोई अस्तित्व नहीं। अतः यह मानना गलत होगा कि जीव का परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं। भगवान् के अस्तित्व में विश्वास न रखना अथवा उनसे अपना कोई सम्बन्ध न मानना 'माया' है। जीवन की इस असत्य मान्यता में तन्मय होने के कारण ही मनुष्य सदा भयभीत एवं उद्विग्न रहता है। भाव यह है कि भगवान् से बहिर्मुखता ही 'माया' है। वैदिक शास्त्रों का वास्तविक ज्ञाता, भगवान् श्रीकृष्ण की शरण अवश्य ग्रहण करता है और उन्हीं को जीवन का परम लक्ष्य बना लेता है। भगवान् से अपने सम्बन्ध की स्वरूप-स्थिति को भूल बैठते ही जीव माया के बन्धन में पड़ जाता है। यह उसके अहंकार तथा देहात्म बुद्धि का कारण सिद्ध होता है। वस्तुतः संसार विषयक उसकी सारी मान्यता शरीर को अपना रूप समझने से होती है, क्योंकि इसी भ्रम से उसका शरीर और उसके पदार्थों में आसक्ति हुआ करती है। इस बन्धन से मुक्ति के लिए उसे स्वधर्म करते हुए श्रद्धा, विश्वास एवं भक्तिभाव सहित परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की शरण लेनी चाहिए।

बद्धजीव प्राकृत-जगत् में मिथ्या सुखानुभव करता है। परन्तु शुद्ध भक्त की शिक्षा रूपी कृपा की प्राप्ति होने पर प्राकृत सुखेच्छा को त्याग कर वह श्रीकृष्णभावनामृत से प्रबुद्ध हो जाता है। श्रीकृष्ण-भक्ति में संलग्न होते ही सारी भोगेच्छा निवृत्त हो जाती है जिससे वह शीघ्र संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार की स्थिति नहीं हो सकती। श्रीकृष्णभावनामृत प्राकृत सुख की इच्छा रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला दिव्य प्रकाश है।

श्रीकृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने को ईश्वर मानने की भूल कदापि नहीं करता। यह जानते हुए कि अपने स्वार्थ में ही लगे रहने से वह कभी सुखी नहीं हो सकेगा अतः अपनी सम्पूर्ण शक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पित करके वह माया-बन्धन-मुक्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीगौर-सुन्दर महाप्रभु ने गीता (७.१४) का यह श्लोक पढ़ा—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

"भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— "मेरी यह दैवी शक्ति त्रिगुणमयी माया पार पाने में अत्यन्त कठिन है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं।"

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा कि सकाम कर्म करते समय बद्धजीव को अपने यथार्थ स्वरूप का विस्मरण रहता है। कभी-कभी सांसारिक कर्मों से थक जाने के कारण वह मुक्ति के लिए परम ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण से एक होने की इच्छा करता है। पर अन्य समय यही मानता है कि निज-इन्द्रिय तृप्ति के लिए अथक् परिश्रम करने से वह सुखी हो सकेगा। दोनों ही दशाओं में वह मायावृत है। ऐसे मोहित बद्ध जीवों के ज्ञान के लिए परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने वेद, पुराण, वेदान्त, सूत्रादि अनन्त वैदिक साहित्य प्रदान किए हैं। इन सब का एकमात्र उद्देश्य वैकुण्ठ जगत् की ओर जीव का मार्गदर्शन करना है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा कि सद्‌गुरु, भगवान् श्रीकृष्ण तथा वैदिक शास्त्रों की कृपा होने पर जीव प्रबुद्ध हो कर श्रीकृष्ण-भावनामृत में आत्मोन्नति करता है। अपने भक्तों पर सदा कृपामय होने के कारण ही श्रीकृष्ण ने ये वैदिक ग्रन्थ प्रदान किए हैं जिनसे भगवान् से अपना सम्बन्ध जानकर जीव उस सम्बन्ध के अनुसार क्रिया कर सके। इस विधि से जीव को जीवन का चरम फल प्राप्त हो जाता है।

वस्तुतः जीवमात्र का लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही है। वह भगवान् से अपना सम्बन्ध जान सकता है। संसिद्धि प्राप्ति के लिए कर्त्तव्य-कर्म करने का नाम भक्तिपथ है। परिपक्व अवस्था में यही भक्ति जीव के जीवन के परम **फल भगवत्प्रेम में परिणत होती है**। यथार्थतः धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि जीव का उद्देश्य नहीं है। जीव को मोक्ष तक की कामना नहीं करनी चाहिए। फिर धर्म, अर्थ, काम में सिद्धि प्राप्ति करने की तो बात ही क्या? जीव की एकमात्र अभिलाषा भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेममयी दिव्य सेवा की प्राप्ति होनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण के सर्वाकर्षक गुण, इस दिव्य सेवा की प्राप्ति में सहायक हैं तथा कृष्णभावनाभावित सेवा से ही जीव श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध रस का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

मनुष्य द्वारा जीवन के परम लक्ष्य की जिज्ञासा करने के सम्बन्ध में भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के मध्व भाष्य से एक कथा सुनाई (मध्व भाष्य ५.५.१०-१३)। इस कथा में एक सर्वज्ञ ज्योतिषी द्वारा एक दरिद्र को दिया गया उपदेश है, जो अपना भविष्य जानने के लिए आया था। उस व्यक्ति की जन्म-पत्री को देखकर उसकी

दरिद्रता पर विस्मय करते हुए ज्योतिषी बोला, "तुम इतने दु:खी क्यों हो" मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे घर में तुम्हारे पिता का धन गड़ा पड़ा है। तुम्हारी जन्म-पत्री बता रही है कि विदेश में मरने के कारण पिता तुम्हें उसका संकेत न दे सका, किन्तु अब उसे ढूँढ़कर तुम सुखी हो जाओ। इस कथा का उद्धरण यह उद्देश्य स्पष्ट करता है कि जीव दु:ख भोग रहा है, क्योंकि अपने परम पिता भगवान् श्रीकृष्ण की गुप्त निधि का उसे ज्ञान नहीं है। वह गुप्त निधि कृष्णप्रेम है। प्रत्येक वैदिक ग्रन्थ में बद्धजीव को उसे खोजने का आदेश है। गीतानुसार यद्यपि बद्धजीव सर्वाधिक धनवान् पुरुष भगवान् का पुत्र है, पर उसे इसका ज्ञान नहीं है। उसे वैदिक शास्त्र इसलिए प्रदान किए गए हैं कि वह अपने पिता तथा पैतृक सम्पदा को पा जाय।

सर्वज्ञ ज्योतिषी ने उस मनुष्य को आगे परामर्श दिया— "घर के दक्षिण कोने को मत खोदना, क्योंकि वहाँ पर खोदने से विषैले ततैया तुम्हें काट लेंगे और धन भी न मिलेगा। तुम्हें केवल पूर्व दिशा में खोज करनी चाहिए क्योंकि वहाँ कृष्णभक्ति का यथार्थ प्रकाश है। दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर के कोनों में क्रमश: वैदिक कर्मकाण्ड, शुष्क ज्ञान तथा ध्यानयोग है।"

सर्वज्ञ के परामर्श पर सभी को ध्यान देना चाहिए। कर्मकाण्ड की पद्धति से परम लक्ष्य को खोजने पर जीव को निश्चित रूप से निराश होना पड़ेगा। इस पद्धति में पण्डितों को आज्ञानुसार कर्म करना होता है और वे बदले में धन लेते हैं। जीव इन कर्मों से सुखी होने की इच्छा रख सकता है, किन्तु वास्तव में इनसे यदि कुछ लाभ हो भी जाय तो वह नश्वर एवं क्षणभगुंर ही होता है। जीव के भौतिक कष्ट बने ही रहेंगे। इस प्रकार कर्मकाण्ड से वह यथार्थ सुख कदापि नहीं प्राप्त कर सकता, वरन् उसे केवल अधिकाधिक भौतिक दु:ख ही प्राप्त होंगे। यही उत्तर दिशा में खोदने अथवा योग साधना द्वारा गुप्त निधि को खोजने के विषय में सत्य है। इस पद्धति से जीव भगवान् श्रीकृष्ण से एक होना चाहता है। पर यह किसी अजगर द्वारा निगले जाने के समान है। कभी-कभी एक बड़ा सर्प अपने से छोटे सर्प को निगल जाता है। जीव का निर्विशेष ब्रह्म में लीन होना ठीक ऐसा ही है। सिद्धि की खोज में संलग्न छोटा सर्प निगला जाता है। अत: यह कोई समाधान नहीं हुआ। पश्चिम में भी धन रक्षक यक्ष रूपी विघ्न विद्यमान है। गुप्त निधि की प्राप्ति यक्ष से प्रार्थना करने पर कभी नहीं हो सकती। परिणाम में मृत्यु ही मिलेगी। कल्पनापरायण मन ही यक्ष है। अत: स्पष्ट है कि मनो-धर्ममय ज्ञान मार्ग भी आत्म विनाशी सिद्ध होता है।

उस गुप्त निधि को पाने का एकमात्र साधन पूर्व दिशा में पूर्ण कृष्ण-भावनाभावित भक्ति से निधि को खोजना है। वस्तुतः भगवद्भक्ति ही अनन्त गुप्त निधि है तथा उसे प्राप्त करने पर जीव सदा के लिए धनाढ्य हो जाता है। कृष्णभक्ति-विहीन को ही प्राकृत लाभों का अभाव रहता है। कभी उसे विषैले सर्प काटते हैं तो वह उद्विग्न हो जाता है। कभी अद्वैतवाद का अनुकरण कर अपना स्वरूप खो बैठता है तो कभी अजगर उसे निगल जाता है। वस्तुतः इन सब को त्याग कर श्रीकृष्णभावनामृत (कृष्णभक्ति) में निष्ठ होने पर ही जीवन की संसिद्धि हो सकती है।

अध्याय ५

भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन

वस्तुत: सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मनुष्य को भक्ति की सिद्धावस्था की ओर ही प्रेरित कर रहा है। सकाम कर्म, ज्ञान तथा योग मार्ग से जीव को **कृष्ण सेवा रूपी परम सिद्धावस्था** की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल भक्ति से ही भगवत्प्राप्ति सम्भव है। इसलिए वैदिक शास्त्रों ने जीव को यह मार्ग स्वीकार करने की शिक्षा दी है। श्रीमहाप्रभु ने इसका प्रमाण श्रीमद्-भागवत के श्रीकृष्ण-उद्धव सम्वाद से दिया—

न साधयति मां, योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।

"हे उद्धव! योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, संन्यास आदि मुझे उस प्रकार वशीभूत नहीं कर सकते, जैसे मेरी अनन्य प्रेमभक्ति मुझे वशीभूत करती है।" (भागवत ११.१४.२०)

श्रीकृष्ण केवल भक्तों के प्रेमास्पद हैं तथा उनकी प्राप्ति का एकमात्र मार्ग भक्ति है। एक अकुलीन भक्त भी भक्ति के प्रताप से स्वत: सब विकारों से मुक्त हो सकता है। भक्ति भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति का एकमात्र पथ है। सारे वेद में केवल इसी को परम संसिद्धि स्वीकार किया गया है। जैसे किसी निधि की प्राप्ति से एक दरिद्र सुखी हो जाता है, उसी प्रकार भक्ति से युक्त होने पर जीव के सारे क्लेश स्वत: निवृत्त हो जाते हैं। भगवद्भक्ति के उत्तरोत्तर विकास से भगवत्प्रेम का उदय होता है तथा इस प्रेम की क्रमश: वृद्धि से जीव बन्धन-मुक्त हो जाता है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि दरिद्रतानाश तथा बन्धन-मुक्ति ही कृष्णप्रेम के चरम फल हैं। **यथार्थ कृष्णप्रेम तो प्रेममयी सेवा के आस्वादन में ही है।** वैदिक शास्त्रों से हमें ज्ञात होता है कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण एवं जीवों में ऐसे प्रेममय सम्बन्ध की प्राप्ति कराना ही भक्ति का कार्य है। हमारा यथार्थ कार्य है

भक्ति तथा चरमतम लक्ष्य है भगवत्प्रेम। वैदिक शास्त्रानुसार श्रीकृष्ण परम केन्द्र हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण सम्बन्धी ज्ञान से जीव की सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने संकेत किया कि यद्यपि (पद्मपुराण के अनुसार) विविध देवताओं की उपासना के लिए विभिन्न शास्त्र हैं, किन्तु ऐसी शिक्षा लोगों को मोहित करती है, और वे इन देवों को ही परतत्त्व मानने लगते हैं। परन्तु पुराणों का सावधानीपूर्वक अनुसन्धान और अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही आराध्य-तत्त्व हैं। उदाहरण-स्वरूप, मारकण्डेय पुराण में देवी की उपासना अथवा दुर्गा-पूजा का निर्देश है। पर उसी चण्डिका में यह भी कहा गया है कि काली सहित सब देवगण स्वयं भगवान् श्रीविष्णु की विविध शक्तियाँ हैं। अतः पुराणों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भगवान् श्रीविष्णु एकमात्र आराध्य तत्त्व हैं। निष्कर्ष यही है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, सब प्रकार की उपासना के लक्ष्य परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भगवद्‌गीता से स्पष्ट है कि देवोपासना करने वाले वास्तव में श्रीकृष्ण को ही भजते हैं, क्योंकि देवगण श्रीविष्णु अथवा श्रीकृष्ण के शरीरांग हैं। इसीलिए भगवद्‌गीता में देवोपासना को अविधिपूर्वक कृष्णोपासना बतलाया है (गीता ७.२०-२३; ९.२३)। श्रीमद्‌भागवत में इस कथन की पुष्टि है—"विभिन्न देवों की उपासना से क्या लाभ होगा?" वैदिक शास्त्रों में विभिन्न क्रिया-पद्धतियों का उल्लेख है, इनमें एक कर्मकाण्ड है तथा दूसरा है ज्ञानकाण्ड। अतः वैदिक शास्त्रों के विभिन्न क्रिया-पद्धतियों वाले विभागों का क्या प्रयोजन है? विभिन्न देवो-पासनाओं का निर्देश करने वाले वैदिक मन्त्रों का क्या अभिप्राय है? तथा परम सत्य को जानने के लिए मनोधर्म करने का क्या लाभ है? श्रीमद्‌भागवत का उत्तर है कि वेद में वर्णित ये सभी वास्तव में भगवान् श्रीविष्णु की उपासना का निर्देश करते हैं अर्थात्, परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना के ये सभी परोक्ष मार्ग हैं। वेद के कर्मकाण्ड में वर्णित यज्ञ भगवान् श्रीविष्णु की प्रीति के लिए हैं। यथार्थ में, यज्ञों का प्रयोजन विष्णु-प्रीति के लिए होने से श्रीविष्णु का एक नाम यज्ञेश्वर भी है।

सब के सब प्रारम्भिक भक्त एक ही आध्यात्मिक स्तर पर नहीं होते। इसीलिए विभिन्न मायिक गुणों में उनकी स्थिति के अनुसार उनके लिए विभिन्न देवतत्त्वों की उपासना का विधान है। अभिप्राय यह है कि ऐसे कनिष्ठ अधिकारी भी क्रमशः शुद्ध सत्त्व के स्तर पर पहुँच कर भगवान्

श्रीविष्णु की सेवा में नियुक्त हो सकें। जैसे मांस खाने के व्यसनी साधकों को पुराणों में काली को अर्पित करने के बाद मांस-भक्षण करने को कहा गया है।

माया से भिन्न परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की विशिष्टता का ज्ञान कराना ही वेद के ज्ञानकाण्ड का अभिप्राय है। माया की स्थिति का ज्ञान होने पर जीव भक्ति-भाव से श्रीकृष्ण के प्रति उन्मुख हो जाता है। ज्ञान का वास्तविक प्रयोजन यही है जैसा कि गीता (७.१९) से प्रमाणित है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"अनेक जन्म-मृत्यु के बाद यथार्थ ज्ञानी मुझे सब कारणों का कारण एवं सर्वव्यापक जान कर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है।"

अतः यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण वैदिक कर्म, उपासना तथा ज्ञान के परम लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन को भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्त स्वरूपों तथा अपार वैभव के सम्बन्ध में बताया। उन्होंने चिच्छक्ति, माया-शक्ति तथा जीव-शक्ति के प्रकाशों का भी वर्णन किया। श्रीमहाप्रभु ने बताया कि परव्योम में स्थित वैकुण्ठ लोक तथा यह प्राकृत ब्रह्माण्ड दो भिन्न प्रकाश हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण की चित् तथा माया नामक भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्राकट्य हैं। जहाँ तक भगवान् श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है, वे स्वयं अपनी अन्तरंगा चिच्छक्ति में स्थित हैं। श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कन्ध में इन दो शक्तियों के भेद का स्पष्ट विश्लेषण है। दशम स्कन्ध के प्रथम श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामी ने भी इसे स्पष्ट किया है। श्रीमहाप्रभु ने श्रीधर स्वामी को श्रीमद्भागवत का प्रामाणिक टीकाकार माना है। इसलिए श्रीमहाप्रभु ने उसी टीका को उद्धृत करके स्पष्ट किया कि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण-लीला का वर्णन है, क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण सब सृष्टि के आश्रय हैं। सर्वाश्रय के रूप में ही श्रीधर स्वामी ने उनकी वन्दना की है।

इस संसार में दो तत्त्व क्रियाशील हैं। एक तो सबका आदि कारण एवं सर्वाश्रय है; दूसरा इस प्रथम आदि तत्त्व से निकला है। परम सत्य भगवान् सृष्टि-प्रकाशों के शरण्य हैं तथा आश्रय नाम से प्रसिद्ध हैं। आश्रय तत्त्व परम सत्य के अधीन रहने वाले अन्य सब तत्त्व आश्रित हैं। प्राकृत सृष्टि

का उद्देश्य बद्धजीव को मुक्त होकर आश्रय-तत्त्व की शरण में लौट जाने का अवसर प्रदान करना है। सम्पूर्ण लौकिक सृष्टि के आश्रय-तत्त्व भगवान् श्रीविष्णु पर आश्रित होने के कारण, विभिन्न देवगण तथा शक्ति-प्राकट्य जीव तथा सब प्राकृत तत्त्व कृष्णाश्रित हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम सत्य हैं। इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत से स्पष्ट होता है कि सभी कुछ परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के आश्रय में है। अतः गीता के कथनानुरूप पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति केवल भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्वबोध से ही हो सकती है।

इसके अनन्तर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप विवरण प्रारम्भ किया तथा श्रीसनातन गोस्वामी से एकाग्र होकर सुनने को कहा। उन्होंने कहा कि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण परम सत्यस्वरूप हैं। वे सब कारणों के कारण, सबके आदि एवं अंशी हैं। तथापि व्रज अथवा गोलोक वृन्दावन में वे केवल नन्द महाराज के कुमार के रूप में किशोर-शिरोमणि हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। सर्वाश्रय होने के साथ ही वे परम-ईश्वर हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह के दिव्य गुणों के विषय में ब्रह्मसंहिता (५:१) से प्रमाण प्रस्तुत किया—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द कहलाने वाले श्रीकृष्ण ईश्वरों के भी परम-ईश्वर हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे सब के आदि हैं, किन्तु स्वयं अनादि तथा सब कारणों के कारण हैं।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु प्रमाणित करते हैं कि षडैश्वर्यपूर्ण श्रीकृष्ण आदिपुरुष स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्ण का निज धाम गोलोक वृन्दावन परव्योम के सब लोकों में सर्वोपरि है।

श्रीमहाप्रभु ने श्रीमद्‌भागवत (१.३.२८) से भी एक श्लोक उद्‌धृत किया—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

"सारे अवतार भगवान् श्रीकृष्ण के अंश अथवा कला-स्वरूप हैं। परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् आदिपुरुष हैं। देवताओं के शासन को भ्रष्ट करने के इच्छुक असुरों के उपद्रव को शान्त करने के लिए वे श्रीकृष्ण इस ब्रह्माण्ड में अथवा किसी दूसरे में पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं।"

भगवान् श्रीकृष्ण को जानने के तीन भिन्न मार्ग हैं— ज्ञानमार्ग की प्रयोगसिद्ध पद्धति, ध्यानयोग पद्धति तथा श्रीकृष्णभावनामृत की पद्धति। ज्ञान के साधन से श्रीकृष्ण का ब्रह्म-स्वरूप जाना जाता है; योग साधना से श्रीकृष्ण के सर्वव्यापक परमात्मा तत्त्व की जानकारी होती है तथा पूर्ण कृष्णभावनाभावित सेवा-भक्ति से स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है। श्रीमहाप्रभु ने श्रीमद्भागवत (१.२.११) से यह प्रमाण दिया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

"परतत्त्व के तत्त्वज्ञ निराकार ब्रह्म, परमात्मा तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण—परतत्त्व के इन तीन स्वरूपों का वर्णन करते हैं।" ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् तीनों तत्त्वतः एक हैं। परन्तु अपनी विधि के अनुसार परतत्त्व की क्रमशः ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के स्वरूप में अनुभूति होती है।

ब्रह्मानुभूति से केवल भगवान् श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह से निकली उनकी अंगकान्ति का दर्शन होता है। इस अंगकान्ति की तुलना सूर्य की ज्योति से की गई है। सूर्य-मण्डल में सूर्य देवता है, स्वयं सूर्य है तथा सूर्य से निकला सूर्यदेव का ज्योतिर्मय प्रकाश है। इसी प्रकार ब्रह्मज्योति अथवा निराकार ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के विग्रह का प्रकाश मात्र है। इसके समर्थन में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने ब्रह्मसंहिता का एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत किया। ब्रह्माजी ने कहा है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"श्रीकृष्ण की श्रीविग्रह-ज्योति से अनन्त ब्रह्मज्योति प्रकाशित है। उस ज्योति में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड अनन्त लोकों से परिपूर्ण है। उन्हीं आदिपुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ।" (ब्रह्म-संहिता ५.४०)

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा कि सर्वव्यापक परमात्मा स्वरूप, जो देहमात्र में विद्यमान है, श्रीकृष्ण का केवल अंश-प्रकाश है। सर्वात्मा होने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। इस विषय में श्रीमहाप्रभु ने श्रीमद्भागवत में श्रीशुक-परीक्षित संवाद का एक अन्य श्लोक सुनाया। भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य वृन्दावन-लीला का वर्णन सुनते हुए महाराज परीक्षित ने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से श्रीकृष्ण के प्रति वृन्दावनवासियों के इतने अधिक आकर्षण का कारण पूछा। उत्तर में शुकदेव जी बोले—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ।।

"भगवान् श्रीकृष्ण को सब आत्माओं का आत्मा जानना चाहिए। वे परमात्मा की भी आत्मा हैं। श्रीवृन्दावन में वे नरवत् लीला कर रहे थे— लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए तथा यह दिखाने के लिए कि वास्तव में वे साकार हैं, निराकार नहीं।" (भा० १०.१४.५५)

जीवों के समान ही भगवान् श्रीकृष्ण का भी अपना निजी दिव्य स्वरूप है। भेद यही है कि वे परम-ईश्वर हैं तथा अन्य सारे जीव उनके अधीन हैं। जीव भी उनके सान्निध्य में दिव्य सच्चिदानन्द-रस का आस्वादन कर सकते हैं। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने गीता का एक अन्य श्लोक पढ़ा, जिसमें अर्जुन से अपनी विविध विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि वे स्वयं अपने अंश श्रीगर्भोदकशायी विष्णु के रूप से इस ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में श्रीक्षीरोदकशायी रूप से भी प्रविष्ट होते हैं। तदुपरान्त परमात्मा रूप से वे जीवमात्र के हृदय में प्रवेश करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं स्पष्ट किया है कि परम सत्य को पूर्णत: जानने का एकमात्र मार्ग पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्ति करना है। भक्ति से ही परम सत्य की अवधि भगवान् श्रीकृष्ण का ज्ञान हो सकता है।

अध्याय ६

सब भगवत्रूप अभिन्न हैं

भगवद्भक्ति से यह समझा जा सकता है कि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वप्रथम "स्वयं रूप" से प्रकट होते हैं, तत्पश्चात् क्रमशः "तदेकात्म रूप" तथा "आवेश रूप" का प्राकट्य होता है। अपनी दिव्य नित्य लीला में इन्हीं तीन स्वरूपों में वे अपना दिव्य वपु प्रकट करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का स्वयं रूप उनके अन्य स्वरूपों को जानने वाले के द्वारा भी समझा जा सकता है। भाव यह है कि स्वयं रूप द्वारा श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है। तदेकात्म रूप अधिकांश में स्वयं रूप के समान होता है, पर शारीरिक लक्षणों में कुछ-कुछ भेद रहता है। तदेकात्म रूप के "स्वांश" एवं "विलास" नामक दो भेद हैं। जहाँ तक 'आवेश रूप' का सम्बन्ध है, भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा किसी योग्य जीव को अपने प्रतिनिधित्त्व की शक्ति प्रदान करने पर उस जीव को 'आवेश रूप' अथवा 'शक्त्यावेश-अवतार' कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के स्वयं रूप के भी 'स्वयं रूप' और 'स्वयं प्रकाश', ये दो भेद हैं। उनका स्वयं रूप तो एकमात्र श्रीवृन्दावन में स्थित है जिससे वे व्रजवासियों के साथ लीला करते हैं। स्वयं प्रकाश के "प्राभव" तथा "वैभव" नामक दो विभेद हैं। उदाहरणस्वरूप रास नृत्य के समय उसमें सम्मिलित गोपीजनों के साथ नृत्य करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने बहु रूप धारण किए थे। इसी प्रकार, अपनी १६,१०८ रान्नियों के सुख हेतु उन्होंने द्वारका में १६,१०८ रूप धारण किए। महान् योगी भी कभी-कभी विभिन्न विधियों से देह विस्तार कर लेते हैं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना स्वरूप-विस्तार किसी योग द्वारा नहीं किया था। श्रीकृष्ण की प्रत्येक मूर्ति का अपना स्वरूप था। वैदिक इतिहास में सौभरि ऋषि ने योग द्वारा अपने पचास रूप धारण किए थे, किन्तु स्वयं एक ही रहे। श्रीकृष्ण द्वारा अनेक वपु धारण करने के समय उनका प्रत्येक वपु-प्रकाश अपना अलग स्वरूप रखता था। द्वारका के

विभिन्न प्रासादों में भगवान् श्रीकृष्ण का एक ही समय दर्शन कर नारदजी अत्यन्त विस्मित हुए थे। सामान्य योगी के देह-विस्तार से नारद को विस्मय नहीं होता, क्योंकि वे स्वयं उस विधि के ज्ञाता थे। श्रीमद्‌भागवत में वर्णन है कि श्रीकृष्ण के पृथक्-पृथक् अनेक वपु देखकर वे आश्चर्य-चकित हो उठे। उन्हें आश्चर्य हुआ कि अपने १६,१०८ महलों में से प्रत्येक में अपनी सब महिषियों (रानियों) सहित श्रीकृष्ण एक साथ कैसे विराजमान हैं। प्रत्येक महिषी के साथ वे अन्य-अन्य रूपों में अन्य-अन्य क्रिया कर रहे थे। एक रूप में अपने पुत्रों से क्रीड़ा कर रहे थे तो दूसरे रूप में कुछ गृहकृत्य में संलग्न थे। वे ऐसी विभिन्न क्रियाएँ अपने "वैभव प्रकाश" में करते हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के रूपों के अन्य अनन्त प्राकट्य हैं, किन्तु अनन्त प्राकट्य होने पर भी वे सब अभिन्न हैं। दो रूपों में कुछ भी भेद नहीं रहता। श्रीभगवान् की यही अद्वयता है।

श्रीमद्‌भागवत में वर्णन है कि श्रीकृष्ण-बलराम को गोकुल से मथुरा ले जाते हुए यमुना-जल में प्रवेश करने पर अक्रूर ने जल में परव्योम के सब लोकों का दर्शन किया। साथ ही, उन्होंने नारद एवं सनकादि द्वारा सेव्य विष्णु रूपधारी भगवान् श्रीश्यामसुन्दर को भी देखा। श्रीमद्‌भागवत (१०.४०.७) में उल्लेख है—

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मायास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्॥

"अनेक उपासक विभिन्न उपासना-पद्धतियों से पवित्र हो जाते हैं—जैसे वैष्णव, आर्य आदि। ये अपने विश्वास तथा ज्ञान के अनुसार परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को भजते हैं। भिन्न-भिन्न उपासना पद्धतियों में भगवान् के विभिन्न शास्त्रोक्त रूपों की उपासना होती है। किन्तु परम लक्ष्य तो भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना ही है।"

अपने वैभव-प्रकाश में श्रीभगवान् बलराम रूप में प्रकट हैं। बलराम-स्वरूप श्रीकृष्ण के समान है। दोनों में केवल वर्ण का अन्तर है—श्रीकृष्ण का वर्ण नीलाभ तथा श्रीबलराम का गौरवर्ण है। जगत् में प्राकट्य के समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी जननी देवकी के आगे चतुर्भुज-नारायण रूप प्रकट किया था। यह भी उनका वैभव-प्रकाश था। फिर माता-पिता के अनुरोध से वे द्विभुज हो गए। इस प्रकार कभी वे चतुर्भुज रूप प्रकट करते हैं, कभी द्विभुज नराकार वपु। द्विभुज रूप वैभव-प्रकाश है तथा चतुर्भुज रूप प्राभव-प्रकाश है। अपने 'स्वयं रूप' में भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल बाल के समान हैं;

स्वयं भी अपने को केवल वही समझते हैं। पर वासुदेव रूप में अपने को क्षत्रिय-पुत्र समझ कर राजकीय शासक के समान लीला करते हैं।

व्रजेन्द्रनन्दन के द्विभुज रूप में ऐश्वर्य, स्वरूप, सौन्दर्य, धन, वैदग्ध, आकर्षण तथा लीला-विलास का पूर्ण प्रकाश है। वैष्णव-साहित्य के अनुसार तो कभी-कभी वासुदेव रूप में वे अपने ही वृन्दावन के गोविन्द रूप के प्रति आर्कषित हो जाते हैं। अतः गोविन्द और वासुदेव रूपों में अभेद होने पर भी वासुदेव रूप में श्रीकृष्ण गोपालक गोविन्द रूप के आस्वादन के इच्छुक हो उठते हैं। इस सन्दर्भ में 'ललितमाधव' में (४.१९) उद्धव को सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं— "हे सखे! गोविन्द का गोपवेश मुझे आकृष्ट कर रहा है। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि इसी पर मुग्ध व्रज-रमणियों के समान बन जाने के लिए मेरा मन चंचल हो उठा है।" आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण कह रहे हैं— "अहो! कैसा अपूर्व चमत्कारजनक एवं अनिर्वचनीय मेरा यह श्रेष्ठ माधुर्य है, जिसे देख कर स्वयं मेरा चित्त भी लुब्ध हो रहा है तथा श्रीराधा की भाँति उसके उपभोग के लिए मैं लालयित हो उठा हूँ।"

श्रीकृष्ण के कुछ ऐसे रूप भी हैं जो किंचिन्मात्र उनसे भिन्न हैं। इन्हें 'तदेकात्म रूप' कहते हैं। इनके 'विलास' और 'स्वांश' भेद हैं। इनके प्राभव और वैभव नामक विभेद हैं। ऐसे असंख्य प्राभव विलास हैं जिनसे श्रीवासुदेव, श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न तथा श्रीअनिरुद्ध आदि रूपों में श्रीकृष्ण आत्म-विस्तार करते हैं। वे कभी स्वयं का गोपाल भाव में चिन्तन करते हैं तथा कभी वसुदेवनन्दन राजकुमार भाव में। उनके इस चिन्तन की संज्ञा 'लीला' (विलास) है। भगवान् के वैभव प्रकाश तथा प्राभव-विलास में स्वरूपतः भेद नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण एवं बलराम के रूपों में वर्ण भेद रहता है। श्रीवासुदेव, श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न तथा श्रीअनिरुद्ध आदि चतुर्व्यूह में हैं।

विभिन्न लोकों और स्थलों में असंख्य चतुर्व्यूह हैं, पर द्वारका तथा मथुरा में तो उनका नित्य प्राकट्य है। वासुदेवादि के चतुर्व्यूह से चौबीस प्रधान मूर्तियाँ प्रकट होती हैं। हाथों में अस्त्रादि (शंख, गदा, पद्म तथा चक्र) की स्थिति के भेदानुसार उनमें नाम-भेद है; वे सभी वैभव विलास हैं। नारायण अथवा वैकुण्ठ नामक परव्योम के सभी लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण का चतुर्व्यूह रूप रहता है। वैकुण्ठ में उनका प्रकाश चतुर्भुज नारायण रूप से होता है। प्रत्येक नारायण रूप से श्रीवासुदेव, श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न तथा श्रीअनिरुद्ध प्रकट होते हैं। भगवान् नारायण मध्य में विराजमान रहते हैं तथा वासुदेवादि उनको घेरे रहते हैं। इन चतुर्भुज रूपों से फिर केशवादि

तीन-तीन प्राकट्य होते हैं। इनकी संख्या बारह है तथा हाथों में आयुधों की स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम हैं।

श्रीवासुदेव से श्रीकेशव, श्रीनारायण और श्रीमाधव का प्राकट्य होता है। श्रीसंकर्षण के प्राकट्य हैं— श्रीगोविन्द, श्रीविष्णु तथा श्रीमधुसूदन (ज्ञात रहे कि यह गोविन्द रूप वृन्दावन के व्रजेन्द्रनन्दन रूप से सर्वथा भिन्न है)। इसी प्रकार श्रीप्रद्युम्न से श्रीत्रिविक्रम, श्रीवामन तथा श्रीश्रीधर और श्रीअनिरुद्ध से श्रीहृषीकेश, श्रीपद्मनाभ एवं श्रीदामोदर का प्रकाश होता है।

अध्याय ७

असंख्य भगवत्रूप

वैष्णव पंचाग के अनुसार वर्ष के बारह मासों के नाम वैकुण्ठस्थित भगवान् श्रीकृष्ण के बारह रूपों पर आधारित हैं। ये रूप अपने अपने मास के अधिष्ठातृ-देवता माने जाते हैं। यह वैष्णव-वर्ष मार्गशीर्ष मास (अक्टूबर-नवम्बर) से प्रारम्भ होता है। शेष-नवम्बर को वैष्णव केशव कहते हैं। दिसम्बर से सितम्बर के नाम क्रमशः हैं नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश तथा पद्मनाभ। अक्टूबर के पूर्व पक्ष को दामोदर कहते हैं। (यशोदा मैया द्वारा रस्सी से बाँधे जाने पर श्रीकृष्ण का दामोदर नाम पड़ा था, पर अक्टूबर मास का दामोदर रूप उससे भिन्न है)। जिस प्रकार वर्ष के मास परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के बारह नामों से प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार इन्हीं भगवन्नामों के अनुसार वैष्णवसमाज शरीर पर द्वादश तिलक-चिह्न धारण करता है। उदाहरणस्वरूप, ललाट के तिलक का नाम केशव है। इसी प्रकार उदर, वक्षःस्थल, हस्तादि पर तिलकों के अन्य-अन्य नाम हैं। ये नाम मासों के नाम पर हैं।

भगवच्चतुर्व्यूह (श्रीवासुदेव, श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न तथा श्रीअनिरुद्ध) से आठ "विलास मूर्त्ति" प्रकट होती हैं। उनके नाम हैं—श्रीपुरुषोत्तम, श्रीअच्युत, श्रीनृसिंह, श्रीजर्नादन, श्रीहरि, श्रीकृष्ण, श्रीअधोक्षज तथा श्रीउपेन्द्र। इनमें श्रीअधोक्षज तथा श्रीपुरुषोत्तम श्रीवासुदेव के 'विलास' हैं। इसी भाँति, श्रीउपेन्द्र तथा श्रीअच्युत श्रीसंकर्षण के रूप हैं; श्रीनृसिंह एवं श्रीजर्नादन श्रीप्रद्युम्न के प्राकट्य हैं तथा श्रीहरि और श्रीकृष्ण श्रीअनिरुद्ध के विलास-स्वरूप हैं। (ये कृष्ण आदि पुरुष श्रीकृष्ण से भिन्न हैं।)

ये चौबीस मूर्त्तियाँ प्राभव चतुर्व्यूह के विलास-प्रकाश हैं। अस्त्रादि-धारण के भेद से सबके भिन्न-भिन्न नाम हैं। इन चौबीस मूर्त्तियों में विलास तथा प्राभव दोनों रूप हैं। श्रीपद्मनाभ, श्रीत्रिविक्रम, श्रीवामन, श्रीहरि,

श्रीकृष्ण आदि के आकार में भी भेद है। श्रीवासुदेवादि चतुर्व्यूह श्रीकृष्ण का प्राभव-विलास है और शेष बीस इस चतुर्व्यूह के विलास हैं। इन सबके परव्योम में आठ दिशाओं में पृथक्-पृथक् वैकुण्ठ हैं। ये सब नित्य परव्योम में स्थित हैं, पर कुछ संसार में भी प्रकाशित होते हैं।

परव्योम में नारायण-प्रभुत्व वाले सब लोक शाश्वत हैं। परव्योम का सर्वोपरि लोक है कृष्णलोक। कृष्णलोक त्रिविध विभक्त है— गोकुल, मथुरा और द्वारका। मथुरा में श्रीकेशव नित्य विराजमान रहते हैं। वे पृथ्वी पर भी प्रकट हैं। मथुरा में श्रीकेशव-मूर्त्ति पूजित है तथा उड़ीसा के जगन्नाथपुरी में पुरुषोत्तम मूर्त्ति की स्थिति है। आनन्दारण्य में श्रीविष्णु तथा श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर की प्राकट्य स्थली मायापुर में श्रीहरि विराजमान हैं। अनेक अन्य विग्रह पृथ्वी के विभिन्न स्थलों पर शोभायमान हैं। केवल इसी ब्रह्माण्ड में नहीं, दूसरे-दूसरे सभी ब्रह्माण्डों में श्रीकृष्ण-विग्रह विराजित हैं। शास्त्रों में उल्लेख है कि यह पृथ्वी सप्त महाद्वीपों में बँटी हुई है। द्वीप-द्वीप में एक जैसी मूर्तियाँ हैं, पर कलिकाल के कारण इस समय उनके प्रत्यक्ष दर्शन केवल भारत में ही हैं। वैदिक शास्त्रों के अनुसार विश्व के अन्य भागों में भी श्रीकृष्ण-विग्रह हैं, परन्तु वर्त्तमान में उनकी निर्धारित स्थिति का हमें ज्ञान नहीं है।

भक्तों को सुख का दान करने के लिए ही इन श्रीकृष्ण-विग्रहों का ब्रह्माण्ड में अवतरण हुआ है। भक्तों का जन्म केवल भारत में ही नहीं होता। विश्व के सब देशों में भक्त हैं; कालान्तर में उन्हें अपने स्वरूप का विस्मरण मात्र हो गया है। इन भगवत् विग्रहों का अवतरण केवल भक्त-सुखार्थ ही नहीं हुआ। भक्ति की पुन: स्थापना तथा भगवान् श्रीकृष्ण के अन्य आवश्यक कर्त्तव्यों के सम्पादनार्थ भी वे प्रकट हैं। इनमें से श्रीविष्णु, श्रीत्रिविक्रम, श्रीनृसिंह तथा श्रीवामन आदि कुछ रूपों की शास्त्रोक्त अवतारों में गणना है।

'सिद्धान्तसंहिता' नामक ग्रन्थ में श्रीविष्णु के चौबीस रूपों का विवरण है तथा उन चतुर्भुज में अस्त्रादि की स्थिति के अनुसार उनके नाम भी उल्लिखित हैं। विष्णु-मूर्त्ति के हाथों में अस्त्रादि की स्थिति का वर्णन करते समय क्रमश: निचले दाहिने, ऊपर दाहिने, ऊपर बाँए तथा अन्त में निचले बाँए हाथ का वर्णन करना चाहिए। इस क्रम से श्रीवासुदेव गदा, शंख, चक्र और पद्म धारण करते हैं; श्रीप्रद्युम्न चक्र, शंख, गदा तथा पद्म धारण करते हैं और श्रीअनिरुद्ध चक्र, गदा, शंख व पद्म धारण करते हैं। परव्योम में नारायण की निम्नलिखित बीस मूर्त्तियाँ हैं— श्रीकेशव (पद्म, शंख, चक्र,

गदा), श्रीनारायण (शंख, पद्म, गदा, चक्र), श्रीमाधव (गदा, चक्र, शंख, पद्म), श्रीगोविन्द (चक्र, गदा, पद्म, शंख), श्रीविष्णु मूर्त्ति (गदा, पद्म, शंख, चक्र) श्रीमधुसूदन (चक्र शंख, पद्म, गदा), श्रीत्रिविक्रम (पद्म, गदा, चक्र, शंख), श्रीवामन (शंख, चक्र, गदा, पद्म), श्रीश्रीधर (पद्म, चक्र, गदा, शंख), श्रीहृषीकेश (गदा, चक्र, पद्म, शंख), श्रीपद्मनाभ (शंख, पद्म, चक्र, गदा), श्रीदामोदर (पद्म, चक्र, गदा, शंख), श्रीपुरुषोत्तम (चक्र, पद्म, शंख, गदा), श्रीअच्युत (गदा, पद्म, चक्र, शंख), श्रीनृसिंह (चक्र, पद्म, गदा, शंख), श्रीजनार्दन (पद्म, चक्र, शंख, गदा), श्रीहरि (शंख, चक्र, पद्म, गदा), श्रीकृष्ण (शंख, गदा, पद्म, चक्र), श्रीअधोक्षज (पद्म, गदा, शंख, चक्र) तथा श्रीउपेन्द्र (शंख, गदा, चक्र, पद्म)।

'हयशीर्ष पञ्चरात्र' के अनुसार केवल सोलह स्वरूप हैं तथा चक्र एवं गदा की स्थिति के अनुसार उनमें नाम-भेद है। परन्तु अन्तिम निर्णय सब का यही है कि श्रीकृष्ण आदि पुरुष स्वयं भगवान् हैं। व्रजेन्द्रनन्दन रूप से वे लीला पुरुषोत्तम श्रीवृन्दावन में नित्य विराजमान हैं। "हयशीर्ष पञ्चरात्र" में यह भी उल्लेख है कि मथुरापुरी तथा द्वारकापुरी की नौ स्वरूप रक्षा करते हैं। एक पुरी की रक्षा श्रीवासुदेव, श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न, और श्रीअनिरुद्ध करते हैं। जबकि श्रीनारायण, श्रीनृसिंह, श्रीहयग्रीव, श्रीवराह, और श्रीब्रह्मा दूसरी पुरी के रक्षक हैं। ये सब भगवान् श्रीकृष्ण के विभिन्न 'प्रकाश' तथा 'विलास' रूप हैं।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन को यह भी बताया कि स्वयंरूप के भी दो भेद हैं— संकर्षणादि पुरुषावतार तथा मत्स्यादि लीलावतार। पुरुषावतार तीन हैं— श्रीकारणोदकशायी विष्णु, श्रीगर्भोदकशायी विष्णु तथा श्रीक्षीरोदकशायी विष्णु। लीलावतार की श्रेणी में मत्स्य, कूर्मादि हैं।

अवतारों के छ: भेद हैं— (१) पुरुषावतार (२) लीलावतार (३) गुण-अवतार (४) मन्वन्तर-अवतार (५) युग-अवतार (६) शक्त्यावेश-अवतार। भगवान् श्रीकृष्ण के छ: विलास विग्रहों में उनकी आयु के अनुसार बाल एवं पौगण्ड दो भेद हैं। व्रजेन्द्रनन्दन नामक अपने स्वयं रूप में श्रीकृष्ण बाल्यकाल की दोनों अवस्थाओं (बाल एवं पौगण्ड) का आस्वादन करते हैं।

वस्तुत: भगवान् श्रीकृष्ण के प्रकाश तथा अवतार अनन्त एवं असंख्य हैं। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन को इनमें से कुछ का विवरण सुनाया जिससे उन्हें भगवान् के प्रकाश तथा रसास्वादन का किंचित् आभास हो

जाय। श्रीमद्भागवत (१.३.२६) में कहा गया है कि सागर की लहरों के समान परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के अवतारों की कोई संख्या नहीं हैं। वे असंख्य हैं।

श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम अवतार पुरुषावतार है। पुरुषावतार तीन हैं— महाविष्णु अथवा कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी तथा क्षीरोदकशायी। यह 'सात्वत तन्त्र' से सम्मत है। भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति भी तीन हैं— इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति एवं ज्ञान शक्ति। भगवान् श्रीकृष्ण में इच्छा शक्ति की प्रधानता है; श्रीवासुदेव में ज्ञान शक्ति प्रधान है तथा श्रीसंकर्षण में क्रिया शक्ति प्रधान है। उनकी इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया-शक्तियों के बिना सृष्टि-कार्य नहीं हो सकता। वैकुण्ठ जगत् के लोक नित्य, अनादि तथा असृज्य हैं। केवल प्राकृत जगत् की ही सृष्टि होती है। परन्तु वैकुण्ठ जगत् एवं प्राकृत जगत् दोनों ही भगवान् श्रीकृष्ण के बलराम संकर्षण रूप की क्रिया शक्ति के प्राकट्य हैं।

वैकुण्ठ जगत् के अन्य सब लोकों सहित सर्वोपरि गोलोक श्रीकृष्ण की इच्छा शक्ति में स्थित है। नित्य वैकुण्ठ-जगत् असृज्य होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा शक्ति के आश्रित हैं। इस इच्छा शक्ति का वर्णन ब्रह्मसंहिता (५.२) में है— "सहस्र पत्र-पद्म की आकृति वाला जो गोलोक नामक परम भगवद्धाम है, वह श्रीबलराम, अनन्त अथवा संकर्षण द्वारा ही प्रकाशित हो रहा है।" प्राकृत सृष्टि तथा उसके विविध ब्रह्माण्ड माया शक्ति द्वारा प्रकाशित हैं। किन्तु जड़रूपा प्रकृति (माया) ब्रह्माण्ड-रचना का मुख्य कारण नहीं हो सकती। वरन् माया के माध्यम से अपने विभिन्न स्वरूपों द्वारा सृष्टि के मुख्य कारण भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं हैं। भाव यह है कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अध्यक्षता के अभाव में सृष्टि असम्भव है। जिस भगवत् स्वरूप के माध्यम से माया शक्ति सृष्टि का कार्य करती है, उसे श्रीसंकर्षण कहते हैं। अतः इस प्राकृत-जगत् की सृष्टि भगवान् श्रीकृष्ण की अध्यक्षता में ही होती है।

श्रीमद्भागवत (१०.४६.३१) में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण एवं श्रीबलराम सम्पूर्ण जीवों के निमित्त और उपादान कारण हैं तथा यही दोनों पुरुष सब भूतों में अनुप्रविष्ट हैं। श्रीमद्भागवत में निम्नलिखित अवतारों का उल्लेख है— (१) कुमार (सनकादि), (२) नारद, (३) वराह, (४) मत्स्य, (५) **यज्ञ,** (६) नर-नारायण, (७) कर्दमी कपिल, (८) दत्तात्रेय, (९) **हयग्रीव,** (१०) हंस, (११) पृश्निगर्भ, (१२) ऋषभ, (१३) पृथु,

(१४) नृसिंह, (१५) कूर्म, (१६) धन्वन्तरि, (१७) मोहिनी, (१८) वामन, (१९) परशुराम, (२०) राघवेन्द्र, (२१) व्यास, (२२) बलराम, (२३) कृष्ण, (२४) बुद्ध तथा (२५) कल्कि। इन्हें कल्पावतार कहते हैं, क्योंकि इन पच्चीस लीला अवतारों में से अधिकांश ब्रह्मा के एक दिन (कल्प) में प्रकट होते हैं। इनमें हंस तथा मोहिनी अवतार अस्थायी हैं। कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, धन्वन्तरि तथा व्यास— ये पाँच अधिक प्रसिद्ध तथा नित्य स्वरूप हैं। कूर्म, मत्स्य, नर-नारायण, वराह, हयग्रीव, पृश्निगर्भ तथा बलराम वैभवावतार हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा, शिव एवं विष्णु (रज, तम तथा सत्त्व) गुणावतार हैं।

मन्वन्तरावतार चौदह हैं— (१) यज्ञ, (२) विभु, (३) सत्यसेन, (४) हरि, (५) वैकुण्ठ, (६) अजित, (७) वामन, (८) सार्वभौम, (९) ऋषभ, (१०) विष्वक्सेन, (११) धर्मसेतु, (१२) सुधामा, (१३) योगेश्वर, (१४) बृहद्भानु। इनमें यज्ञ तथा वामन लीलावतार भी हैं। शेष सब मन्वन्तरावतार हैं। ये चौदह मन्वन्तरावतार वैभवावतार भी कहलाते हैं।

श्रीमद्भागवत में युगावतारों का भी वर्णन है। सत्ययुग में भगवत्-अवतार का श्वेत, त्रेता में रक्त, द्वापर में श्याम तथा कलियुग में भी श्यामवर्ण होता है। किन्तु किसी-किसी विशेष कलियुग में (श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार के युग में) उनका गौरवर्ण भी होता है। शक्त्यावेशावतारों में ये हैं— कपिल, ऋषभ, अनन्त, ब्रह्मा (स्वयं भगवान् भी कभी-कभी ब्रह्मा बनते हैं), (ज्ञानावतार) चतुस्सन, (भक्ति के अवतार) नारद, (राजशक्ति के अवतार) राजा पृथु, (दुष्टों के दलन का अवतार) परशुराम आदि आदि।

अध्याय ८

अवतार-तत्त्व

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन गोस्वामी से कहा कि प्राकृत प्रपंच में अवतीर्ण होने वाले श्रीकृष्ण-स्वरूपों को अवतार कहते हैं। 'अवतार' शब्द का अर्थ है 'अवतरण— नीचे आना।' अत: 'अवतार' का अर्थ है— "जो परव्योम से नीचे प्रपंच में आए।" परव्योम में अनन्त वैकुण्ठ लोक हैं। इन सभी लोकों से परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्त्तियाँ इस ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण हुआ करती हैं।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के संकर्षण अंश से सर्वप्रथम महाविष्णु नामक पुरुषावतार होता है। श्रीमद्‌भागवत (१.३.१) का प्रमाण है कि सृष्टि के प्रथम पुरुषावतार के रूप में अवतीर्ण होने पर भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त सोलह प्रधान तत्त्व प्रकट करते हैं। वे महाविष्णु कारणाब्धि में शयन करते हैं; वे ही जगत् में आदि-अवतार हैं। काल, स्वभाव, प्रकृति, कार्य, कारण, मन, अहंकार, पंचमहाभूत, त्रिविध गुण (सत्त्व, रज, तम), दस इन्द्रियों तथा विराट् के वे ईश्वर हैं। जगत् के सारे स्थावर-जंगम पदार्थों के स्वामी होने पर भी वे सर्वथा स्वराट् हैं।

श्रीमद्‌भागवत (२.९.१०) के कथनानुसार विरजा नदी अथवा कारण-समुद्र से परे परव्योम में माया की गति नहीं है। त्रिविध गुणों (सत्त्व, रज, तम) तथा प्राकृत काल का भी वैकुण्ठ लोकों पर कोई प्रभाव नहीं है। इन लोकों में सुरासुर-वन्दित भगवान् श्रीकृष्ण के मुक्त पार्षद नित्य निवास करते हैं।

भौतिक प्रकृति की दो वृत्तियाँ हैं— माया तथा प्रधान। 'माया' इस जगत् का निमित्त कारण है तथा संसार की सृष्टि के लिए मूल तत्त्व प्रदान करने में 'प्रधान' उपादान कारण है। प्रथम पुरुषावतार श्रीमहाविष्णु के दृष्टिपात से माया क्षुभित हो जाती है। इस प्रकार वे उसमें जीवरूपी बीजों

का गर्भाधान करते हैं। प्रथम पुरुष के दृष्टिपात मात्र से महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुआ करती है। फिर प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार इस रचित महत्तत्त्व का त्रिविधि अहंकारों में विभाजन होता है। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में सात्त्विक महत्तत्त्व (अहंकार) का वर्णन है। सत्त्वगुण के अधिष्ठातृ श्रीअनिरुद्ध हैं। राजस अहंकार से बुद्धि की उत्पत्ति होती है तथा इसके अधिष्ठाता श्रीप्रद्युम्न हैं। वे इन्द्रियों के अधिपति हैं। तामस अहंकार से क्रमश: शब्द, तन्मात्रा, आकाश, श्रवणेन्द्रिय प्रकट होते हैं। प्राकृत जगत् इन सारे तत्त्वों से रचा गया है। इस प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डों का सृजन होता है, जिनकी गणना नहीं की जा सकती।

महाविष्णु के रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्ड प्रकट होते हैं। जिस प्रकार गवाक्ष (झरोखा) में असंख्य रेणु-कण उड़कर आते-जाते हैं, उसी प्रकार महाविष्णु के निश्वास सहित अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि होती है और फिर उनके उच्छ्वास सहित वे नष्ट भी हो जाते हैं। महाविष्णु की सभी शक्तियाँ अप्राकृत तथा मायातीत हैं। ब्रह्मसंहिता (५.४८) में वर्णन है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता ब्रह्मा का जीवन महाविष्णु की एक निश्वास तक सीमित है। अत: महाविष्णु ही आदि परमात्मा तथा अखिल ब्रह्माण्ड-अधिपति हैं।

दूसरे पुरुषावतार गर्भोदकशायी श्रीविष्णु सब ब्रह्माण्डों में प्रवेश करते हैं तथा अपने अंग के स्वेदजल से ब्रह्माण्ड के आधे भाग को भरकर उसी जल में शयन करते हैं। उन द्वितीय पुरुष की नाभि से एक कमल उत्पन्न होता है, जिसमें प्रथम जीव ब्रह्मा जन्म लेते हैं। उसी पद्म की नाल में ब्रह्मा द्वारा रचित चौदह भुवनों की स्थिति है। भगवान् प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदक-शायी रूप से विद्यमान रहकर जगत् का पालन करते हैं। ब्रह्माण्ड में होने पर भी माया उनका स्पर्श तक नहीं कर सकती। समय पर, यही श्रीविष्णु रुद्र-रूप से जगत् का संहार करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव— ये तीनों द्वितीय पुरुष के गुणावतार हैं। ये क्रमश: माया के सत्त्व, रज एवं तमोगुण के अधिष्ठाता हैं। सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय यही करते हैं। किन्तु ब्रह्माण्ड के ईश्वर तो हिरण्यगर्भ अन्तर्यामी नाम से वन्दित गर्भोदकशायी श्रीविष्णु ही हैं। वैदिक मन्त्रों में सहस्रशीर्षादि वर्णनों के रूप में उनका वर्णन है। अपरा प्रकृति में स्थित होने पर भी वे सब प्रकार से मायातीत हैं।

क्षीरोदकशायी श्रीविष्णु नामक तीसरे पुरुषावतार सत्त्वगुण के अवतार भी हैं। वे सब जीवों के अन्तर्यामी हैं तथा ब्रह्माण्ड के क्षीरसागर

में शयन करते हैं। इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने पुरुषावतारों का वर्णन किया।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने लीलावतारों का वर्णन प्रारम्भ किया। श्रीकृष्ण के लीलावतार अनन्त हैं। मत्स्य, कुमार, श्रीरघुनाथ, नृसिंह, वामन, वराह आदि इनमें प्रधान हैं।

भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के गुणावतार तीन हैं— ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव। ब्रह्मा भी एक जीव हैं; अपनी भक्ति के कारण वे अत्यन्त शक्तिशाली हो गए हैं। रजोगुण के स्वामी इस आदि जीव में अनन्त जीवसृष्टि के लिए स्वयं गर्भोदकशायी श्रीविष्णु अपनी शक्ति का संचार करते हैं। ब्रह्मसंहिता (५.४९) में ब्रह्मा को सूर्य-किरणों से प्रभावित सूर्यकान्त मणि की उपमा दी है, जो सूर्यरूपी परमेश्वर गर्भोदकशायी श्रीविष्णु से शक्ति ग्रहण करता है। किसी-किसी कल्प में ब्रह्मा-पद पर नियुक्ति के लिए कोई भी योग्य जीव न मिलने पर गर्भोदकशायी श्रीविष्णु स्वयं ब्रह्मा बनकर सृष्टि-कार्य करते हैं।

इसी प्रकार, संहार के समय परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कला शिवरूप से कार्य करते हैं। मायासंग से शिव के अनेक रूप हैं जो प्रायः ग्यारह माने गए हैं। शिव जीव तत्त्व नहीं हैं, वे श्रीकृष्ण के प्रायः तुल्य हैं। इस सन्दर्भ में दूध और दही का उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है। दही दूध से बनता है, पर उसका प्रयोग दूध के समान नहीं हो सकता। इसी प्रकार शिवजी भगवान् श्रीकृष्ण के कला रूप हैं, पर वे श्रीकृष्ण नहीं हो सकते तथा एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण से प्राप्त होने वाली मुक्ति भी वे हमें प्रदान नहीं कर सकते। दोनों में यह महत्त्वपूर्ण भेद है कि शिवजी तमोगुणाविष्ट होने के कारण मायाशक्ति-युक्त हैं जबकि श्रीकृष्ण अथवा श्रीविष्णु माया और गुणों से सर्वथा परे हैं। श्रीमद्भागवत (१०.८८.३) में कथन है कि शिव वैकारिक तैजस तथा तामस नामक त्रिविध अहंकार से सदा युक्त हैं।

सत्त्वाधिपति होने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण का ब्रह्माण्डस्थित विष्णुरूप अवतार मायास्पर्श से परे है। ऐश्वर्यादि में श्रीविष्णु श्रीकृष्ण की तुलना कर सकते हैं, पर भगवान् श्रीकृष्ण उनके भी आदिकारण हैं। श्रीविष्णु अंश हैं, श्रीकृष्ण अंशी हैं। यह वेद-शास्त्रों का कथन है। ब्रह्मसंहिता में एक आदि दीपक का उदाहरण दिया गया है जिससे दूसरा दीपक जलाया जाय। दोनों दीपक समान कार्य करते हैं, फिर भी प्रथम दीपक द्वितीय का कारण कहलाता है। श्रीविष्णु द्वितीय दीपक हैं। वे श्रीकृष्ण के समान शक्तिशाली हैं, पर आदि विष्णु तो भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार

ब्रह्मा तथा शिव परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी सेवक हैं **तथा** विष्णुरूप श्रीकृष्ण का अंश है।

लीलावतारों तथा गुणावतारों का वर्णन करके श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन को मन्वन्तरावतारों का वर्णन सुनाया। उन्होंने कहा कि मन्वन्तरावतारों की गणना नहीं की जा सकती। ब्रह्मा के एक दिन अर्थात् एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं। ब्रह्मा के एक दिवस का परिमाण चार अरब पच्चीस करोड़ वर्ष है; इस परिमाण से उनकी पूर्णायु सौ वर्ष है। अतः एक दिवस में चौदह मनुओं की उत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मा के एक मास में ४२० और एक वर्ष में ५,०४० मनुओं का प्रकट होना सिद्ध हुआ। इस प्रकार ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु में ५,०४,००० मनुओं की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, इसलिए मन्वन्तरावतारों की पूर्ण संख्या की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। समस्त ब्रह्माण्ड महाविष्णु के निश्वास-काल में एक साथ प्रकट होते हैं, अतः एक समय में व्यक्त मनुओं की गणना कोई नहीं कर सकता। इनमें से प्रत्येक मनु का विशिष्ट नाम है। पहले मनु ब्रह्मापुत्र स्वायम्भुव हैं। दूसरे स्वारोचिष अग्नि के पुत्र हैं। तीसरे मनु हैं प्रियव्रत-पुत्र उत्तम। चौथे मनु तामस उत्तम के भाई हैं। पाँचवें और छठे मनु रैवत और चाक्षुष तामस के भाई हैं। चाक्षुष चक्षुपुत्र हैं। सातवें मनु का नाम वैवस्वत है। वे सूर्यदेव की सन्तान हैं। आठवें मनु सावर्णि सूर्य-पत्नी छाया से जन्मे हैं। नौवें मनु वरुण-पुत्र दक्षसावर्णि हैं। उपश्लोक-पुत्र ब्रह्मसावर्णि दसवें मनु हैं। शेष चार मनु हैं— रुद्रसावर्णि, धर्मसावर्णि, देवसावर्णि तथा इन्द्रसावर्णि।

मन्वन्तरावतारों का वर्णन करके श्रीमहाप्रभु ने युगावतारों का वर्णन किया। युग चार हैं— सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि। भगवान् श्रीकृष्ण युग-युग में अवतीर्ण होते हैं तथा प्रत्येक युगावतार का वर्ण युगानुसार अलग होता है। सत्ययुग के युगावतार का वर्ण श्वेत है। त्रेता का रक्तवर्ण तथा द्वापर का कृष्णवर्ण है। कलियुग के अवतार (श्रीचैतन्यदेव) का पीत वर्ण है। इस सत्य की पुष्टि श्रीमद्भागवत में (१०.८.१३) नन्द जी के घर जन्म-पत्रिका की गणना करते समय स्वयं श्रीगर्गाचार्य ने की है।

सत्ययुग का धर्म ध्यान है। इसका प्रचार भगवान् श्वेतावतार में करते हैं। इसी अवतार की कृपा से श्रीकर्दम जी को एक अवतार की पुत्ररूप में प्राप्ति हुई। सत्ययुग में श्रीकृष्ण के ध्यान से जीवमात्र पूर्ण ज्ञानी-विज्ञानी होता है। इस वर्त्तमान कलियुग में अज्ञानी मनुष्य भी पूर्व युग के लिए उपयुक्त इस ध्यानयोग का प्रयत्न कर रहे हैं। त्रेता का युगधर्म है यज्ञ, जिसे भगवान्

रक्त वर्ण के अवतार में धारण कराते हैं। द्वापर में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पृथ्वी पर विराजमान थे; उस समय समस्त लोग निम्नलिखित मन्त्र द्वारा उनकी अभ्यर्चना करते थे—

नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥

"मैं भगवान् श्रीवासुदेव, श्रीसंकर्षण, श्रीप्रद्युम्न तथा श्रीअनिरुद्ध को प्रणाम करता हूँ।" द्वापर में भगवत्-प्राप्ति का यही धर्म था। द्वापर के बाद वर्त्तमान कलियुग में श्रीश्यामसुन्दर कृष्णनाम संकीर्त्तन के प्रचारार्थ अवतीर्ण होते हैं। इस युग में उनका पीतवर्ण (गौरवर्ण) होता है (भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु) तथा कृष्णनाम संकीर्त्तन द्वारा लोगों में वे कृष्णप्रेम का वितरण करते हैं। नाम-संकीर्त्तन रूपी इस कलियुग के धर्म का प्रवर्तन श्रीचैतन्य महाप्रभु रूपधारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण करते हैं। लाखों लोगों के साथ नृत्य-गानपूर्वक नाम-संकीर्त्तनाविष्ट होकर वे कृष्णप्रेम प्रकट करते हैं। श्रीकृष्ण के इस अपूर्व वैशिष्ट्यपूर्ण अवतार का श्रीमद्भागवत (११.५.३२) में भी वर्णन है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

"कलियुग में भगवान् भक्तरूप में गौरसुन्दर अवतार ग्रहण कर सदा **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'**—, इस महामन्त्र के कीर्त्तन में मग्न रहते हैं। वे स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण हैं, पर द्वापर के समान उनका कृष्णवर्ण न होकर गौरवर्ण होता है। संकीर्त्तन-यज्ञ द्वारा वे आपामर-आचाण्डल तक को कृष्णप्रेम का वितरण करते हैं। बुद्धिमान् वही हैं जो इस कलियुग में संकीर्त्तन द्वारा उनकी अर्चना करते हैं।"

श्रीमद्भागवत (१२.३.५२) में यह भी उल्लेख है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

"सत्ययुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ तथा द्वापर में श्रीकृष्ण-पूजन से होने वाली भगवत्-प्राप्ति कलियुग में केवल 'हरेकृष्ण' कीर्त्तन से ही सम्भव होगी।"

इसके प्रमाणस्वरूप विष्णुपुराण (६.२.१७) में उल्लेख है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

"इस कलियुग में ध्यान, यज्ञ अथवा पूजा का कोई लाभ नहीं। केवल श्रीकृष्ण (श्रीकेशव) नाम संकीर्त्तन— **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** से भगवत् प्राप्ति हो सकती है।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु से कलियुग के युगावतार का वर्णन सुनकर एक समय श्रील सनातन गोस्वामी ने, जो राजमन्त्री थे और निष्कर्ष निकालने में पूर्ण समर्थ थे, श्रीमहाप्रभु से निस्संकोच पूछा, "प्रभो! भगवान् के अवतार का ज्ञान कैसे हो ?" कलि के युगावतार के विवरण से श्रीसनातन समझ गए थे कि वास्तव में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ही भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार हैं। वे यह भी जानते थे कि भविष्य में अनेक लोग उनके मिथ्या अनुकरणों का प्रयास करेंगे, क्योंकि भक्तों द्वारा श्रीकृष्ण माने जाने पर भी भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने एक साधारण ब्राह्मण के समान लीला की। श्रीसनातन को पता था कि भविष्य में अनेक धूर्तों का प्रादुर्भाव होगा। अतः उन्होंने जिज्ञासा की, "प्रभो! अवतार के लक्षणों का ज्ञान कैसे हो सकता है ?"

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा, "जिस प्रकार दूसरे-दूसरे युगावतारादि को शास्त्र-प्रमाणों से जाना जाता है, उसी प्रकार कलियुग के वास्तविक अवतार का ज्ञान भी शास्त्र-वचनों से हो सकता है।" इस प्रकार भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने प्रामाणिक ग्रन्थों से सन्दर्भ-पुष्टि पर विशेष महत्त्व दिया है अर्थात्, किसी को भी अपनी मान्यताओं के आधार पर अवतार नहीं मानना चाहिए, शास्त्रों से वास्तविक अवतार के लक्षणों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार कभी अपने को अवतार घोषित नहीं करता। मुनि और भक्त ही शास्त्र-वचनों के आधार पर निर्णय करते हैं कि वास्तविक अवतार कौन हैं और कौन कपटी धूर्त हैं।

बुद्धिमान् व्यक्ति स्वरूप-लक्षणों तथा तटस्थ लक्षणों के ज्ञान से अवतारों को जान जाते हैं। शास्त्रों में अवतारों की आकृति-प्रकृति तथा लीलाओं का विशद वर्णन है। किसी अवतार को जानने के लिए आकृति-प्रकृति का वर्णन स्वरूप-लक्षण है। लीलादि का वर्णन तटस्थ लक्षण है। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक से यह स्पष्ट है (१.१.१)। इस श्लोक में अवतार लक्षणों का सुन्दर वर्णन है। भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्लोक में प्रयुक्त 'परम्' तथा 'सत्यम्' शब्दों को भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप-लक्षणों का द्योतक कहा है। अन्य तटस्थ लक्षणों के रूप में उनका ब्रह्मा को वैदिक

ज्ञान देने तथा सृष्टि के लिए पुरुषावतार के रूप में अवतार लेने का संकेत है। ये तटस्थ-लक्षण विशिष्ट प्रयोजन से प्रकाशित होते हैं। अवतार के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षणों में भेद अवश्य समझना चाहिए। अपने में इन दोनों लक्षणों को सिद्ध किए बिना कोई भी अपने को अवतार घोषित नहीं कर सकता। बुद्धिमान मनुष्य शास्त्राध्ययन बिना किसी को अवतार स्वीकार नहीं करता। जब श्रीसनातन ने प्रयत्न किया कि वे स्वयं श्रीमहाप्रभु के मुख से यह कहलवा दें कि उनके (महाप्रभु के) लक्षण वास्तव में शास्त्रों में वर्णित कलियुग में भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार के ही लक्षण हैं (अर्थात् श्रीमहाप्रभु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं), तो इस सत्य की एक प्रकार से पुष्टि करते हुए श्रीमहाप्रभु ने कहा, "सनातन! मेरे सम्मुख तुम ऐसी चातुरी मत करो। अब तुम मुझसे शक्त्यावेशावतारों का वर्णन सुनो।"

श्रीमहाप्रभु ने स्पष्ट किया कि शक्त्यावेशावतारों अनन्त और असंख्य हैं। फिर भी उदाहरणस्वरूप कुछ का उल्लेख किया। शक्त्यावेश दो प्रकार के हैं—मुख्य तथा गौण। स्वयं भगवान् के अवतरण का नाम 'साक्षात्' अथवा 'मुख्य शक्त्यावेशावतार' होता है। भगवान् द्वारा किसी जीव में अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए शक्ति का आवेश कराना 'गौण' अथवा 'आवेशावतार' कहलाता है। चतुस्सन (कुमार), श्रीनारद, श्रीपृथु तथा श्रीपरशुराम गौण अवतार हैं। वे वस्तुत: जीव हैं, उनमें भगवान् की विशेष शक्ति का आवेश हुआ है। विशेष जीवों में भगवान् की विशेष शक्ति का आवेश 'आवेशावतार' है। चारों कुमारों में भगवान् श्रीकृष्ण की ज्ञानशक्ति का आवेश है। नारदजी में भक्तिशक्ति का आवेश है। भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु में भी भक्ति का पूर्णतम प्रकाश है। ब्रह्मा में सृजन-शक्ति का तथा पृथु में जीव-पालन शक्ति का आवेश है। परशुराम में दुष्टनाशक शक्ति है। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के विशेष अनुग्रह अर्थात् विभूति के सम्बन्ध में गीता के दशम अध्याय में वर्णन है कि विशिष्ट शक्ति अथवा सौन्दर्यादि से युक्त सभी जीव भगवान् श्रीकृष्ण की विभूति हैं। श्रीशेष तथा अनन्त साक्षात् अवतार हैं। श्रीअनन्त में ब्रह्माण्ड को धारण करने की शक्ति तथा शेष में भगवत्-सेवाशक्ति का संचार है।

इसके उपरान्त श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने भगवान् श्रीकृष्ण की बाल, पौगण्डादि अवस्थाओं का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन नित्य किशोर-शेखर हैं; उनकी आयु सदा षोडश वर्षीय

नव किशोर की-सी रहती है। ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होकर लीला करने की इच्छा होने पर वे सर्वप्रथम अपने माता-पिता, भक्तादि को प्रकट करते हैं; तत्पश्चात् उनके अवतार प्रकट होते हैं अथवा वे स्वयं आते हैं। उनकी पूतना वधादि अनन्त लीलाएँ असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रकट हुआ करती हैं। वस्तुतः क्षण-क्षण में उनके आविर्भाव तथा विविध लीला-विलास विभिन्न ब्रह्माण्डों में प्रकटित होते रहते हैं। इस प्रकार उनकी लीलाएँ गंगा की धारावत् अजस्र चल रही हैं। गंगा की तरंगों के समान ही विभिन्न ब्रह्माण्डों में भगवान् श्रीकृष्ण के अवतारों का अन्त नहीं है। बाल्यकाल से ही अनेक लीलाएँ प्रकट कर वह कैशोर्य में परम-लीला—रास प्रकट करते हैं।

सभी शास्त्रों में भगवान् श्रीकृष्ण की सारी लीला को नित्य कहा गया है। सामान्यतः लोग नहीं समझ पाते कि अपनी नित्यलीला श्रीकृष्ण कैसे करते हैं। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीकृष्ण-लीला को पृथ्वी की सूर्य-परिक्रमा की उपमा दी। वैदिक ज्योतिष के गणनानुसार दिन-रात के चौबीस घण्टों में ६० दण्ड हैं, जिनका पुनः ३६०० पलों में विभाजन है। सूर्योदय होने से ६० पल व्यतीत हो जाने वाले समय का परिमाण एक दण्ड होता है। आठ दण्ड से एक प्रहर बनता है तथा चार प्रहरों में सूर्य उदय-अस्त होता है। इसी प्रकार रात्रि में भी चार प्रहर होते हैं। उनके व्यतीत होने पर एक बार फिर सूर्योदय होता है। सारे ब्रह्माण्डों एवं लोकों में क्रमशः होने वाले कृष्ण-लीला-मण्डल के दर्शन किसी भी ब्रह्माण्ड में हो सकते हैं, उसी प्रकार जैसे ३६०० पलों में भ्रमणशील सूर्य को भिन्न-भिन्न स्थानों पर देखा जा सकता है।

श्रीकृष्ण प्रकट रूप से इस ब्रह्माण्ड में केवल १२५ वर्ष विराजते हैं। किन्तु उनकी वे सारी लीलाएँ क्रमशः प्रत्येक ब्रह्माण्ड में निरन्तर प्रकट होती रहती हैं। इन लीलाओं में उनका आविर्भाव उनकी पौगण्ड बाल्य-लीला तथा कैशोर्य आदि द्वारका तक की सब लीलाएँ सम्मिलित हैं। उनकी इन लीलाओं को नित्य कहा जाता है क्योंकि ये किसी-न-किसी ब्रह्माण्ड में सदा होती रहती हैं। पृथ्वी पर अपनी स्थिति के अनुसार हम सूर्य का उदय, अस्त, प्रकट-लुप्त होना देखते हैं। पर वास्तव में तो सूर्य नित्य विद्यमान है। इसी प्रकार भगवान् की लीलाएँ नित्य हो रही हैं, चाहे इस ब्रह्माण्ड में हमारे सामने उनका प्रकाश कभी-कभी ही होता है। उनका स्वधाम है गोलोक वृन्दावन नामक परम लोक। उन्हीं की इच्छा

से यह गोलोक वृन्दावन इस ब्रह्माण्ड तथा अन्य ब्रह्माण्डों में प्रकट होता है। अतएव गोलोक में ही श्रीकृष्ण का नित्यलीला-विहार कहा गया है। वह लोक उन्हीं के परम संकल्प से असंख्य ब्रह्माण्डों में व्यक्त होता है। उन्हीं विशिष्ट स्थलों पर वे अवतीर्ण होते हैं तथा प्रत्येक लीला में उनके छः ऐश्वर्य प्रकट रहते हैं।

अध्याय ९

सर्वैश्वर्यमय भगवान् श्रीकृष्ण

निर्दोष और निष्कपट जनों के प्रति विशेष करुणामय होने के कारण भगवान् श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु का एक नाम पतितपावन है। बद्धजीव का चाहे सर्वाधिक अधम स्तर पर पतन हो गया हो, पर निर्दोष होने की स्थिति में उसके लिए भगवत्-प्राप्ति का द्वार बिल्कुल खुला है। मुस्लिम शासन में कार्य करने से हिन्दू समाज की दृष्टि में श्रीसनातन गोस्वामी पतित थे। यहाँ तक कि ब्राह्मण-समाज ने तो इस कारणवश उन्हें बहिष्कृत भी कर दिया था। किन्तु उन्हें निर्दोष जान भक्ति-ज्ञान की निधि प्रदान कर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने उन पर अशेष कृपा की।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने आगे वैकुण्ठ जगत् के विभिन्न लोकों की स्थिति का वर्णन किया। प्राकृत ब्रह्माण्ड सीमित परिमाण वाले हैं, किन्तु अप्राकृत होने के कारण वैकुण्ठलोक असीम हैं। सब वैकुण्ठों का परिमाण लक्ष-लक्ष कोटि योजन है। इनकी अनन्त व्याप्ति है तथा इनमें प्रत्येक निवासी पूर्ण षडैश्वर्य (श्री, वीर्य, ज्ञान, सौन्दर्य, यश तथा वैराग्य) से युक्त है। प्रत्येक वैकुण्ठ में भगवान् श्रीकृष्ण की एक मूर्त्ति का नित्य निवास है; श्रीकृष्ण स्वयं नित्य आदिधाम कृष्णलोक—गोलोक वृन्दावन में विराजमान हैं।

इस ब्रह्माण्ड का विशाल से विशाल लोक भी परव्योम के एक कोण अथवा अंश में स्थित है। पृथ्वी से हजारों गुना बड़ा होने पर भी सूर्य परव्योम के तुच्छ अंश में है। इसी प्रकार सभी परिमाण-रहित लोक ब्रह्मज्योति के एक कोण में स्थित हैं। ब्रह्मसंहिता में इस ब्रह्मज्योति का वर्णन है— ''निष्कलं अनन्तं अशेषभूतम्'', अर्थात् अविभाजित, अनन्त तथा सर्वथा दिव्य। सारे वैकुण्ठ कमल-दल के तुल्य हैं तथा उनके मध्य में कमल की कर्णिका के स्थान पर सबसे ऊपर कृष्णलोक विराजमान है। इस प्रकार

विविध रूपों में भगवान् श्रीकृष्ण के वर्णित प्रकाशों का अन्त नहीं है तथा परव्योम के वैकुण्ठों में उनके विभिन्न धाम भी अनन्त हैं। ब्रह्मा, शिव आदि देवता तक इन अनन्त वैकुण्ठलोकों की गणना अथवा कल्पना नहीं कर सकते। यह श्रीमद्भागवत (१०.१४.२१) से पुष्ट है—"वैकुण्ठ लोकों के परिमाण को कोई भी नहीं जान सकता।" ब्रह्मा और शंकर जी ही क्यों; भगवान् के शक्त्यावतार स्वयं श्रीअनन्त भी उनकी शक्ति अथवा विभिन्न वैकुण्ठ लोकों की सीमा को जानने में बिल्कुल असमर्थ हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत की (१०.१४.२१) ब्रह्मा द्वारा स्तुति अत्यन्त निर्णयात्मक है—

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥

"हे प्रभो! हे भगवन्! हे परमात्मन्! हे योगेश्वर! आपकी योगमाया द्वारा प्रकटित आपके अवतारों को कौन जान सकता है? आपके इन प्रकाशों से त्रिभुवन व्याप्त है" ब्रह्माजी पुनः कहते हैं—

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥

"वैज्ञानिक और विद्वान् लोग एक लोक के परमाणु-समूह की गणना भी नहीं कर सकते। परन्तु यदि वे आकाश के हिमकण अथवा अन्तरिक्ष में तारों की गणना करने में सफल भी हो जाएँ, तो भी इस पृथ्वी अथवा ब्रह्माण्ड में अनन्त अप्राकृत शक्तियों, वीर्य तथा सद्गुणों सहित आपके अवतरण का निरूपण नहीं कर सकते।" (भागवत १०.१४.७)

श्रीब्रह्माजी ने नारदजी से कहा कि उनके सहित कोई भी महर्षि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्त शक्ति एवं वीर्य का अनुमान नहीं कर सकता। सहस्रवदन श्रीअनन्तदेव प्रयत्न करने पर भी भगवत्शक्तियों के निरूपण में सफल नहीं हो सके। इसीलिए मूर्त्तिमान श्रुतियों ने भगवत्-स्तवन में कहा है—(भागवत १०.८७.४१)।

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥

"प्रभो! आप अनन्त हैं। आपकी शक्तियों का अन्त कोई नहीं जान सकता। वस्तुतः आप स्वयं भी अपना अन्त नहीं जान सकते। आकाश में

परमाणुओं के समान असंख्य लोक घूमते रहते हैं तथा आपकी खोज में लगे वेदान्ती केवल यही जान पाते हैं कि सब कुछ आपसे भिन्न है। अतः वे इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि आप ही सब कुछ हैं।"

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण इस ब्रह्माण्ड में थे तब ब्रह्मा ने उनकी परीक्षा की थी, यह निर्णय करने के लिए कि श्रीवृन्दावन का यह गोपबालक क्या वास्तव में भगवान् है। अपनी योग शक्ति से उन्होंने श्रीकृष्ण के सारे गोधन, गोवत्स, गोप बालकों का अपहरण करके छिपा दिया। किन्तु जब वे यह देखने लौटे कि भगवान् श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं, तो पाया कि श्रीकृष्ण पूर्व की भाँति उन्हीं गायों, गोवत्सों तथा गोपबालकों सहित क्रीड़ा-रत हैं अर्थात्, अपनी वैकुण्ठ-शक्ति से भगवान् श्रीकृष्ण ने सारे अपहृत गाय, गोवत्स तथा गोपबालकों को पुनः प्रकट कर लिया। श्रीब्रह्माजी ने उनको कोटि-कोटि की संख्या में देखा। कोटि-कोटि सेर गन्ने आदि फल, पद्म, शृंग आदि का भी उन्होंने अवलोकन किया। गोपबालक नाना वस्त्राभरणों से समालंकृत थे। उनकी गणना नहीं हो सकती थी। श्रीब्रह्मा ने देखा कि सब गोपबालक ब्रह्माण्डों के अधिष्ठाता चतुर्भुज नारायण स्वरूप हो गए हैं तथा असंख्य ब्रह्मा श्रीकृष्ण की वन्दना में संलग्न हैं। वे सभी श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह से प्रकट होते तथा दूसरे ही क्षण उसी में विलीन हो जाते। यह देखकर ब्रह्माजी परम विस्मित हो गए। अपनी प्रार्थना में उन्होंने स्वीकार किया कि चाहे सब कोई कहें कि वे श्रीकृष्ण को जानते हैं पर जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, वे तो निस्सन्देह श्रीकृष्ण को बिल्कुल भी नहीं जान पाए। उन्होंने स्वयं कहा, "प्रभो ! आपके द्वारा प्रकट शक्तियाँ और ऐश्वर्य मेरे मन-वाणी के लिए सर्वथा अगोचर हैं।"

भगवान् **श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु** ने पुनः **वर्णन किया कि कृष्णलोक** का ऐश्वर्य तो अनन्त है ही, इस लोक में श्रीकृष्ण-धाम वृन्दावन के वैभव का भी अन्त नही है। शास्त्र के उल्लेख से श्रीधाम वृन्दावन सोलह कोस में व्याप्त है, किन्तु उसी के एक अंश में सम्पूर्ण अनन्त ब्रह्माण्डों की स्थिति है। वर्त्तमान श्रीधाम वृन्दावन में द्वादश वन हैं, जो चौरासी कोस अथवा १६८ मील में फैले हुए हैं। वृन्दावन नगर का परिमाण सोलह कोस है। सब वैकुण्ठों की वहाँ स्थिति को समझना प्राकृत कल्पना से बिल्कुल परे है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने भगवान् श्रीकृष्ण की शक्तियों और ऐश्वर्य को अपार कहा। उन्होंने श्रीसनातन को दिग्दर्शन मात्र कराया है, पर ऐसे दिग्दर्शन से सम्पूर्ण का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस प्रकार श्रीसनातन से भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु प्रेमोन्माद में निमग्न हो गए। इसी अलौकिक अवस्था में उन्होंने श्रीमद्भागवत के इस श्लोक (३.२.२१) का आस्वादन किया, जो श्रीकृष्ण के स्वधाम गमन करने के बाद उद्धव ने विदुर को सुनाया था—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरभिद्श्चिरलोकपालैः किरीटकोट्येडितपादपीठः॥

"भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण देवों, ब्रह्मा, शिव तथा ब्रह्माण्ड में स्थित श्रीविष्णु के भी ईश्वर हैं, षडैश्वर्यपूर्ण हैं। कोई भी उनके समान अथवा उनसे श्रेष्ठ नहीं है। ब्रह्माण्ड में विभिन्न पदों पर आसीन सारे देवता उनकी वन्दना करते हैं। वस्तुतः उन देवगणों के किरीटों की शोभा परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के पदारविन्द के चिह्न से विभूषित होने के कारण ही है।" इसी प्रकार ब्रह्मसंहिता (५.१) में कहा है कि श्रीकृष्ण परम-ईश्वर हैं, उनके तुल्य अथवा उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। निज-निज ब्रह्माण्डाधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश उन परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के तुच्छ सेवक हैं। यह सब वेद का निर्णय है। सब कारणों के कारण होने से श्रीकृष्ण जगत् के अधिष्ठाता तथा प्रथम पुरुष महाविष्णु के भी जन्मदाता हैं। महाविष्णु से गर्भोदकशायी तथा क्षीरोदकशायी विष्णु प्रकट होते हैं, अतः भगवान् श्रीकृष्ण इनके परम-ईश्वर तथा सब जीवों में स्थित परमात्मा सिद्ध हुए। ब्रह्म-संहिता (५.४८) में उल्लेख है कि महाविष्णु के निःश्वास के साथ असंख्य ब्रह्माण्ड प्रकट होते हैं; इनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असंख्य विष्णु-तत्त्व हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इन सबके ईश्वर तथा अंशी हैं।

शास्त्रों के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण के तीन अलौकिक निजधाम हैं। श्रीकृष्ण का सर्वाधिक गोपनीय धाम अर्थात् अन्तःपुर गोलोक वृन्दावन है। श्रीधाम वृन्दावन में वे अपने माता, पिता, मित्रादि सहित निवास करते हुए अपने आस्वाद्य ऐश्वर्य-माधुर्य का प्रकाश करते हैं तथा अपने नित्य परिकरों पर अपनी कृपा बरसाते हैं। वहाँ योगमाया रासलीला में उनकी दासी का कार्य करती है। व्रजवासी कहते हैं, "अपनी परम करुणा तथा प्रेम से जययुक्त व्रजेन्द्रनन्दन जब कृपापूर्वक व्रज में विराजमान हैं तो हम व्रजवासियों के लिए कुछ भी चिन्ता उदित नहीं हो सकती।" ब्रह्म-संहिता (५.४३) के अनुसार परव्योम के सारे वैकुण्ठ (विष्णुलोक) कृष्णलोक अथवा गोलोक वृन्दावन में स्थित हैं। उस परम लोक में भगवान्

अनेक रूपों में अपने अलौकिक आनन्द का आस्वादन करते हैं तथा वैकुण्ठलोकों के सारे ऐश्वर्य वहाँ पूर्ण रूप से प्रकाशित रहते हैं। श्रीकृष्ण के पार्षद भी षडैश्वर्यपूर्ण हैं। पाद्मोत्तर खण्ड (२२५.५७) में उल्लेख है कि विरजा नदी अन्तरंगा तथा मायाशक्ति को पृथक् करती है। विरजा की उत्पत्ति प्रथम पुरुष के स्वेद से हुई है। उसके एक तट पर परव्योम नामक नित्य, अनन्त तथा स्वानन्दमय प्रकृति है। यही भगवद्धाम है। भगवद्धाम वैकुण्ठ कहलाते हैं, क्योंकि वहाँ भय का अभाव है ; वे नित्य हैं। चिच्छक्ति-विभूति-धाम त्रिपादैश्वर्य हैं तथा मायिक सृष्टि एकपादैश्वर्य है। किन्तु त्रिपादविभूति वास्तव में क्या है, यह कोई नहीं जान सकता क्योंकि एक-पादैश्वर्यात्मक मायिक सृष्टि का भी वर्णन नहीं किया जा सकता। भगवान् श्रीकृष्ण के एकपादैश्वर्य का थोड़ा ज्ञान कराने के लिए श्रीगौरसुन्दर ने श्रीमद्भागवत से वह घटना सुनाई जब ब्रह्माण्ड के अधिपति ब्रह्मा द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करने आए थे। ब्रह्मा के द्वार पर पहुँचने पर द्वारपाल ने श्रीकृष्ण को ब्रह्मा के आगमन की सूचना दी। श्रीकृष्ण ने पूछा कि कौन से ब्रह्मा आए हैं। प्रहरी ने लौटकर ब्रह्मा से प्रश्न किया, "श्रीकृष्ण ने पूछा है कि आप कौन से ब्रह्मा हैं ?"

यह सुनकर ब्रह्मा चकित रह गए। श्रीकृष्ण ने ऐसा क्यों पुछवाया ? उन्होंने प्रहरी को सूचित किया, "सनकादि का पिता चतुर्मुख ब्रह्मा आया है, ऐसा उनसे जाकर कहो।"

प्रहरी ने श्रीकृष्ण को बताया और उनकी आज्ञानुसार ब्रह्मा को भीतर ले आया। ब्रह्मा ने भगवान् श्रीकृष्ण के पदारविन्द में दण्डवत् प्रणाम किया तथा उनसे आदरपूर्वक भेंट कर श्रीकृष्ण ने आगमन का उद्देश्य पूछा।

ब्रह्मा बोले, "प्रभो! अपने आने का कारण मैं बाद में निवेदन करूँगा। पहले आप मेरे एक संशय की निवृत्ति कीजिए। आपने प्रहरी से पुछवाया कि कौन से ब्रह्मा आए हैं? मैं जानना चाहता हूँ कि क्या मेरे अतिरिक्त जगत् में अन्य ब्रह्मा भी हैं?"

ऐसा सुनने पर मुस्कराते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने तुरन्त अनेक ब्रह्माण्डों से ब्रह्माओं का आह्वान किया। चतुर्मुखी ब्रह्मा ने देखा कि बहुत से दूसरे-दूसरे ब्रह्मा श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ आकर उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। किसी के दस, किसी के बीस, किसी के सौ, तो किसी के दस लाख मस्तक थे। चतुर्मुख ब्रह्मा तो वहाँ आकर श्रीकृष्ण की वन्दना करने वाले ब्रह्माओं की गणना भी नहीं कर सके। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने अन्य अनेक देवताओं को विविध ब्रह्माण्डों से वहाँ

बुला भेजा। प्रभु को प्रणाम करने वे सब अविलम्ब आ पहुँचे। इस परमाद्भुत दृश्य का अवलोकन कर चतुर्मुखी ब्रह्मा ठगे से रह गए। उनकी स्थिति गज-समुदाय में खरगोश की सी हो गई। इतने अधिक देवताओं को भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना करते देखकर चतुर्मुख ब्रह्मा इस निश्चय पर पहुँचे कि श्रीकृष्ण की अनन्त शक्ति और ऐश्वर्य का तो अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। उस विराट् सभा में विभिन्न देवताओं तथा ब्रह्माओं के किरीट देदीप्यमान थे और उनकी स्तुति से तुमुल घोष हो रहा था।

देवगण बोले, ''प्रभो! यह आपकी अशेष कृपा ही है जो आपने हमारा आह्वान करके हमें अपने पदारविन्द के दर्शन प्रदान किए। हमारे लिए क्या आज्ञा है, उसे शिरोधार्य कर हम अवश्य पूर्ण करेंगे।''

भगवान् श्रीकृष्ण बोले, ''तुम सबके लिए कोई विशेष कार्य नहीं है। मैं तो केवल तुम्हें देखना चाहता था। दैत्यों से भयरहित होकर सुखी रहो।''

वे सभी एक स्वर से कहने लगे, ''प्रभो! आपकी कृपा से सर्वत्र मंगल ही मंगल है। वर्त्तमान समय में ब्रह्माण्ड में कोई उत्पात नहीं है, क्योंकि आपके अवतरण से सब अमंगलों का नाश हो जाता है।'' प्रत्येक ब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन करते समय यही समझ रहा था कि श्रीकृष्ण उसी के ब्रह्माण्ड में विराजमान हैं। तदुपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण ने सब ब्रह्मादिकों को विदा किया; वे उन्हें दण्डवत् प्रणाम कर अपने-अपने लोकों को चले गए। यह चरित्र देखकर चतुर्मुख ब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में गिरकर बोले, ''प्रभो! आपके सम्बन्ध में मेरा पहला निश्चय सर्वथा मिथ्या था। जो कहते हैं कि वे आपको पूर्णरूपेण जानते हैं, वे जाना करें। किन्तु प्रभो! मैं तो आपके वैभव का अनुमान भी करने में समर्थ नहीं हूँ। आप मेरे मन-वाणी से सर्वथा अगोचर हैं।''

ब्रह्मा के वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, ''सुनिए ब्रह्मा जी, आपके इस ब्रह्माण्ड का परिमाण केवल पचास कोटि योजन (४०० करोड़ मील) है। किन्तु इससे कहीं बड़े कोटि-कोटि अन्य ब्रह्माण्ड सृष्टि में हैं। कितनों का अर्बुद कोटि योजन विस्तार है तथा इनमें चार से कहीं अधिक मुख वाले ब्रह्मा नियुक्त हैं।'' श्रीकृष्ण ने आगे कहा, ''ब्रह्माजी! यह प्राकृत-जगत् मेरी एक पादविभूतिमात्र है। मेरी त्रिपादविभूति का प्रकाश तो परव्योम में है।''

श्रीकृष्ण को प्रणाम करके ब्रह्मा ने स्वलोकगमन की आज्ञा ली। इस चरित्र से उन्हें भगवान् की त्रिपादविभूति का ज्ञान हो गया।

इसीलिए भगवान् को 'त्रयधीश्वर' कहा जाता है। इससे उनके तीन प्रधान धाम— गोकुल, मथुरा और द्वारका निर्दिष्ट हैं। ये तीनों लोक षडैश्वर्यपूर्ण हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण इनके अधीश्वर हैं। अपनी अलौकिक चिच्छक्ति में नित्य विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण अप्राकृत शक्तियों के स्वामी तथा षडैश्वर्ययुक्त हैं। षडैश्वर्यपूर्ण होने के कारण ही सारे वैदिक शास्त्रों ने श्रीकृष्ण को परम पुरुष स्वयं भगवान् घोषित किया है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन को श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए एक अतिशय मधुर गीत सुनाया। उन्होंने गाया "भगवान् श्रीकृष्ण की सारी लीला नराकार है। श्रीकृष्ण स्वयं वास्तव में नराकृति हैं। नरवपु वस्तुत: उनकी नराकृति का अनुकरणमात्र है। श्रीकृष्ण का गोपवेश है। उनके करारविन्द में वेणु सुशोभित है तथा वे नित्य पूर्वकैशोर्य में स्थित हैं। वे अत्यन्त चंचल हैं, उनकी सब क्रीड़ाएँ प्राकृत बालकों जैसी हैं।" श्रीगौर-सुन्दर महाप्रभु ने आगे श्रीकृष्ण के माधुर्य का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि श्रीकृष्ण की इस माधुरी को समझने वाला अमृताम्बुधि का आस्वादन करता है। श्रीकृष्ण की योगमाया नामक चिच्छक्ति अलौकिक तथा मायातीत है; केवल अपने भक्तों के प्रेमास्वादनार्थ ही वे उस योगमाया का इस जगत् में प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार अपने भक्तों के लिए वे संसार में प्रकट होते हैं। उनके रूप-गुणादि इतने अधिक चित्ताकर्षक हैं कि उस माधुर्य के आस्वादन के लिए स्वयं उनका मन उत्कण्ठित हो उठता है। सर्वालंकार विभूषित तथा त्रिभंगललित मुद्रा में वे अपने सर्वाकर्षी नेत्रों की भौहों को नचाते रहते हैं। उनकी इस असमोर्ध्व रूप-माधुरी पर गोपीगण मुग्ध हैं। परव्योम के शीर्ष-भाग में स्थित अपने नित्यधाम में वे पार्षदों, गोपबालकों, गोपियों तथा सब लक्ष्मियों के मध्य शोभायमान हैं। वहाँ उन्हें मदनमोहन कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्त विविध लीलाएँ हैं— जैसे श्रीवासुदेव, श्रीसंकर्षणादि रूपों में उनकी लीला। प्राकृत जगत् में प्रथम पुरुषावतार के रूप में भी उनकी लीला होती है। कभी-कभी कूर्म, मत्स्य आदि अवतारों में भी वे लीला करते हैं तथा ऐसी भी लीला है जिसमें ब्रह्मा, शिव आदि गुणावतार ग्रहण करते हैं। शक्त्यावेशावतार-लीला में वे श्रीपृथु आदि रूप धरते हैं तथा सब प्राणियों के अन्तर्यामी तथा निर्विशेष ब्रह्मरूप से भी उनका लीला-विलास है। उनकी लीला अनन्त है, तो भी सर्वोपरि लीला है नराकृति भगवान् श्रीकृष्ण की, जिसमें वे वृन्दावन में नाचते हुए, गोपियों के साथ

विहार करते हैं, कुरुक्षेत्र युद्ध में पाण्डवों सहित क्रीड़ा तथा मथुरा और द्वारका में लीला करते हैं। नराकृति की सब आकर्षक लीलाओं में उनकी वही लीला सर्वाधिक आकर्षक है जिसमें नव कैशोर्ययुक्त गोपबालक वेष में वे मधुर वेणु बजाते हैं। यह स्मरणीय है कि गोलोक, मथुरा तथा द्वारका में प्रकाशित लीला का लघु कण भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कृष्णप्रेम से आप्लावित करने में परम समर्थ है। श्रीकृष्ण का माधुर्य जीवमात्र को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

परव्योम अथवा वैकुण्ठ लोकों तक में भगवान् श्रीकृष्ण की अन्तरंगा चिच्छक्ति प्रकट नहीं होती; पर अपनी अचिन्त्य कृपा द्वारा निज धाम से अवतीर्ण होने पर वे उसी चिच्छक्ति को इस जगत् में प्रकट किया करते हैं। श्रीकृष्ण इतने कौतुकी तथा सर्वाकर्षक हैं कि वे स्वयं अपने माधुर्य से मोहित हो जाते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वे सम्पूर्ण अचिन्त्य शक्तियों के आश्रय हैं। जहाँ तक उनके आभूषणों का सम्बन्ध है, जब वे भगवान् श्रीकृष्ण के विग्रह पर सुशोभित होते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वे श्रीकृष्ण की शोभा नहीं बढ़ाते, वरन् उनके अंग-संग से स्वयं विभूषित हो जाते हैं। अपने त्रिभंगललित रूप से श्रीकृष्ण देवों सहित सब जीवों को मोह लेते हैं। यहाँ तक कि वैकुण्ठवासी नारायण भी भगवान् श्रीकृष्ण की इस रूप-माधुरी पर मुग्ध हो जाते हैं।

अध्याय १०

भगवान् श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी

मन्मथ-मन्मथ श्रीकृष्ण मदनमोहन हैं। व्रजरमणियों की सेवा स्वीकार कर उन्हें अनुग्रहीत करने के कारण भी वे मदनमोहन हैं। कन्दर्प-दर्प-दलन करके नव कन्दर्प-रूप से वे रास क्रीड़ा करते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्वर तथा स्पर्श नामक अपने पंचशर द्वारा गोपीमनमन्थन होने से भी वे मदनमोहन हैं। उनके कण्ठ में विराजित हार के मोती हंस-श्वेत हैं तथा मौलि मण्डन मोर-मुकुट की इन्द्रधनुषी शोभा है। उनका पीताम्बर विद्युत के समान है तथा श्रीकृष्ण स्वयं नवोदित घनश्याम मेघ हैं। गोपियाँ उनके चरणों की नूपुर हैं तथा मेघ के शस्य-श्यामला धरा पर बरसने के समान ही ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी लीलामृत रूपी करुणा का परिवर्षण करके श्रीकृष्ण गोपीभाव का पोषण कर रहे हैं। वर्षाकाल में आकाश में विचरणशील पक्षीगण तथा इन्द्रधनुष का भी दर्शन होता है। सखाओं सहित गोचारण-लीला करते हुए वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण स्वच्छन्द विहार करते हैं। उनकी मधुरातिमधुर वेणु-ध्वनि सुनकर क्या स्थावर, क्या जंगम—सम्पूर्ण प्राणियों में प्रेमोदय हो जाता है। सभी में पुलक, कम्प, अश्रु आदि प्रेम के सात्त्विक विकार प्रकट हो जाते हैं। माधुर्य ही श्रीकृष्ण की भगवत्ता का सार है। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यश, रूप, श्री, ज्ञान, वीर्य तथा वैराग्य के अधिपति हैं; फिर भी उनका परम चरम सौन्दर्य तो उनके माधुर्य-आकर्षण में ही है। श्रीकृष्ण का माधुर्य नित्य केवल उन्हीं में रहता है, उनके अन्य वैभव-ऐश्वर्य तो उनके नारायण स्वरूप में भी हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का वर्णन करते हुए श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु प्रेमाविष्ट हो गए तथा प्रेम से श्रीसनातन का हाथ पकड़कर गोपियों के भाग्य को सराहने लगे। उन्होंने श्रीमद्भागवत से निम्नलिखित श्लोक (१०.४४.१४) का आस्वादन किया—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ।।

"व्रज-रमणियों ने भला कौन-सी तपस्या की थी, जिसके प्रभाव से उन्होंने श्रीकृष्ण-रूपामृत का पान किया? श्रीकृष्ण का वह रूप असमोर्ध्व लावण्य का सार-स्वरूप तथा सब ऐश्वर्यों का एकान्त आश्रय है।"

तारुण्यामृत पारावार-स्वरूप श्रीकृष्ण श्रीविग्रह में लावण्य की तरंगें कल्लोलित होती रहती हैं। रूप-तरंगों तथा वंशीध्वनि जनित भाव-चक्रवात में गोपियों के मन पत्तों के समान उड़ते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण-पदारविन्द पर गिरने पर उनका पुनः उदय नहीं होता। अन्य सारे सौन्दर्य श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी के आगे नगण्य हैं, उनसे बढ़कर अथवा उनके समान अन्य कोई सौन्दर्य नहीं है। श्रीकृष्ण श्रीनारायणादि सब अवतारों के अवतारी हैं। इसी कारण नित्य श्रीनारायण संगिनी रमादेवी भी श्रीनारायण का परित्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए तप करती हैं। सर्व लावण्यनिधि श्रीकृष्ण की असमोर्ध्व रूप-माधुरी का ही यह अन्यतम प्रभाव है। अधिक क्या, श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी से ही सब रूपों का प्रकाश है।

व्रजगोपियों का भाव मानो दर्पण है जिसके आगे श्रीकृष्ण का माधुर्य क्षण-प्रतिक्षण नित्य नव-नवायमान रूप में प्रकाशित हुआ करता है। प्रतिक्षण नव-नव बढ़ते हुए श्रीकृष्ण तथा गोपियों के असमोर्ध्व माधुर्य में निरन्तर अलौकिक स्पर्धा लगी रहती है। कर्त्तव्य कर्म, त्याग-तप, योग, ज्ञान, ध्यानादि से श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वादन सम्भव नहीं। वह तो केवल श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्त के लिए ही सुलभ है, अन्य के लिए नहीं। श्रीकृष्ण का यह माधुर्य उनके सम्पूर्ण ऐश्वर्य का सार-सर्वस्व है; इसका आस्वादन केवल गोलोक-वृन्दावन में होता है, अन्यत्र नहीं। नारायण-स्वरूप में कारुण्य, यश, श्री, आदि ऐश्वर्य श्रीकृष्ण के कारण ही हैं। परन्तु श्रीनारायण में भी श्रीकृष्ण के तुल्य सुशीलता तथा वदान्यता का अभाव है; इनकी प्रतिष्ठा केवल श्रीकृष्ण में है।

श्रीमद्भागवत के श्लोकों का श्रीसनातन के साथ आस्वादन करते हुए श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने एक अन्य श्लोक (९.२४.६५) पढ़ा—

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्णभ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ।।

"गोपांगनाओं के लिए श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का आस्वादन नित्योत्सव था। वे उनके सौन्दर्य-सार सर्वस्व मुखारविन्द, मकराकृत कुण्डल-मण्डित

वर्ण, उन्नत ललाट तथा मादक मुस्कराहट का निरन्तर दर्शन करतीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण-रूप-रस-समास्वादन करते हुए वे अपने दर्शनोत्सव में विघ्नकारी नेत्र-पलकों के रचयिता ब्रह्मा की निन्दा करने लगती थीं।''

कामगायत्री नामक वैदिकमन्त्र में श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र को सब चन्द्रमाओं का अधिपति कहा गया है। लाक्षणिक भाषा में अनेक चन्द्रमा हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह में वे सभी एकत्र हैं। उनका मुख, कपोल-द्वय, ललाट का चन्दन-बिन्दु, कर-नख और पद-नख— ये सभी पूर्णचन्द्र हैं तथा उनका ललाट अर्द्धचन्द्र माना गया है। इस प्रकार ये साढ़े चौबीस चन्द्रमा हैं; श्रीकृष्ण इन सब के मध्य विराजमान द्विजराजराज हैं।

श्रीकृष्ण के मकर-कुण्डल, नेत्र तथा भ्रूकुटि के नर्तन-विलास से गोपीगण उनकी ओर अत्यन्त आकृष्ट होती हैं। भक्त की क्रियाएँ भक्ति की कामना को उत्तरोत्तर बढ़ाती हैं। श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र को निहारने के अतिरिक्त नेत्रों द्वारा अन्य कुछ दर्शनीय है ही क्या? श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का नेत्र-युगल से तृप्तिदायक पान कभी नहीं हो सकता। निरन्तर और पान की लालसा बनी ही रहती है। इसलिए अपनी इस असमर्थता से देखने वाला क्षुब्ध हो उठता है। स्रष्टा की सृष्टि की निन्दा करने से ही उसका क्षोभ कुछ घटता है। कृष्ण-दर्शन से अतृप्त रह जाने के कारण वह शोकाकुल होकर कह बैठता है, ''लक्षकोटि न होकर मुझे केवल दो ही नेत्र मिले हैं और वे भी पलकों से ढके हैं। इसलिए यह समझना चाहिए कि इस शरीर का स्रष्टा जड़-मति है। रस-शून्य होने के कारण वह केवल साधारण तथा नीरस सृष्टि कर सकता है। श्रीकृष्ण-दर्शन के उपयुक्त सृजन करने में वह अयोग्य है।''

गोपी-मन श्रीकृष्ण-माधुर्य के आस्वादन में ही निरन्तर संलग्न रहता है। श्रीकृष्ण लावण्यकेलिसदन हैं तथा उनका निजांग-माधुर्य सिन्धु, अतिशय मधुर मृदु हास्य तथा मुखचन्द्र गोपी-मन-मन्थन में पूर्ण समर्थ है। 'कृष्णकर्णामृत' (९२) में उनके मुख, हास्य तथा निजांग कान्ति को क्रमशः मधुर, सुमधुर तथा मधुरतम कहा है। श्रीकृष्ण की अंग-माधुरी, मुखचन्द्र तथा मन्द हास्य के दर्शन से दर्शक प्रेममुग्ध होकर अलौकिक उन्माद-सागर में डूब जाता है। श्रीकृष्ण के माधुर्य के आगे यह उन्माद बहुधा उपचार बिना बना रहता है, उसी प्रकार जैसे सन्निपात में वैद्य रोगी को जल दिए बिना रोग को स्थिर रहने देता है।

भक्त के लिए श्रीकृष्ण का विरह तीव्र से तीव्रतर हुआ जाता है, क्योंकि

श्रीकृष्ण के बिना वह उनके माधुर्यामृत का पान नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण-वेणु-रवामृत के कर्णरन्ध्रों में प्रविष्ट होने पर उसके निरन्तर श्रवण की लालसा के बल से भक्त मायिक आवरण को लाँघ कर उस परव्योम में प्रविष्ट हो जाता है, जहाँ वेणु-गीत गोपी-अनुगों को श्रवणगोचर हुआ करता है। गोपियों के प्रेमभाव को निरन्तर बढ़ाता श्रीकृष्ण का वेणु-गीत गोपी-कर्णों में सदा अवस्थित रहता है। एक बार वंशी-ध्वनि को सुन लेने पर फिर कोई अन्य शब्द वे नहीं सुन पातीं। अपने परिवार में ठीक रूप से उत्तर भी नहीं दे पातीं, क्योंकि उनके कर्णों में सदा वेणु-ध्वनि ही स्फुरित (गुंजित) होती रहती है।

इस प्रकार श्रीगौरांग महाप्रभु ने श्रीकृष्ण के अलौकिक अप्राकृत स्वरूप, अवतार, श्रीअंग-माधुर्य और अन्य सब विशेषताओं का विस्तृत वर्णन किया। संक्षेप में कहना चाहिए कि श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीकृष्ण का यथारूप तत्त्व से वर्णन किया तथा उनकी प्राप्ति की पद्धति का भी निर्देश किया। इस सन्दर्भ में श्रीगौरहरि ने स्पष्ट किया कि श्रीकृष्ण-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है श्रीकृष्ण की भक्ति। यह सार वेद-शास्त्रों का निर्णय है। ऋषियों की घोषणा है— "स्वरूप-साक्षात्कार की पद्धति की जिज्ञासा को लेकर वेद-शास्त्र अथवा पुराणों के अनुसन्धान पर यही निर्णय होगा कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं।"

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् परतत्त्व-स्वरूप हैं तथा अपनी अन्तरंगा स्वरूप अथवा आत्मशक्ति में अवस्थित हैं, जैसा गीता में कहा है। वे स्वांश तथा विभिन्नांश नामक असंख्य रूप ग्रहण कर वैकुण्ठलोकों तथा जगत् में भी आत्मरमण करते हैं। उनके विभिन्नांश जीव हैं तथा भगवत्शक्ति के भेद से उनकी दो श्रेणी हैं— नित्यमुक्त तथा नित्यबद्ध। नित्यमुक्त जीव कदापि माया के संसर्ग में नहीं आते; इसीलिए उन्हें माया का कोई अनुभव नहीं होता। कृष्णचरण-भक्ति-उन्मुखी होने से उनकी कृष्ण पार्षदों में गणना है। उनके जीवन के सुख का एकमात्र स्रोत कृष्णभक्ति है। इसके विपरीत कृष्णभक्ति-विमुख नित्यबद्ध जीव सदा त्रिविध ताप से पीड़ित रहते हैं। नित्यबद्ध जीव की भगवान् श्रीकृष्ण से नित्य विमुखता के कारण उसे माया से दो प्रकार का शरीर मिलता है— पंचतत्त्वात्मक स्थूल शरीर तथा मन बुद्धि और अहंकार से निर्मित सूक्ष्म शरीर। उक्त दोनों शरीरों से ढका होने के कारण बद्धजीव सदा त्रिताप रूपी जागतिक-यन्त्रणाएँ भोगा करता है

तथा काम, क्रोधादि छः शत्रुओं से भी ग्रस्त रहता है। इस रोग से वह जन्म-जन्म से पीड़ित है।

रोगी तथा बद्ध होने के कारण जीव ब्रह्माण्ड में नाना योनियों में देहान्तर करता रहता है। कभी उसे उच्चलोकों की प्राप्ति होती है, तो कभी उसका अधःपतन होता है। इस क्रम से वह भव रोग से पीड़ित रहता है। सिद्ध चिकित्सक गुरु की शरण-ग्रहण और आज्ञा-पालन करने पर ही उसके भवरोग की निवृत्ति हो सकती है। विश्वासपूर्वक गुरु की आज्ञा-पालन से बद्धजीव भवरोग से छूटकर और मुक्तावस्था में स्थित होकर पुनः श्रीकृष्ण-भक्ति करने लगता है; वापस अपने घर, श्रीकृष्ण के समीप पहुँचकर उनकी सेवा प्राप्त करता है। अपने यथार्थ स्वरूप का परिचय होने पर बद्धजीव को प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए, "प्रभो! मैं और कितने समय काम, क्रोध आदि शारीरिक धर्मों के अधीन रहूँगा?" बद्धजीव के स्वामी ये कामादि कभी दयार्द्र नहीं होते। जीव भी अनादि काल से निरन्तर ऐसे दुष्ट स्वामियों की सेवा करता आ रहा है। किन्तु अपने यथार्थ स्वरूप श्रीकृष्णभावनामृत के जाग्रत होने पर वह इन दुष्टों का परित्याग कर सर्वभाव से श्रीकृष्णचरणों की शरण ग्रहण कर लेता है। इस अवस्था में भगवान् श्रीकृष्ण से वह विनती करता है कि वे उसे अपनी प्रेममयी सेवा (भक्ति) में लगाएँ।

वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं मुक्ति के विभिन्न मार्गों के रूप में सकाम कर्म, ध्यानयोग तथा ज्ञान की स्तुति है। परन्तु देखा जाय तो सब शास्त्रों में एक स्वर से भक्ति को ही सर्वोपरि मार्ग माना गया है। भाव यह है कि कृष्णभक्ति स्वरूप-साक्षात्कार का सर्वोत्तम, सर्वोपरि, संसिद्ध पथ है तथा शुद्ध कृष्णभक्ति ही अभिधेय है अर्थात् इसे सीधे-सीधे करना चाहिए। सकाम कर्म, ध्यानयोग तथा ज्ञान अभिधेय नहीं हैं। ये सब आत्म-साक्षात्कार के सीधे मार्ग नहीं हैं, भक्ति के बिना ये स्वरूप-साक्षात्कार की संसिद्धि नहीं प्रदान कर सकते। वास्तव में स्वरूप-साक्षात्कार के सभी पथ अन्तिम रूप में सब प्रकार से भक्तिपथ पर आश्रित हैं।

अध्याय ११

श्रीकृष्ण-भक्ति

वैदिक ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना करके उनका अम्बार लगा देने पर भी व्यासदेव को सन्तोष नहीं हुआ। उनकी इस अवस्था का अवलोकन कर गुरु श्रीनारदजी ने उन्हें स्पष्ट किया कि भक्ति के मिश्रण बिना स्वरूप साक्षात्कार का कोई भी पथ सफल नहीं हो सकता। नारदजी उस समय पधारे, जब व्यासदेव सरस्वती के तट पर अत्यन्त खिन्न और उद्विग्न चित्त से शोकाकुल थे। उनकी इस अवस्था को देखकर नारदजी ने उनके ग्रन्थों की अपूर्णता का दिग्दर्शन कराया।

"शुद्धभक्ति से शून्य तत्त्वज्ञान भी अपर्याप्त है", नारद जी ने कहा, "फिर भक्तिविहीन सकाम कर्मों के विषय में तो कहना ही क्या है? इस स्थिति में उनसे कर्त्ता किस प्रकार लाभान्वित होगा?"

अनेक ऋषि तपस्या में अत्यन्त दक्ष हैं; बहुत से विपुल दान करते हैं तथा बहुत से मन्त्रविद् भी हैं। ये सभी मंगलमय हैं, तो भी अपने सब साधनों का उपयोग भक्ति विषयक क्रियाओं में किए बिना अभीष्ट-प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण श्रीमद्भागवत (२.४.१७) में शुकदेव जी ने श्रीभगवान् को अभीष्ट का एकमात्र दाता कहकर प्रणाम किया है।

सब प्रकार के दार्शनिक तथा योगी इतना मानते हैं कि ज्ञान के अभाव में माया-बन्धन से मुक्ति सम्भव नहीं। भक्ति रहित ज्ञान में भी मुक्ति प्रदान करने की क्षमता नहीं है। अर्थात्, ज्ञान में भी मुक्ति प्रदान करने की क्षमता नहीं है। अर्थात् ज्ञान से जब भक्तिपथ की प्राप्ति होती है, तभी वह मुक्ति प्रदायक होता है, अन्यथा नहीं। ब्रह्मा ने श्रीमद्भागवत (१०.१४.४) में यही कहा है—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

"प्रभो! आपकी भक्ति आपकी प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है। उस भक्ति-पथ को त्याग कर जो केवल ज्ञानोपार्जन में लगा रहता है, उसे केवल क्लेश ही क्लेश होगा, सिद्धि नहीं। धान के छिलके कूटने से धान नहीं मिल सकता। उसी प्रकार भक्तिहीन ज्ञान-रत पुरुष को अभीष्ट आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। उसे केवल श्रम-लाभ होता है।"

भगवद्गीता (७.१४) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि माया इतनी प्रबल है कि साधारण जीव उसके बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। संसार-सिन्धु को केवल कृष्ण-चरण-प्रपन्न ही पार कर सकते हैं।जीव भूल जाता है कि वह नित्य कृष्णदास है। यही विस्मरण उसके बन्धन तथा माया के प्रति आकर्षण का कारण है। वस्तुत: यह आकर्षण ही माया का पाश है। जब तक जीव में माया पर प्रभुत्त्व की इच्छा रहेगी, तब तक उसकी मुक्ति होना बड़ा कठिन है। अत: निर्देश किया गया है कि जीव गुरु की शरण में जा कर उनसे भक्ति की शिक्षा ग्रहण करे जिससे मायामुक्त होकर श्रीकृष्ण-चरणारविन्द की उसे प्राप्ति हो जाय।

कर्त्तव्य कर्मों के सुगम आचरण के लिए मानव समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, एवं संन्यास के रूप में आठ विभाजन किए गए हैं। परन्तु अभक्त तो अपने वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने पर भी मायामुक्त नहीं हो सकता। विषयवासना के कारण कर्त्तव्य कर्म करके भी वह तो अधोगामी ही होगा। अत: जिसे माया से मुक्त होने की इच्छा हो, वह अपने कर्त्तव्य कर्म में संलग्न होने के साथ-साथ कृष्णभावनाभावित भक्ति भी करे।

इस सन्दर्भ में भगवान् श्रीगौरहरि महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत से एक श्लोक सुनाया। उस में भागवत-धर्म का वर्णन करते हुए नारदजी ने कहा है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था भगवान् के विराट् विश्वरूप से उत्पन्न हुई है। ब्राह्मण विश्वरूपधारी भगवान् के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य उरु से तथा शूद्र चरणों से प्रकट हुए हैं। इस कारण उनमें विराट् पुरुष के सत्त्व, रज आदि गुणों का पृथक्-पृथक् प्रकाश है। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से युक्त न होने पर मनुष्य अपनी स्थिति से गिर जाता है, चाहे वह कर्त्तव्य कर्म करे अथवा न करे।

श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने स्पष्ट किया कि मायावादी अपने को ईश्वर अथवा जीवन्मुक्त मानते हैं। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा श्रीमद्भागवत के अनुसार वे वास्तव में मुक्त नहीं हैं। श्रीमहाप्रभु ने श्रीमद्भागवत (१०.२.३२) से प्रमाण दिया—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।

"मायावाद के अनुसार जो अपने को मुक्त मानकर भगवद्भक्ति को स्वीकार नहीं करते, वे भक्ति के अभाव में कठोर तप करके ब्रह्मस्तर पर पहुँच जाने पर भी फिर पतित हो जाते हैं।"

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं तथा माया अन्धकार है। श्रीकृष्ण-प्रकाश में निरन्तर स्थित रहने वाले को अन्धकारमय माया मोहित नहीं कर सकती। श्रीमद्भागवत के चार प्रमुख श्लोकों में यह सिद्धान्त पूर्णतया स्पष्ट किया गया है। भागवत (२.५.१३) में इसकी पुष्टि इस प्रकार है— "माया भगवान् के सामने खड़ी रहने में भी बड़ी लज्जा अनुभव करती है।" यही माया जीवों को निरन्तर मोहित कर रही है। बद्धावस्था में जीव माया से नाममात्र की मुक्ति के लिए वाक् चातुरी के अनेक आविष्कार करता रहता है। किन्तु यदि वह निष्कपट भाव से श्रीकृष्ण-शरणापन्न हो जाय और केवल एक बार यह कह दे— "प्रभो श्रीकृष्ण! आज से मैं आपका हूँ।" तो श्रीकृष्ण अविलम्ब उसे मायामुक्त कर देंगे। रामायण लंकाकाण्ड (१८.३३) में भगवान् के वचन से यह पुष्ट है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम ।।

"मेरे चरणों में सर्वात्म समर्पण करने वाले की सब प्रकार से रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य और व्रत है।"

सकाम कर्म, मुक्ति, ज्ञान अथवा सिद्धियोग का उपभोग करने-वाला भी प्रबोध होने पर इन सब पन्थों को त्यागकर भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति करने लगता है। श्रीमद्भागवत (२.३.१०) में कहा है कि जिसे भोग की अथवा मोक्ष की इच्छा हो उसे भी भक्ति ही करनी चाहिए। भक्ति से भोगेच्छा करने वाले शुद्ध भक्त नहीं हैं। फिर भी भक्त होने से वे भाग्यवान् अवश्य हैं। वे नहीं जानते कि भक्ति का लाभ भोग प्राप्ति नहीं है। वैसे भक्तिपरायण होने से एक न एक दिन वे समझ जाते हैं कि भक्ति का उद्देश्य विषय भोग नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि भक्ति के फलस्वरूप विषय सुख की इच्छा रखने वाले अत्यन्त मूर्ख हैं, क्योंकि ऐसा करना अपने लिए विष माँगने जैसा है। भक्ति का यथार्थ फल है भगवत्प्रेम। चाहे कोई श्रीकृष्ण से भोग की इच्छा करे, किन्तु सर्वशक्तिमान् प्रभु उसकी स्थिति देखते हैं तथा धीरे-धीरे उसे भोगोन्मुखी जीवन से मुक्त करके

उत्तरोत्तर अपनी भक्ति में ही नियुक्त कर देते हैं। भक्ति से यथार्थ रूप में सम्पन्न होने पर उसे अपनी प्राकृत आकांक्षा तथा इच्छाओं का विस्मरण हो जाता है। श्रीमद्‌भागवत (५.१९.२७) में इसका अनुमोदन है—

सत्यं दिशत्यार्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥

"यह सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तों की इच्छा पूर्ण करते हैं, पर वे उन इच्छाओं की पूर्ति नहीं करते, जिनसे क्लेश अथवा अनर्थ हो। भक्त में विषय वासनाओं से दूषित आकांक्षाएँ भी हों, पर भक्ति के प्रताप से शनैः शनैः विषयेषणा से मुक्त होकर वे प्रेमभक्ति सुखामृत के अनन्य अभिलाषी बन जाते हैं।"

प्रायः लोग भक्तों का संग भी भोग प्राप्ति के लिए करते हैं, किन्तु देखा जाता है कि शुद्ध भक्त के प्रभाव से विषय-वासना निवृत्त हो जाती है जिससे वे भी भक्ति-रसास्वादन में लग जाते हैं। श्रीकृष्ण-भक्ति इतनी उत्तम तथा शुद्ध है कि उस में लगते ही शुद्धि हो जाती है और भक्त सम्पूर्ण प्राकृत आकांक्षाओं को भूल बैठता है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं ध्रुव महाराज। उन्होंने भोगों के लिए कृष्णभक्ति अंगीकार की थी। श्रीकृष्ण के चतुर्भुज विष्णुरूप से प्रकट होने पर श्रीध्रुव ने उनसे कहा, "प्रभो! महान् तपस्या तथा त्याग-पूर्वक आपकी भक्ति करने के फलस्वरूप मैं आपका दर्शन कर रहा हूँ। देवता तथा ऋषि भी आपको नहीं देख पाते। अतः अब आपके दर्शन से मैं सन्तुष्ट तथा कृतार्थ हो गया हूँ। मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए। मैं कांच के टुकड़े की खोज में लगा हुआ था, पर उसके स्थान पर मुझे एक महान् तथा अमूल्य रत्न मिल गया।" इस प्रकार प्रभु-दर्शन से सन्तुष्ट होकर ध्रुव जी ने उनसे और कुछ नहीं मांगा।

चौरासी लाख योनियों में भटकते जीवात्मा को नदी प्रवाह में बहते लकड़ी की उपमा दी जाती है। कभी-कभी, भाग्यवश कोई एक लकड़ी किनारे जा लगती है और इस प्रकार और आगे बहने से बच जाती है। श्रीमद्‌भागवत का एक श्लोक (१०.३८.५) बद्ध जीव को यह प्रेरणा देता है—"कोई जीव यह सोचकर उदास न हो कि वह कभी माया मुक्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि माया-मुक्त होने की पूर्ण सम्भावना है, उसी प्रकार जैसे नदी में बहता लकड़ी का टुकड़ा कभी भी किनारे लग सकता है।" श्रीमन्-महाप्रभु ने इस भाग्योदय का वर्णन किया। ऐसे भाग्योदय को अपने बद्ध-जीवन की समाप्ति का आरम्भ समझना चाहिए। यह होता है भगवद्-

प्रेमियों के संग से। शुद्ध भक्तों के संग से श्रीकृष्ण रति जागती है। कर्मकाण्ड के अनेक भेद हैं! उनमें से कुछ भक्ति-प्रदायक हैं तो कुछ मुक्ति देने वाले हैं। किन्तु भक्तों के संग से भगवद्भक्ति को बढ़ाने वाले कर्मों के सम्पादन से चित्त अपने-आप भक्ति की ओर आकृष्ट हो जाता है।

श्रीमद्भागवत (१०.५१.५४) में श्रीमुचुकुन्द ने कहा है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज् जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥

"प्रभो! इस संसार की विभिन्न योनियों में भ्रमण करता हुआ जीव मुक्ति के मार्ग पर प्रगति कर सकता है। किन्तु सौभाग्यवश आपके भक्त का संग मिलने पर वह पुरुष यथार्थ में मायामुक्त होकर आपका भक्त बन जाता है।"

बद्ध जीव के कृष्ण-भक्ति में संलग्न होने पर अपनी अहैतुकी कृपा से प्रभु उसे दो रूपों में शिक्षा देते हैं— गुरु द्वारा तथा स्वयं अन्तर्यामी परमात्मा रूप से। श्रीमद्भागवत (११.२९.६) के अनुसार "प्रभो! ब्रह्मा की आयु प्राप्त होने पर भी आपके स्मरण से होने वाले लाभ की कृतज्ञता व्यक्त नहीं की जा सकती। अपनी अहैतुकी कृपा से आप बाहर गुरु तथा अन्तर्यामी परमात्मा रूप से सम्पूर्ण अमंगलों को हर लेते हैं।"

अत: किसी प्रकार यदि शुद्धभक्त का सान्निध्य प्राप्त हो जाय तो जीव में कृष्णभक्ति की कामना जागृत हो उठती है; फिर धीरे-धीरे भगवत्प्रेम को प्राप्त कर वह मायामुक्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत (११.२०.८) में भगवान् भी यही कहते हैं— "मेरी कथा में श्रद्धा-रुचि रखने वाला तथा सासारिक कृत्यों में राग-द्वेष से रहित पुरुष मेरी भक्ति से सफलतापूर्वक भगवत्प्रेम को प्राप्त हो जाता है।" परन्तु शुद्धभक्त की महत्कृपा के बिना संसिद्धि नहीं हो सकती। महत्कृपा के बिना भगवत्प्रेम तो दूर, संसार से मुक्ति भी असम्भव है। यह सत्य श्रीमद्भागवत (५.१२.१२) के रहूगण-भरत सम्वाद में भी स्वीकृत है। अपनी तत्त्वानुभूति पर राजा रहूगण को विस्मित देखकर श्रीजड़भरत बोले—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

"रहूगण! महत्कृपा अथवा भक्तकृपा बिना भक्ति के परम फलस्वरूप भगवत्प्रेम की प्राप्ति किसी को भी नहीं हो सकती। केवल शास्त्र विधि, संन्यास, विद्या, त्याग, तपादि से यह नहीं होती।"

इसी प्रकार जब नास्तिक पिता हिरण्यकशिपु ने भक्ति के प्रति उनके आकर्षण का कारण पूछा तो प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया, "जब तक भगवद्भक्तों की चरणरज से अभिषेक नहीं किया जाता, तब तक सब अनर्थों की निवृति करने वाले कृष्णभक्ति के पथ का स्पर्श भी नहीं हो सकता।" (भागवत ७.५.३२)

इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन से कहा कि सम्पूर्ण शास्त्र पुन: पुन: शुद्ध भगवद्भक्तों के संग पर बल देते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के शुद्धभक्त के संग का अवसर जीव की सर्वसंसिद्धि का श्रीगणेश करने वाला है। इसके अनुमोदन में श्रीमद्भागवत (१.१८.१३) में कहा है कि भगवद्-भक्त के संग से प्राप्त होने वाले लाभ तथा आशीर्वाद अतुलनीय हैं। उनके समान स्वर्गप्राप्ति, मुक्ति आदि कुछ भी नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता की परम गोपनीय शिक्षा में इसकी पुष्टि करते हुए अर्जुन से कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"अर्जुन! सदा सर्वदा मेरा चिन्तन करते हुए मेरे भक्त बनो। मेरी ही पूजा करो तथा मुझे ही नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम निस्सन्देह मुझे प्राप्त करोगे। यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो।" (गीता १८.६५)

भगवान् श्रीकृष्ण का यह स्पष्ट आदेश किसी भी वैदिक आदेश अथवा विधि-भक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अवश्य ही ज्ञान प्राप्ति के लिए अनेक वैदिक विधान, कर्मकाण्ड, यज्ञ, नियत कर्म, ध्यानयोग तथा ज्ञान-पद्धति आदि हैं। किन्तु "सदा मेरा चिन्तन करते हुए मेरी ही भक्ति करो"— श्रीकृष्ण के इस स्पष्ट आदेश को उनका अन्तिम तथा चरम आदेश मानकर सबको पालन करना चाहिए। इस आदेश में पूर्ण विश्वास रखते हुए अन्य सब कार्य समाप्त कर के भक्ति में नियुक्त होने से सफलता की प्राप्ति निश्चित है। इसकी पुष्टि के लिए श्रीमद्भागवत (११.२०.९) में कहा है कि मुक्ति के अन्य साधनों को तभी तक करना चाहिए जब तक श्रीकृष्ण के स्पष्ट आदेश में पूर्ण विश्वास न हो। श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीता का चरम निष्कर्ष यही है कि सब व्यवहारों को त्याग कर अनन्य भक्ति करनी चाहिए, यही भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश है।

भगवान् के आदेश-पालन के सुदृढ़ निश्चय को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धावान् व्यक्ति को इस बात का दृढ़ विश्वास रहता है कि केवल कृष्णभक्ति

करने से कर्मकाण्ड, यज्ञ, योग, ज्ञानादि अन्य क्रियाओं का सम्पादन अपने-आप हो जाता है। ऐसे श्रद्धालु के लिए भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती। श्रीमद्भागवत (४.३१.१४) के अनुसार—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

"पेड़ की जड़ को सींचने से शाखा, उपशाखा, फलादि का पोषण अपने-आप हो जाता है तथा उदरपूर्ति से सब इन्द्रियों की तृप्ति होती है। उसी प्रकार कृष्णभक्ति से अन्य सब स्वरूपों की पूजा सम्पन्न हो जाती है।"

श्रद्धा के तारतम्य के अनुसार भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं। उत्तम भक्त वैदिक ज्ञान तथा उपरोक्त दृढ़ श्रद्धा से सम्पन्न होता है। उसमें अन्य सब जीवों को मुक्त करने की सामर्थ्य भी रहती है। मध्यम अधिकारी दृढ़ श्रद्धावान् तो होता है, किन्तु शास्त्र-प्रमाण नहीं दे सकता। कनिष्ठ अधिकारी वह है जिसकी श्रद्धा दृढ़ नहीं है, किन्तु जो क्रमशः भक्ति के अनुष्ठान से प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी में पहुँच सकता है। श्रीमद्भागवत (११.२.४५.४७) में उल्लेख है कि उत्तम भक्त सब जीवों में सदा परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करता है। इस प्रकार उसे सर्वत्र केवल श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण दिखाई देते हैं। मध्यम भक्त भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास रखता हुआ भक्तों से मैत्री, दीनों पर दया तथा अभक्तों से उपेक्षा का व्यवहार करता है। प्राकृत अथवा कनिष्ठ भक्त गुरु-आदेशानुसार भक्ति अथवा परिवार की प्रथा के कारण अर्चना (पूजन) करता है, किन्तु उसे भक्ति के अथवा भक्त-अभक्त के लक्षणादि का ज्ञान नहीं होता। ऐसे प्राकृत भक्त को यथार्थ में शुद्धभक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भक्ति-पथ पर चलते हुए भी उसकी स्थिति अधिक सुरक्षित नहीं होती।

यह निर्णय किया जा सकता है कि भगवान् के लिए प्रेम, भक्तों से मैत्री, दीनों पर करुणा तथा अभक्तों के प्रति उपेक्षा का प्रदर्शन करने वाला शुद्ध भक्त है। भक्ति के साधन से ऐसा भक्त जीवमात्र को परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश रूप में अनुभव करता है। जीव-जीव में उसे श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इस प्रकार उसे श्रीकृष्णभावनामृत सुलभ हो जाती है। इस स्थिति में वह भक्त-अभक्त में भी भेद नहीं करता, क्योंकि उसे सभी भगवत्सेवा-परायण दिखते हैं। श्रीकृष्णभावनामृत और भक्ति में तत्पर रहने से उसमें समस्त अलौकिक गुणों का संचार हो जाता है।

श्रीमद्भागवत (५.१८.१२) के अनुसार—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

"श्रीभगवान् में जिसकी निष्काम भक्ति है, उस भक्त में सम्पूर्ण गुणों सहित सारे देव निवास करते हैं तथा जो हरि-भक्त नहीं है, वह सब प्रकार के सांसारिक गुणों से अलंकृत होने पर भी अवश्य भटक जाएगा, क्योंकि वह विषयों के पीछे ही दौड़ता रहता है।"

अतः भक्तिहीन प्राकृत गुण बिल्कुल निरर्थक और निस्सार हैं।

अध्याय १२

श्रीकृष्ण-भक्त

भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेम-भक्तिपूर्ण सेवा में पूर्ण रूप से समर्पित कृष्ण-भावनाभावित पुरुष में सारे दैवी गुणों का पूर्ण प्रकाश रहता है। दैवी गुण अनेक हैं। किन्तु श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन को केवल कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन सुनाया। भगवद्भक्त सदा, सर्वदा सभी पर कृपा करता है, कभी किसी से द्रोह अथवा लड़ाई नहीं करता। सत्यपरायण होने के कारण वह केवल भगवान् में रुचि रखता है। वह सबके साथ समता का व्यवहार करता है तथा खोजने पर भी उसमें कोई दोष नहीं दिख सकता। भाव यह है कि भक्त सब प्रकार से निर्दोष व्यवहार करता है। उसका उदार मन रागद्वेष से रहित, सदा मृदु और शुचि रहता है। भक्त सर्वदा सर्वोपकारक, शान्त तथा कृष्णैकशरण है। उसमें विषयवासना का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। भक्त पूर्ण विनयी तथा अपने एकमात्र लक्ष्य कृष्ण-भक्ति में स्थिर रहता है। वह कामादि षड्वर्ग विजयी तथा मितभोगी होता है। औरों को मान देता है, पर स्वयं अमानी रहता है। उसके कुछ अन्य गुण हैं—गाम्भीर्य, कारुण्य, मैत्री, कवित्व, दक्षता तथा मौन आदि।

श्रीमद्भागवत में (३.२५.२१) भगवद्भक्त-वर्णन में उसे तितिक्षु (सहनशील) तथा करुणामय कहा गया है। वह सब जीवों का सुहृद् है, इसलिए उसका कोई शत्रु नहीं होता। वह शान्त स्वभावी तथा सारे गुणों से युक्त है। कृष्ण-भावनाभावित भक्त के ये कुछ गुण हैं।

श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि महत्सेवन का अवसर मिलने से जीव का मुक्तिपथ प्रशस्त हो जाया करता है। इसके विपरीत, भोगियों में आसक्ति वाले तमोमय मार्ग पर चल रहे हैं। यथार्थ साधुजन ही माया-मुक्त, समचित्त, प्रशान्त, सबके मित्र तथा क्रोधरहित होते हैं। ऐसे साधुजनों के संगमात्र से कृष्ण-भक्ति प्राप्त हो जाती है। वस्तुत: भगवत्प्रेम की प्राप्ति

के लिए साधुसंग अनिवार्य है। साधुसंगी के लिए भगवत्प्राप्ति का मार्ग प्रकाशित हो जाता है तथा भक्तों के अनुसरण से पूर्ण भक्ति में श्रीकृष्ण-भावनामृत का पूर्ण विकास सुनिश्चित है।

श्रीमद्‌भागवत (११.२.२८) में श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव जी नारद मुनि से सारे जीवों के कल्याण का साधन पूछते हैं। उत्तर में नारदजी ने महाराज निमि और नौ योगेश्वरों के संवाद का एक अंश उद्धृत किया है। "हे ऋषियो," राजा निमि ने कहा, "मैं वह साधन जानना चाहता हूँ जिससे सब जीवों का कल्याण हो। इस जीव की सबसे मूल्यवान् वस्तु क्षणमात्र का साधुसंग है, क्योंकि उस एक क्षण से ही भगवत्प्राप्ति का मार्ग मिलता है।" श्रीमद्‌भागवत में अन्यत्र (३.२५.२५) भी इसकी पुष्टि है। महज्जनों के संग तथा उनसे भगवत्कथा श्रवण से भागवत-जीवन का मूल्य बुद्धिगोचर होता है। शीघ्र, कृष्णकथा हृत्कर्णरसायन बन जाती है। इस प्रकार सज्जनों से परमार्थिक कथा सुनकर जब श्रोता उनके अनुरूप अपना जीवन बनाने का प्रयास करता है, तो श्रीकृष्णभावनामृत का पक्ष क्रमशः श्रद्धा, रति तथा भक्ति के रूप में निखरता जाता है।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने आगे वैष्णव-आचार का वर्णन किया। यहाँ मुख्य बात है असत्संग परित्याग। वैष्णव आचार का यही सार-सर्वस्व है। असत् अथवा दु:संग क्या है ? स्त्रीसंगी (स्त्री में अत्यन्त आसक्त) तथा श्रीकृष्ण के अभक्तों का संग ही दु:संग है। ये दोनों असाधु हैं। मनुष्यमात्र को असाधु अभक्तों को बिल्कुल त्याग कर केवल भगवद्‌भक्त साधुजनों का ही संग करना चाहिए। श्रीकृष्ण के शुद्धभक्त बड़ी सावधानीपूर्वक दोनों प्रकार के अभक्तों से बचते हैं। श्रीमद्‌भागवत (३.३१.३३-३५) में उल्लेख है कि जो स्त्रियों के क्रीड़ामृग हैं, उन मनुष्यों का संग कदापि न करे, क्योंकि ऐसे असाधुओं के संसर्ग से सत्य, पवित्रता, दया, मौन, बुद्धि, ह्री (लज्जा), श्री, यश, क्षमा, शम, दम तथा भक्त को स्वतः प्राप्त सारे ऐश्वर्य नष्ट हो जाते हैं। स्त्रीसंगी के संग से मनुष्य का जैसा अधःपतन होता है, वैसा अन्य किसी प्रकार से नहीं होता।

इस सन्दर्भ में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने 'कात्यायन-संहिता' से भी एक उद्धरण दिया— "अग्नि के शिखामय पिंजर में वास करना अच्छा है, पर भगवद्‌भक्ति-विमुख का संग कभी न करें।"

यही नहीं, अधार्मिक अथवा अभक्त मनुष्यों का तो मुख भी कभी नहीं देखना चाहिए। श्रीमहाप्रभु का आदेश है कि दृढ़तापूर्वक ऐसे स्त्रीसंगी

लोगों के संग को त्याग कर श्रीकृष्ण की एकान्त शरण ले। यही आदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता के श्लोक में दिया है—"अन्य सब धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा।" (गीता १८.६६)। भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवत्सल, कृतज्ञ, समर्थ तथा वदान्य हैं। अत: उनकी आज्ञा का पालन करना हमारा परम कर्त्तव्य है। हमारी बुद्धिमानी तथा विद्या की कृतार्थता एवं सिद्धि उनकी आज्ञा के निस्संकोच पालन में ही है। श्रीमद्भागवत (१०.४८.२६) में अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति में कहते हैं—

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद् भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य।।

"प्रभो! जो बुद्धिमान् है, वह आपको छोड़कर और किसकी शरण में जाएगा? आप जैसा प्रिय, सत्यव्रत, सुहृद् तथा कृतज्ञ और कौन है? आप सब प्रकार से पूर्ण हैं, क्योंकि भक्तों को आत्मदान करने पर भी आपमें ह्रास नहीं होता। भक्तवांछाकल्पतरु होने से भक्त के लिए आप स्वयं भी समर्पित हो जाते हैं।"

जो कृष्णभक्ति के दर्शन का मर्मज्ञ है, वह बुद्धिमान् पुरुष सहज ही सर्वस्व त्याग कर कृष्णशरणापन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीगौरहरि श्रीमद्भागवत से उद्धव जी का श्लोक (३.२.२३) उद्धृत करते हैं, "श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कौन शरण लेने योग्य है? उनकी दया का ओर-छोर नहीं। अपने विष-लगे स्तन का पान करा कर बालरूप श्रीकृष्ण की हत्या करने का नृशंस कुभाव रखने वाली पूतना को भी श्रीमुकुन्द ने मुक्त कर अपनी जननी की-सी गति प्रदान की।" यह श्लोक उस लीला से सम्बन्धित है जब पूतना श्रीकृष्ण का वध करने आई थी। श्रीकृष्ण ने उसके विषमय स्तन स्वीकार किए और दुग्धसहित उसके प्राणों को भी खींच लिया। इस कारण पूतना को भगवान् श्रीकृष्ण की मातृगति प्राप्त हुई।

वास्तव में पूर्ण शरणागत जीव तथा संन्यासी (अकिंचन) में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि पूर्ण शरणागत सब प्रकार से कृष्णाश्रित है। शरणागति के छः प्रधान लक्षण (क्रम) हैं— १) भक्ति के अनुकूल विषय का ग्रहण तथा भक्ति का दृढ़ संकल्प, २) भक्ति के प्रतिकूल विषय का त्याग तथा पूर्णत्याग का दृढ़ संकल्प, ३) केवल श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं—यह दृढ़ विश्वास तथा श्रीकृष्ण रक्षा

अवश्य करेंगे, ऐसी पूर्ण श्रद्धा। मायावादी समझता है कि उसका वास्तविक स्वरूप श्रीकृष्ण से एक हो जाने में है, किन्तु भक्त अपने स्वरूप का इस प्रकार कभी नाश नहीं करता। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक परिस्थिति में हर प्रकार से उसका संरक्षण करेंगे। ४) भक्त को सदा श्रीकृष्ण को ही अपना पालक मानना चाहिए। देव-संरक्षण की अपेक्षा सकाम कर्मियों को ही रहती है। श्रीकृष्ण-भक्त अपनी रक्षा के लिए कभी किसी देवता की ओर देखता तक नहीं। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि सब प्रतिकूल परिस्थितियों में भगवान् श्रीकृष्ण उसका रक्षण करेंगे। ५) भक्त को निरन्तर आभास रहता है कि उसके मनोरथ स्वतन्त्र नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही उनकी पूर्ति कर सकते हैं और कोई भी नहीं। ६) अपने को सदा सर्वाधिक अधम जीव समझना चाहिए, जिससे श्रीकृष्ण अनुग्रह करें।

ऐसे शरणागत जीव को श्रीधाम वृन्दावन, श्रीमथुरा, श्रीद्वारका, श्रीमायापुर आदि भगवद्धामों का आश्रय लेकर प्रपन्नभाव से यह विनती करनी चाहिए, "प्रभो! आज से मैं आपका हूँ। अपनी इच्छानुसार मेरी रक्षा कीजिए अथवा मुझे मार डालिए।" शुद्ध भक्त इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की शरण लेता है। श्रीकृष्ण भी कृतज्ञतावश उसे अंगीकार कर उसका पूर्ण संरक्षण करते हैं। श्रीमद्भागवत (११.२९.३४) में उल्लेख है कि जिसकी मृत्यु निकट है, वह यदि भगवान् की पूर्ण शरण लेकर सब प्रकार से उनके आश्रित हो जाता है, वह वास्तव में अमृत को प्राप्त होकर भगवान् के संग दिव्यानन्द का आस्वादन करने के योग्य हो जाता है।

इसके उपरान्त, श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन को साधन-भक्ति के लक्षणों का निर्देश किया। वर्त्तमान इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली भगवत्सेवा साधन-भक्ति कहलाती है। भक्ति वस्तुतः जीव का नित्य जीवन है और नित्य सिद्ध होने के कारण सुप्तावस्था में जीव-हृदय में विद्यमान है। उसे प्रकट करने वाली पद्धति साधन-भक्ति है। तात्पर्य यह है कि स्वरूप से जीव श्रीकृष्ण का नित्य अंश है; भगवान् सूर्य हैं और जीव उस सूर्य की रश्मियों के परमाणु हैं। माया के प्रभाव से यह दिव्य सम्बन्ध समाप्त प्रायः हो जाता है, किन्तु साधन-भक्ति से जीव को पुनः स्वरूप-प्राप्ति हो जाती है। जब कोई साधन-भक्ति करता है तो समझना चाहिए कि वह मूल स्वाभाविक मुक्तावस्था को लौट रहा है। गुरु के आदेशानुसार अपनी सारी इन्द्रियों से साधन-भक्ति की जा सकती है।

श्रीकृष्णभावनामृत को जाग्रत करने वाली क्रियाओं का आरम्भ श्रवण से होता है। श्रवण भक्ति-पथ में प्रगति का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। अतः श्रद्धापूर्वक कृष्ण-कथा सुनने में नित्य नवीन रति बनाए रखनी चाहिए। सब ज्ञान, कर्मादि को ठुकरा कर भक्ति से तो केवल भगवत्प्रेम-प्राप्ति की इच्छा रखनी चाहिए। कृष्णप्रेम जीवमात्र के हृदय में नित्यसिद्ध है, श्रवण से तो केवल उसका उदय होता है। श्रवण तथा कीर्त्तन साधन-भक्ति के मुख्य उपाय हैं।

भक्ति के दो प्रकार हैं—वैधी तथा रागानुगा। जिसका श्रीकृष्ण में अनुराग नहीं हुआ है, उसे शास्त्र तथा गुरु के विधि-निर्देशानुसार जीवन-यापन करना चाहिए। श्रीमद्भागवत (२.१.५) में श्रीशुकदेव जी का परीक्षित को परामर्श है—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरोहरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

"हे भरत! जो भय से मुक्ति चाहता है, उसका प्रधान कर्त्तव्य है कि वह परम-ईश्वर श्रीहरि (श्रीकृष्ण) का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करे। यह परम आवश्यक है कि श्रीहरि का स्मरण निरन्तर क्षण-क्षण में होता रहे। वे ही सारे विधि सिद्धान्तों के सार-सर्वस्व हैं।"

सम्पूर्ण नियम, विधान तथा विधि-निषेधों के चिन्तन से यही निर्णीत होता है कि भगवान् का स्मरण इन सब का सार-सर्वस्व है। हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य स्मरण भक्ति का लक्ष्य है। शुद्ध रागानुगा भक्ति में विधि-निषेध का कोई बन्धन नहीं रहता। इस रागानुगा भक्ति की स्थिति में उन सबका लोप हो जाता है।

परन्तु साधन-भक्ति के समुचित अनुष्ठान में निम्नलिखित विधि-सिद्धान्त अनिवार्य हैं—१) सद्गुरुपादाश्रय, २) दीक्षा, ३) गुरुसेवा, ४) भागवत धर्म जिज्ञासा तथा शिक्षा-ग्रहण, ५) रागानुगा-भक्ति में साधु मार्गानुगमन, ६) कृष्ण-प्रीति के लिए भोग त्याग, ७) कृष्णतीर्थ-वास, ८) श्रीकृष्ण की इच्छा से प्राप्त पदार्थ में सन्तोष तथा अन्य इच्छाओं का त्याग, ९) एकादशी उपवास (यह प्रत्येक मास के कृष्ण एवं गौर पक्ष के ग्यारहवें दिन आती है) इस दिन अन्न-भोजन वर्जित है। केवल दूध एवं साग-फल सीमित परिमाण में खाने चाहिए तथा 'हरे कृष्ण' कीर्तन जप और स्वाध्याय-शास्त्राध्ययन अधिक करना चाहिए। १०) वैष्णव, गौ, पीपल आदि का सम्मान।

भक्ति मार्ग मे नवदीक्षित भक्त के लिए इन दस नियमों का पालन अनिवार्य है। सेवा तथा नामापराधों से भी बचना चाहिए। नाम-कीर्त्तन जप में बनने वाले दस अपराधों को दूर से ही त्याग देना चाहिए। दस नाम-अपराध ये हैं। १) वैष्णव भक्त-निन्दा, २) श्रीभगवान् एवं अन्य देवताओं को समान समझना, ३) गुरु अवज्ञा, ४) वेद-निन्दा, ५) नाम में अर्थ-वाद करना, ६) नाम महिमा को कल्पना समझना, ७) नाम के बल पर पाप करना। ८) अन्य साधनों से नाम की तुलना, ९) श्रद्धाहीन को भगवन्नाम की महिमा सुनाना, १०) भगवन्नाम जप में असावधानी तथा जप करने पर भी भोगासक्ति बनाए रखना। दस अतिरिक्त विधान इस प्रकार हैं। १) सेवा एवं नामापराध से बचना। २) अवैष्णव के संग का त्याग। ३) बहुत शिष्य न बनाए। ४) अनेक ग्रन्थों का अध्ययन अथवा किसी एक ग्रन्थ का अधूरा अध्ययन तथा मतवाद न करे। ५) हानि-लाभ में समचित्त रहे। ६) शोकादि के वशीभूत न हो। ७) अन्य देव एवं अन्य शास्त्र की निन्दा न करे। ८) श्रीविष्णु, वैष्णव निन्दा सहन न करे। ९) ग्राम्य वार्त्ता न करे। १०) प्राणीमात्र में किसी को भी कष्ट न दे।

श्रीरूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत "श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु" में उल्लेख है कि भक्त को अत्यन्त उदार व्यवहार करना चाहिए तथा अनुचित कर्मों से बचना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण विधान है—सद्गुरु-पादाश्रय, दीक्षा तथा गुरु सेवा।

इनके अतिरिक्त, भक्ति के पैंतीस अन्य अंग हैं।

१) श्रवण, २) कीर्त्तन, ३) स्मरण, ४) अर्चन, ५) वन्दन, ६) परिचर्या, ७) दास्य, ८) सख्य, ९) आत्मनिवेदन, १०) श्रीमूर्ति के आगे नृत्य करना, ११) गाना, १२) विज्ञप्ति, १३) दण्डवत्-प्रणाम, १४) वैष्णव के आगे खड़े होना, १५) वैष्णव के पीछे चलना, १६) मन्दिर और तीर्थ में गमन, १७) मन्दिर परिक्रमा, १८) स्तव पाठ, १९) जप, २०) संकीर्त्तन, २१) भगवदर्पित सुगंध तथा पुष्प का ग्रहण, २२) महाप्रसाद ग्रहण, २३) आरती, २४) श्रीमूर्ति-दर्शन २५) भगवान् को स्वादिष्ट पदार्थ अर्पित करना, २६) ध्यान, २७) तुलसीसिंचन, २८) वैष्णव सम्मान, २९) व्रज-वास, ३०) श्रीमद्भागवत-सेवन, ३१) श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए पूर्ण चेष्टा, ३२) भगवत्कृपा की बाट देखना, ३३) भक्तों सहित भगवान् के जन्मादि महोत्सव मनाना, ३४) पूर्ण शरणापत्ति, ३५) कार्तिकादि व्रत पालन। इनके अतिरिक्त चार और हैं—१) शरीर पर वैष्णव-चिह्न चन्दन-

तिलक आदि धारण करना, २) शरीर पर भगवन्नाम लिखना, ३) भगवत्प्रसाद के रूप में वस्त्र धारण करना, ४) श्रीभगवान् का चरणामृत-पान। इन ३९ भक्ति अंगों में निम्नलिखित पाँच साधन सर्वश्रेष्ठ हैं— १) साधुसंग, २) नाम-कीर्त्तन, ३) भागवत-श्रवण, ४) व्रजवास तथा ५) अर्चाविग्रह-सेवन। भक्तिरसामृतसिन्धु में श्रीरूप गोस्वामी ने इनका विशेष वर्णन किया है। इन पाँच अंगों का उक्त ३९ अंगों सहित गिनने पर कुल ४४ अंग होते हैं। इनके अतिरिक्त २० प्रारम्भिक विधान हैं। इस प्रकार भक्ति के चौसठ अंग सिद्ध हुए। मन, वाणी और शरीर द्वारा इन चौंसठ अंगों का पालन करने से भक्ति शनैः शनैः शुद्ध हो जाती है। इनमें कुछ अंग बिल्कुल अलग हैं, कुछ समान हैं और कुछ मिश्रित प्रतीत होते हैं।

श्रीमद् रूप गोस्वामी ने सजातीय मानसिक वृत्ति वाले भक्तों का संग करने का परामर्श दिया है। अतएव श्रीकृष्णभावनामृत के लिए किसी संस्था की स्थापना कर उसमें सम्मिलित होकर भक्ति और कृष्ण-ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए। ऐसी संस्था में निवास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत का परस्पर ज्ञान। श्रद्धा तथा प्रेमाभक्ति के बढ़ने पर ये अर्चा-सेवा, नाम-संकीर्त्तन तथा वृन्दावनवास के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं।

३९ अंगों के बाद कहे पाँच अंग परम महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक हैं। इन पाँचों के अल्पमात्र साधन से भी जीव शीघ्र प्रेम की सर्वोत्तम अवस्था प्राप्त कर सकता है। अपनी योग्यता के अनुसार भक्त इनमें से एक ही अंग का अनुष्ठान करे अथवा एक से अधिक का, मार्ग की उन्नति में मुख्य बात है भक्ति में पूर्ण अनुराग। इतिहास में अनेक भक्तों को केवल एक ही अंग से भक्ति का चरम लक्ष्य—प्रेम प्राप्त हुआ है तथा अम्बरीष महाराज जैसे भी भक्त हुए हैं, जिन्होंने सभी अंगों का साधन किया। केवल एक अंग से भक्ति का लक्ष्य-प्रेम प्राप्त करने वाले कुछ भक्त ये हैं—केवल श्रवण से मुक्ति तथा भक्ति को प्राप्त हुए राजा परीक्षित; कीर्त्तन से शुकदेवजी; स्मरण से प्रह्लाद महाराज; पादसेवन से लक्ष्मी जी; पूजन से राजा पृथु; वन्दन से श्रीअक्रूर; भगवद्दास्य से रामभक्त श्रीहनुमानजी; सख्य से अर्जुन तथा आत्मनिवेदन से बलि राजा को प्रेम-संसिद्धि प्राप्त हुई। महाराज अम्बरीष ने भक्ति के सब अंगों का साधन किया। उन्होंने अपने मन को श्रीकृष्ण-पदारविन्द में निवेदित किया, वाणी को श्रीकृष्ण-गुणानुवर्णन

में नियोजन किया; हरिमन्दिर मार्जनादि में हाथों को, अच्युत भगवान् की पावन कथा के श्रवण में कानों को तथा प्रभु मूर्ति के दर्शन में नेत्रों को नियुक्त किया। वे अंग-संग से भक्तसेवा, नाक से कृष्णपादार्पित सरोज की सुगन्धि-ग्रहण, जीभ से श्रीकृष्ण-पदारविन्दार्पित तुलसी-ग्रहण, चरणों से श्रीकृष्ण-मन्दिर गमन तथा मस्तक से भगवान् का वन्दन करते थे। सब कामनाओं तथा इच्छाओं को इस प्रकार भगवद्भक्ति में नियोजित करने के कारण महाराज अम्बरीष सर्वांगा-भक्ति के आदर्श हैं।

अन्य सारी कामनाओं को त्याग कर शुद्ध कृष्णभक्ति से भावित होकर भगवत्सेवा-परायण पुरुष देवता, पितर ऋषि आदि के उन सब ऋणों से मुक्त हो जाता है, जो साधारण मनुष्य पर रहते हैं। श्रीमद्भागवत (११.५.४१) प्रमाण है:

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणि च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

"जो पूर्ण रूप से भगवत्सेवा-परायण है, उस भक्त पर देवता, ऋषि, अन्य जीवों, सम्बन्धी, पितर अथवा अन्य किसी का कोई भी ऋण शेष नहीं रहता।"

जन्म होते ही मनुष्य अनेक प्राणियों का ऋणी हो जाता है; इस कारण उसे कितने ही कृत्यों का सम्पादन करना पड़ता है। किन्तु सर्वात्मभाव से कृष्ण-शरण ले लेने पर कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। वह सब ऋणों से मुक्त हो जाता है।

यह विशेष रूप से जानने योग्य है कि अन्य सब विधिधर्म त्यागकर रागानुगा मार्ग से श्रीकृष्णसेवा करने वाले भक्त में कोई कामना अथवा निषिद्ध पापाचार की सम्भावना नहीं हो सकती। किन्तु यदि इच्छा न होने पर भी उससे कोई पापकर्म बन जाए तो भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकार से उसकी रक्षा करते हैं। भक्ति के अतिरिक्त उसे अन्य किसी विधि से प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता। श्रीमद्भागवत से यह परिपुष्ट है (११.५.४२)—
"जो श्रीकृष्ण की अनन्य सेवाभाव के साथ श्रीकृष्ण-चरण सेवन में तत्पर है, भगवान् श्रीहरि अपने उस भक्त की सब प्रकार से रक्षा करते हैं। यदि उसके द्वारा अज्ञान या परिस्थितिवश कोई पापकर्म बन भी जाए तो हृदय-वासी श्रीहरि उसे दूर करके अपने भक्त की पूर्ण रक्षा करते हैं।"

ज्ञान तथा वैराग्य भक्ति के अंग कभी नहीं हो सकते। भक्ति में अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह आदि की अपेक्षा नहीं है, चाहे अन्य पद्धतियों में इनकी प्राप्ति

आवश्यक हो सकती है। इन गुणों के लिए अलग से प्रयत्न किए बिना भक्ति के प्रभाव द्वारा ये गुण भक्त में अपने-आप प्रकट हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत (११.२०.३१) में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं कि भक्त के लिए ज्ञान-वैराग्य अनावश्यक है।

अध्याय १३

रागानुगा-भक्ति

केवल भ्रमवश ही कुछ अध्यात्मवादी ऐसा मानते हैं कि भक्ति के स्तर तक उन्नति के लिए ज्ञान-वैराग्य आवश्यक हैं। यह सत्य नहीं है। देहात्मबुद्धि से विपरीत अपना दिव्य स्वरूप समझने के लिए ज्ञान तथा सकाम कर्म से वैराग्य की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु भक्ति के अभिन्न अंग ये कदापि नहीं हैं। ज्ञान और सकाम कर्म के फल, क्रमश: मुक्ति तथा इन्द्रिय-तृप्ति हैं। अत: वे भक्ति के अंग कभी नहीं हो सकते; भक्ति के अनुष्ठान में उनका अपना कोई मूल्य नहीं है। भक्ति की प्राप्ति ज्ञान और सकाम कर्म के बन्धन से मुक्त होने पर ही होती है। कृष्णभक्त स्वाभावत: अहिंसा, शम-दम आदि (मन-इन्द्रिय-निग्रह) से सम्पन्न होता है। इस कारण ज्ञान तथा सकाम कर्मों से प्राप्त होने वाले गुणों के लिए उसे कुछ भी विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

भगवान श्रीकृष्ण से वैदिक विधि-विधान के सम्बन्ध में उद्धवजी ने जिज्ञासा की, ''प्रभो! क्या कारण है कि एक ओर तो वैदिक मन्त्र विषय-भोग के लिए प्रोत्साहित करते हैं, वहीं दूसरी ओर वैदिक शिक्षा मनुष्य को माया-मुक्त करके मुक्ति की ओर प्रेरित भी करती है?'' वैदिक नियम स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा निर्दिष्ट हैं, किन्तु बहिरंगा दृष्टि से उनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। श्रीउद्धव इन परस्पर असंगतियों की निवृत्ति कराना चाहते थे। उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण ने उनसे भक्ति की परमोत्कृष्टता का उल्लेख किया।

''मेरी भक्ति में और मन से मेरे अनन्य चिन्तन में संलग्न जीव के लिए ज्ञान-वैराग्य की प्राप्ति का प्रयत्न न तो सम्भव है और न आवश्यक ही।'' स्वयं श्रीभगवान् का निर्णय है कि भक्ति अन्य सब साधनों से स्वतन्त्र है। ज्ञानयोग, वैराग्य अथवा ध्यानादि प्रारम्भ में कुछ सहायक सिद्ध हो सकते

हैं, किन्तु भक्ति के आचरण में उन्हें आवश्यक कभी नहीं कहा जा सकता। भाव यह है कि ज्ञान-वैराग्य के बिना स्वतन्त्र रूप से भी भक्ति हो सकती है। इस सन्दर्भ में 'स्कन्दपुराण' का एक श्लोक है जिसमें पर्वत मुनि एक व्याध से कहते हैं—"हे व्याध! तुझ में जो ये अहिंसादि गुण आ गए हैं, यह कुछ भी आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि हरिभक्ति-परायण भक्त कभी किसी को दुःख नहीं दे सकते।"

यह विवेचन करके श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीसनातन से कहा, "सनातन ! यहाँ तक मैंने तुम्हें विधि-साधन भक्ति का विवरण सुनाया है। अब रागानुगा-भक्ति के लक्षण सुनो।"

श्रीधाम वृन्दावन के व्रजवासी रागात्मिका भक्ति के ज्वलन्त प्रतीक हैं। उनकी भक्ति सर्वोच्च आदर्शस्वरूपा शुद्ध रागमयी है; यह रागात्मिका भक्ति केवल वृन्दावनवासियों में रहती है। व्रजवासियों के अनुगमन से यह रागमार्गा-भक्ति प्राप्त होती है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१.२.२७०) के अनुसार—"भक्त में भक्ति के प्रति स्वाभाविक रूप से पाई जाने वाली प्रेममयी परमाविष्टता का नाम राग है।" रागमयी भक्ति तथा प्रियतम में परमाविष्टता सहित गाढ़ तृष्णा को रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इनके प्रत्यक्ष उदाहरण व्रजवासियों की क्रियाओं में दीखते हैं। उक्त राग का वर्णन सुन कर जो श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट हो जाता है, वह वास्तव में अतिशय भाग्यशाली है। उस रागात्मिका भक्ति के लिए लुब्ध होकर व्रजवासियों का अनुगत करता हुआ वह शास्त्र के विधि-निषेध की अपेक्षा नहीं रखता। रागभक्ति के भक्त का यह एक प्रमुख लक्षण है।

रागानुगा-भक्ति स्वाभाविक होती है; उसका लोलुप शास्त्र-विधि उपस्थित करने वाले विरोधियों से भी तर्क नहीं करता। भक्ति-भाव की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी शास्त्र पर आधारित है, इसलिए रागानुग भक्त को केवल शास्त्रार्थ के बल से उसे नहीं त्यागना चाहिए। इस विषय में स्मरणीय है कि 'प्राकृत-सहजिया' जैसे नामधारी भक्त स्वनिर्मित पद्धति से श्रीराधा-कृष्ण का रूप धारण कर दुराचार करते हैं। ऐसी नामधारी भक्ति और राग मिथ्या हैं। जो इनमें प्रवृत्त हैं, वे वास्तव में नरक में गिर रहे हैं। यह रागात्मिका अथवा भक्ति का आदर्श नहीं है। 'प्राकृत सहजिया' वर्ग वास्तव में छलित और अतिशय अभागा है।

रागानुगा-भक्ति बाह्य और अन्तरंग—दो प्रकार से सम्पादित होती है। बाह्य रूप से भक्त श्रवण कीर्तन आदि विधि नियमों का दृढ़तापूर्वक

पालन करता है और अन्तर में श्रीकृष्ण की सेवा में आकृष्टकारी राग का चिन्तन करता है। वास्तव में तो वह सदा अपनी विशिष्ट भक्ति और राग के चिन्तन में ही मग्न रहता है। **ऐसा भक्त रागभक्ति के विधि-विधान का** उल्लघंन नहीं करता। यथार्थ भक्त इन नियमों का अक्षरश: पालन करता हुआ भी सदा अपनी रागमयी सेवा के चिन्तन में रहता है।

सब व्रजवासी श्रीकृष्ण को अतिशय प्रिय हैं; अत: अपनी भक्ति की सफलता के लिए प्रत्येक भक्त किसी एक व्रजवासी की अनुगति करता है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१.२.२९४) में परामर्श है कि रागानुगामार्ग के **शुद्धभक्त** को अपने **अभीष्ट**, **श्रीकृष्ण**-परिकर (ब्रजवासी) की सेवा का नित्य स्मरण करना चाहिए। इस पद्धति से व्रज में निवास न कर सकने पर भी अन्तश्चिन्तन द्वारा वह सदा व्रजवास कर सकता है।

श्रीकृष्ण की रागानुगा-सेवा में अनुरक्त अन्तरंग भक्तों के सेवक, मित्र, माता-पिता तथा प्रेयसी अनेक वर्ग हैं। रागानुगा भक्ति किसी एक व्रजवासी के अनुगत्य में की जाती है। श्रीमद्भागवत (३.२५.३८) में श्रीभगवान् कहते हैं—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषोलेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्।

"'मत्पर' शब्द उन्हीं का वाचक है जो केवल मेरी अनुरक्ति में पूर्ण सन्तुष्ट हैं। वे मुझे ही अपनी आत्मा, मित्र, पुत्र, स्वामी, सुहृद्, भगवान् और इष्ट मानते हैं। हे जननि! कालचक्र भी ऐसे भक्तों को ग्रस नहीं सकता।"

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१.२.३०८) में श्रीरूप गोस्वामी ने भगवान् श्रीकृष्ण को पति, पुत्र, सुहृद्, सखा, रूप से चिन्तन करने वाले भक्तों की वन्दना की है। जो रागानुगा-भक्ति के सिद्धान्तों का किसी व्रजवासी की अनुगति में पालन करता है, वह उस-उस भाव में कृष्णप्रेम की परम संसिद्धि निस्सन्देह प्राप्त करता है।

कृष्णप्रेम का बीज दो लक्षणों के रूप में बढ़ सकता है— रति (राग) तथा भाव (कृष्णप्रेम से पूर्व की स्थिति)। रति एवं भाव से परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भक्त-परवश हो जाते हैं। ये दोनों प्रेम के किसी भी लक्षण से पूर्व प्रकाशित रहते हैं। इस विषय का सांगोपांग वर्णन श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीसनातन को सुनाया। श्रीमहाप्रभु ने बताया कि रागानुगा-भक्ति का अन्त न होने के कारण वे केवल संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके बाद श्रीमहाप्रभु ने भक्ति के उस परम लक्ष्य का वर्णन किया, जो संसिद्धि के

अभिलाषी के लिए है। श्रीकृष्ण में रति (राग) की प्रगाढ़ता होने पर कृष्ण-प्रेम होता है। उस प्रेम को भक्तिरस का स्थायीभाव कहा जाता है। इस सन्दर्भ में श्रीकृष्णदास कविराज ने परमोज्जवल प्रेम-तत्त्व की शिक्षा के प्रदाता श्रीमहाप्रभु की वन्दना की है (चैतन्य चरितामृत, मध्य २३.१)—

"हे भगवान् गौरहरि! आपके अतिरिक्त और किसने इस शुद्ध प्रेम का वितरण किया है? हे सर्वाधिक वदान्य भगवत्-अवतार! आपके इस गौरकृष्ण रूप की मैं सादर वन्दना करता हूँ।"

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१.३.१) में श्रीकृष्ण से प्रेम की स्थिति को सूर्य से निस्सृत सूर्य-किरणों की उपमा दी गई है; ये सूर्य-किरण भक्त-हृदय को उत्तरोत्तर स्निग्ध (द्रवीभूत) बनाती हैं। इस प्रकार भक्त का हृदय सत्त्वगुण से भी परे विशुद्ध सत्त्व के अलौकिक स्तर पर स्थित रहता है। प्रेमरूपी सूर्य-किरणों से हृदय को उत्तरोत्तर द्रवीभूत करने की प्रक्रिया को भाव कहते हैं। श्रीरूप गोस्वामी ने भाव का वर्णन किया है। भाव जीव का स्वरूप लक्षण है; भाव में प्रगति को प्रेम का तटस्थ लक्षण कहते हैं। भाव की प्रगाढ़ता को विद्वान् भक्तों ने कृष्ण-प्रेम कहा है। नारदपंचरात्र के अनुसार—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युचयते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

"जब किसी का यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि एकमात्र श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) ही प्रेमास्पद एवं आराध्य हैं, अन्य कोई भी देवता भक्ति के योग्य नहीं है, तब वह श्रीकृष्ण से अन्तरंग और महत्त्वपूर्ण प्रेम का आस्वादन करता है। भीष्म, प्रह्लाद, नारद, उद्धवादि इस निश्चय भाव को 'प्रेम भक्ति' कहते हैं।"

भक्ति को जागृत करने वाले किसी सत्कर्म से जब जीव के सेवाभाव में श्रद्धा उत्पन्न होती है, तो वह साधु-संग करता है तथा इस प्रकार श्रवण-कीर्त्तन में उसका आकर्षण हो जाता है। श्रवण-कीर्त्तन की क्रिया से भगवान् श्रीकृष्ण की वैधी-भक्ति मे उत्तरोत्तर उन्नति की जा सकती है। जैसे-जैसे प्रगति होती है, वैसे-वैसे ही सब संशय-अनर्थ और प्राकृत-जगत् में आसक्तियाँ दूर होती जाती हैं। श्रवण-कीर्त्तन के निरन्तर अभ्यास से भक्ति में निष्ठा उत्पन्न हो जाती है जो शनैः शनैः भक्ति-विषयक रुचि में बदल जाती है। रुचि से आसक्ति का उदय होता है। शुद्ध आसक्ति भाव एवं रति के रूप में प्रकट होती है। रति के बढ़ने पर उसे कृष्णप्रेम कहते हैं। वही प्रेम जीवन का परम प्रयोजन है।

श्रीरूप गोस्वामी ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१.४.१५-१६) में इस

पद्धति का संक्षिप्त वर्णन किया है। सर्वप्रथम श्रद्धा होनी चाहिए; श्रद्धा के कारण ही जीव साधु-संग करता है और साधु-संग से भक्ति का प्रारम्भ होता है। भक्ति के बढ़ने पर अनर्थ-निवृत्ति हो जाती है। उससे निष्ठा की प्राप्ति होती है जिससे भजन एवं वैधी-भक्ति में रुचि और आसक्ति जागती है। तदुपरान्त, और आगे बढ़ने पर भाव की प्राप्ति होती है। यह स्थायी अवस्था है। भाव की वृद्धि पर वह कृष्णप्रेम की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करता है।

संस्कृत में इस परमोच्च स्थिति को प्रेम कहते हैं। (हेतुरहित प्यार को प्रेम कह सकते हैं। यद्यपि प्रेम और प्यार पर्यायवाची नहीं हैं; तथापि प्रेम को प्यार की सर्वोच्च स्थिति कह सकते हैं।) सबसे संसिद्ध मनुष्य वही है, जिसे प्रेम प्राप्त हो चुका है। श्रीमद्‌भागवत (३.२५.२५) में इसका अनुमोदन **है—"केवल शुद्ध भक्तों के** संग से ही जीव की श्रीकृष्णभावनामृत में रुचि सम्भव है। इस कृष्णभक्ति का जीवन में आचरण करने से उसे भाव और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है।"

श्रद्धा से क्रमशः भाव के स्तर पर पहुँचे पुरुष के लक्षणों का वर्णन करते हुए श्रीमहाप्रभु ने कहा कि वह क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी कभी क्षुब्ध नहीं होता। वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं जाने देता; सदा कृष्णसेवा में तत्पर रहता है। कुछ कर्त्तव्य कर्म न होने पर भी वह कृष्ण-प्रीति के लिए कुछ न कुछ कार्य अवश्य खोज लेता है। श्रीकृष्ण से सम्बन्ध के बिना उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। सर्वोत्तम स्थिति में स्थित होने पर भी वह सर्वथा मानशून्य रहता है। उसे अपनी सेवा में सदा विश्वास रहता है **तथा जीवन के परम-लक्ष्य—भगवद्‌धाम-प्राप्ति में कभी संशय नहीं होता। अपनी प्रगति में विश्वस्ता के कारण वह श्रद्धापूर्वक निरन्तर अपने परम-लक्ष्य** की प्राप्ति के लिए क्रियाशील रहता है। श्रीकृष्ण का सन्तोष उसे सदा अभीष्ट रहता है तथा कृष्णनाम-गुण के कीर्तन श्रवण में उसकी सदा अविराम रुचि रहती है। साथ-साथ, वह श्रीवृन्दावन, श्रीमथुरा या श्रीद्वारका में ही निवास करना चाहता है। भाव का उदय होने पर ये सब लक्षण प्रकट रहते हैं।

राजा परीक्षित भाव के उत्तम प्रतीक हैं। मृत्यु की प्रतीक्षा में गंगा तट पर बैठे हुए वे बोले— "माँ गंगा सहित यहाँ उपस्थित सब ब्राह्मण जान लें कि मैं सब प्रकार से भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण शरणागत जीव हूँ। ब्राह्मण-कुमार के शाप से प्रेरित सर्प चाहे इसी समय मुझे काट ले, कोई भय नहीं। मैं केवल यही चाहता हूँ कि आप सब कृष्ण-कथा कहते रहें।" इस कोटि का भक्त सदा यही चाहता है कि कृष्ण से सम्बन्धरहित किसी प्राणी-पदार्थ में उसका एक क्षण भी नष्ट न हो। अतः उसे सकाम कर्म, ध्यानयोग अथवा ज्ञानजन्य

सिद्धि की आकांक्षा नहीं रहती। उसकी आसक्ति रहती है केवल मधुर कृष्ण-कथा में। ऐसे भक्त सदा नेत्रों में अश्रुधारा भर कर भगवान् से प्रार्थना करते हैं; उनका चित्त सर्वदा कृष्णलीला-चिन्तन में मग्न रहता है तथा शरीर निरन्तर भगवान् की वन्दना करता है। इस प्रकार वे सन्तुष्ट रहते हैं। भक्ति में संलग्न भक्त प्रभु की सेवा में अपने जीवन तथा शरीर का भी समर्पण कर देता है।

राजा भरत (जिनके नाम पर भारतवर्ष का नामकरण हुआ) शुद्ध भक्त थे। उन्होंने अत्यन्त अल्पावस्था में अपनी गृहस्थी, सुन्दर पत्नी, पुत्र, मित्र, राज्य का मल के समान त्याग कर दिया था। जिसमें भाव का उदय हुआ हो, उसका यह मुख्य लक्षण है। ऐसा भक्त अपने को सबसे अधम समझता है; वह केवल इसी विचार से जीवन धारण किए रहता है कि किसी न किसी दिन भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके उसे अपनी भक्ति प्रदान करेंगे। पद्मपुराण में उनकी शुद्धभक्ति का एक अन्य उदाहरण है। वहाँ उल्लेख है कि नरेन्द्र-शिरोमणि होने पर भी राजा द्वार-द्वार पर मधुकरी करते तथा चाण्डालों की भी वन्दना करते थे।

श्रीसनातन गोस्वामी का निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है—

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथ वा वैष्णवो।
ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाप्यच्छेद्य मूला सती।
हे गोपीजनवल्लभ व्यथयते हा हा मदाशैव माम्॥

"मुझमें प्रेम की शून्यता है, प्रेम की साधन रूपा श्रवणादि भक्ति भी मुझमें नहीं हैं। भक्ति, विद्या, ज्ञानयोग अथवा शुभकर्मों का फल भी मेरे पास नहीं है। मेरा जन्म भी उच्च कुल में नहीं हुआ है। फिर भी हे गोपीजन-वल्लभ! आपकी प्राप्ति के लिए मैं सदा व्यथित रहता हूँ।"

तीव्र विरह भाव से पीड़ित इस कोटि का भक्त सदा—**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—महामन्त्र का कीर्त्तन करता रहता है।

इस सन्दर्भ में विल्वमंगल ठाकुर का एक श्लोक श्रीकृष्ण कर्णामृत (३२) में है—

त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि मच्चापलं च तव वा मम वाधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासी मुग्धःमुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम्॥

"हे कृष्ण! हे विरल मुरलीविलासी! आपकी शैशव क्रियाओं का माधुर्य त्रिभुवन-विमोहन है। आप मेरे मन के चापल्य से परिचित हैं और मैं आपसे। कोई भी हमारी इस अन्तरंगता को नहीं जान सकता। आपके मुखारविन्द तथा नयनारविन्द के दर्शन के लिए लालायित हुआ मैं उन्हें देख नहीं पा रहा हूँ। कृपापूर्वक बताइए कि इस स्थिति में अब मैं क्या करूँ।"

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में ऐसे ही एक श्लोक में श्रीरूप गोस्वामी ने कहा है—

रोदनबिन्दुमरन्दस्यन्दिदृगिन्दीवराद्य गोविन्द।
तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलीं बाला॥

"हे गोविन्द! यह किशोरी अश्रु के साथ मधुर स्वर से आपकी नामावली का गान करते हुए रो रही है।" शुद्धभक्त सदा श्रीकृष्ण के नामगान तथा कृष्णलीला स्थलों में निवास के लिए आतुर रहते हैं। श्रीकृष्णकर्णामृत में श्लोक (९२) है— "श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह अत्यन्त मधुर है, मुखचन्द्र अतिशय मधुरतर है तथा अंग-अंग मृदु-मधुर सुगन्ध से व्याप्त है।" श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु (१.२.१५६) में है— "हे पुण्डरीकाक्ष! आपकी नामावली का कीर्त्तन करता हुआ यमुना तट पर कब मैं ताण्डव नृत्य कर सकूँगा?"

भाव-अवस्था के इन सारे विवरणों को श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन को सुनाया। तदुपरान्त कृष्ण-प्रेम के लक्षणों का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि जिसमें कृष्णप्रेमोदय होता है, उसे कोई नहीं समझ सकता। बड़े से बड़े विद्वान् के लिए भी कृष्णप्रेमी को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में इसका प्रमाण है।

भक्तिपरायण पुरुष अपने प्रियतम के नाम-कीर्त्तन से स्तब्ध हो जाता है। उसे भगवान् अतिशय प्रिय हैं; इसलिए जब उनके नाम, गुण, यश आदि का कीर्त्तन करता है तो उन्मत्त हो उठता है। इस उन्मादावस्था में वह कभी हँसता है, कभी रोता और कभी नृत्य करता है। उसे लोक-लज्जा का विचार नहीं रहता। धीरे-धीरे प्रेम के बढ़ने पर उसमें राग, भाव तथा भावसमाधि के फलस्वरूप महाभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। यह महाभाव ही भक्ति में परमोच्च है। इसकी तुलना शर्करा (शक्कर) से कर सकते हैं, जो गन्ने का सबसे शुद्ध बलिष्ठ रूप है। कृष्ण-प्रेम शनैः शनैः इस प्रकार बढ़ सकता है कि शुद्धभक्त का अलौकिक रसास्वादन सर्वोच्च स्तर तक पहुँच जाय।

अध्याय १४

भगवान् श्रीकृष्ण तथा भक्तों का प्रेमास्वादन

महाभागवत शुद्धभक्तों में अपने आप प्रकट होने वाले कृष्णप्रेम के लक्षणों का कभी-कभी अभक्त भी स्वांग करते हैं। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में इसका वर्णन है। कृष्णभक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी स्वार्थवश प्रदर्शित लक्षण वास्तविक नहीं होते। कभी-कभी भक्तिशास्त्र को न जानने वाले प्रेम-लक्षणों के ऐसे प्रदर्शन से मुग्ध हो जाते हैं, किन्तु भक्ति तत्त्व के ज्ञाता इन लक्षणों को ही सब कुछ नहीं मानते। ये लक्षण तो केवल भक्ति के प्रारम्भ के सूचक हैं। ऐसा विद्वान् भक्तों का मत है।

भक्तों की विभिन्न श्रेणियों और स्तरों के अनुसार भक्ति के पाँच स्थायीभाव हैं— (१) शान्तरति, (२) दास्यरति, (३) सख्यरति, (४) वात्सल्यरति तथा (५) मधुररति। प्रत्येक श्रेणी का अपना रस और भाव है तथा प्रत्येक श्रेणी का भक्त अपनी स्थिति में सुखी है। शुद्धभक्त द्वारा प्रकट सामान्य लक्षण हँसना और रोना है। अनुकूल भाव (आवेग) में शुद्धभक्त हँसता है; प्रतिकूल में रुदन करता है।

इन दोनों से श्रेष्ठ है कृष्णप्रेम नामक स्थायीभाव, अर्थात् श्रीकृष्ण में नित्य अनुराग। यह नित्य अनुराग कभी-कभी विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी नामक रस के विभेदों से मिश्रित रहता है। श्रीकृष्ण से अनुराग के विशिष्ट भाव को विभाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं— आलम्बन और उद्दीपन। अग्निपुराण तथा अन्य प्रामाणिक शस्त्रों में जो कृष्णप्रेम को बढ़ाए, उसे विभाव कहा गया है। श्रीकृष्ण विषयक होने पर विभाव आलम्बन में परिवर्द्धित हो जाता है। उद्दीपन होता है श्रीकृष्ण के अलौकिक गुण, लीला, हास्य, अंग-सौरभ, वंशीनाद, शंख-ध्वनि, उनके पद-चिह्न, निवास-स्थल तथा तुलसी दल, भक्तगण, महोत्सव तथा एकादशी आदि भक्ति के उपकरणों से। भाव के लक्षणों का प्रकाश अनुभाव को जन्म देता है।

अनुभाव की दशा में भक्त नाचता है, गिर पड़ता है, कभी ऊँचे स्वर से गाता है, विक्षिप्तता दिखाता है, जम्भाई लेता है तो कभी-कभी दीर्घ-दीर्घ श्वास भरता है— सब प्रकार की लोकलज्जा से रहित होकर।

भक्तों के शरीर पर प्रकट होने वाले भाव के लक्षणों को 'उद्भास्वर' कहते हैं। व्यभिचारी भाव तैंतीस हैं; उनमें भक्त के उच्चारण तथा विभिन्न शारीरिक लक्षणों की प्रधानता रहती है। नृत्य, कम्प, हँसना आदि शारीरिक लक्षणों तथा व्यभिचारी भावों के मिश्रण को संचारी कहते हैं। भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी लक्षण मिलने पर भक्त को अमृताब्धि में निमग्न कर देते हैं। उस समुद्र का नाम है भक्तिरसामृतसिन्धु और उसमें निमज्जित व्यक्ति उस सिन्धु की तरंगों और स्वरों पर दिव्यानन्दास्वादन करता है। इस भक्तिरसामृतसिन्धु में डूबे भक्तों के पाँच विशिष्ट रस हैं— शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर। मधुररस इनमें सबसे प्रधान है; इसका लक्षण श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए भक्त द्वारा अपना श्रृंगार करना है। दास्यरति में राग, क्रोध, बन्धुत्व तथा आसक्ति का समावेश रहता है। सख्यरति अनुराग तक बढ़ती है। परन्तु वात्सल्यरति में अनुराग की 'सीमा' तक वृद्धि होती है। सख्य में श्रीकृष्ण से कुछ विशिष्ट रति भी हुआ करती है। इसका प्रकाश सुबलादि सखाओं में है। इनकी सख्यरति भाव तक बढ़ती है। सारे रसों के 'योग' एवं 'वियोग' नामक दो भेद हैं। सख्य तथा वात्सल्य में योग और वियोग के अनेक उप-भेद हैं।

'रूढ़' तथा 'अधिरूढ़' नामक भाव केवल माधुर्यप्रेम में ही हैं। द्वारका की महिषियों का प्रेम 'रूढ़' है तथा वृन्दावन में व्रजरमणियों द्वारा 'अधिरूढ़' प्रेम का प्राकट्य हुआ है। अधिरूढ़ महाभाव की सर्वोच्च अवस्था में मादन (सम्भोग) तथा मोहन (विरह) का समावेश है। मादन में चुम्बनादि होते हैं तथा मोहन में 'उद्घूर्णा' तथा 'चित्रजल्प' का प्रकाश है। चित्रजल्प के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के भ्रमर गीत (दशम स्कन्ध) में चित्रजल्प के भेदों का उल्लेख है। 'उद्घूर्णा' विरह का लक्षण है। इसी प्रकार दिव्योन्माद नामक एक अन्य लक्षण है। उस दिव्योन्माद में विरही अपने को ही भगवान् श्रीकृष्ण समझने लगता है और इस भाव में श्रीकृष्ण के लक्षण और लीलादि का अनुकरण करता है।

श्रृंगार रस के दो भेद हैं—सम्भोग तथा विप्रलम्भ। सम्भोग के अनन्त अंग हैं तथा विप्रलम्भ चार प्रकार के हैं। पूर्वराग (प्रियतम-प्रेमी के मिलन से पूर्व का भाव), मान (मिलनोपरान्त का भाव); प्रवास (न मिलने

का भाव) तथा प्रेमवैचित्य (मिलनोपरान्त विरह की आशंका)— ये चारों विप्रलम्भ हैं। यह विप्रलम्भ भविष्य में सम्भोग का परिपोषक बनता है। आकस्मिक मिलन एवं आलिंगन से प्रेमी— प्रियतम अत्यन्त उल्लसित हो **उठते हैं। इस उल्लास की अवस्था में उनके मनःभाव को सम्भोग कहते हैं। अवस्थानुसार सम्भोग के चार नाम हैं—१) संक्षिप्त २) संकीर्ण ३) सम्पन्न** तथा ४) समृद्धिमान्। ये लक्षण स्वप्न में भी उदित हो सकते हैं।

मिलन से पूर्व के मनोभाव को 'पूर्वराग' कहते हैं। कभी-कभी प्रेमी-प्रियतम के सम्मिलन में बाधा आती है। इसी को 'मान' अथवा 'क्रोध' कहते हैं। प्रेमी-प्रियतम के विछोह का मनोभाव 'प्रवास' कहलाता है। कतिपय कारणों से, प्रेमियों के मिलन में भी विरह के भाव उपस्थित हो जाते हैं। इनका नाम 'प्रेमवैचित्य' है। इनका प्रकाश श्रीमद्भागवत (१०.९०.१५) में रात्रि में श्रीकृष्ण को सोते देखकर जागी हुई महिषियों द्वारा हुआ है। श्रीकृष्ण-विरह से भयभीत वे परस्पर यही वर्णन कर रही थीं कि श्रीकृष्ण के सुन्दर हास्य व नेत्रों ने किस प्रकार उन्हें मोहित किया है।

वृन्दावनविहारी व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण नायक (प्रेमी) शिरोमणि हैं तथा नायिका शिरोमणि हैं श्रीमती राधारानी। श्रीकृष्ण में चौंसठ प्रधान गुण हैं। भक्तगण उनके श्रवण में अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के अनुसार वे इस प्रकार हैं: १) श्रीकृष्ण सुरम्यांग हैं अर्थात् उनके अंगों का गठन अत्यन्त रमणीय है; २) सब सत् (मंगल) लक्षणों से युक्त हैं; ३) उनका शरीर रुचिर (सुन्दर) है; ४) तेजयुक्त है; ५) वे अतिशय बलवान् हैं; ६) श्रीकृष्ण वयसान्वित अर्थात् नव कैशोर्य सोलह वर्ष की आयु के हैं; ७) विविधाद्भुतभाषाविद् हैं; ८) सत्यवाक् हैं; ९) सदा सबसे प्रिय बोलते हैं; १०) वावदुक अर्थात् बोलने में कुशल हैं; ११) सुपण्डित हैं; १२) बुद्धिमान् हैं; १३) प्रभावशाली हैं; १४) श्रीकृष्ण विदग्ध अर्थात् विलासमय हैं; १५) चतुर हैं; १६) दक्ष हैं; १७) कृतज्ञ हैं; १८) सुदृढ़व्रत हैं; १९) देश-कालानुसार कार्य करने में कुशल हैं; २०) शास्त्रज्ञ हैं; २१) शुचि अर्थात् पवित्र हैं; २२) भक्त-परवश हैं; २३) स्थिर हैं; २४) जितेन्द्रिय हैं; २५) क्षमाशील हैं; २६) गम्भीर हैं अर्थात् उनका अभिप्राय कोई नहीं समझ सकता। २७) धृतिमान् हैं; २८) समतायुक्त हैं; २९) श्रीकृष्ण वदान्य अर्थात् उदार हैं; ३०) धार्मिक हैं; ३१) शूरवीर हैं; ३२) करुण हैं; ३३) मान्यमानकृत हैं अर्थात् मान्य व्यक्तियों का सम्मान करते हैं और सम्मान्य हैं; ३४) दक्षिण अर्थात् योग्य हैं; ३५) विनयी हैं;

३६) ह्रीमान अर्थात् संकोची हैं; ३७) शरणागतपालक हैं; ३८) नित्य सुखी हैं; ३९) भक्त-सुहृद् हैं; ४०) प्रेमवश्य हैं; ४१) सर्व मंगलमय हैं; ४२) प्रतापी हैं; ४३) कीर्तिमान् हैं; ४४) सब लोगों के अनुराग के पात्र हैं; ४५) साधु-पुरुषों के आश्रय हैं; ४६) नारीगण मनोहारी हैं; ४७) सर्वाराध्य और भक्तवत्सल हैं; ४८) सब ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं; ४९) सर्वश्रेष्ठ और परम-ईश्वर हैं; ५०) सब मान के पात्र हैं।

ये पचास गुण आंशिक रूप से जीव मात्र मे भी है। जब वे पूर्ण रूप से शुद्ध भक्त होकर अपने आदि स्वरूप में स्थित हो जाते हैं तो इन गुणों की बिन्दुमात्र अनुभूति हो सकती है। एक श्रीकृष्ण में ही ये गुण परिपूर्ण रूप से प्रकाशित हैं। पाँच अन्य दिव्य गुणों का साधारण प्रकाश श्रीविष्णु तथा आंशिक रूप से शिव में होता है, किसी भी जीव में नहीं: १) सदा अपने स्वरूप में स्थिरता, २) सर्वज्ञता, ३) नित्य नूतनता, ४) नित्य सच्चिदानन्द सान्द्रांगता, ५) सर्वसिद्धि-ईश्वरत्त्व। इनके अतिरिक्त पाँच अन्य गुण हैं, जो परव्योम में, विशेषत: श्रीनारायण के अधीन वैकुण्ठ लोकों में देखे जा सकते हैं: १) अचिन्त्य शक्तिगुणसम्पन्न हैं। २) कोटि ब्रह्माण्ड धारण करते हैं। ३) सब अवतारों के बीजस्वरूप स्वयं अवतारी हैं। ४) हतारिगतिदायक है अर्थात् शत्रु को मारकर तारते हैं। ५) आत्मारामगणाकर्षी हैं, आत्माराम पुरुषों का भी आकर्षण कर लेते हैं।

ये साठ गुण एवं लक्षण श्रीनारायण के स्तर तक पाए जाते हैं; किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में चार विशिष्ट गुण भी हैं— १) श्रीकृष्ण सर्वविध परमाद्‌भुत चमत्कारीलीला-तरंग-वारिधि हैं (लीलामाधुर्य)। २) उनकी मुरली के मधुर कलकूजन से त्रिभुवन विमोहित हो जाता है (वेणुमाधुरी)। ३) वे अतुल्यमधुरप्रेमपण्डित प्रियमण्डल हैं (प्रेममाधुर्य) ४) उनकी असमोर्ध्वरूपमाधुरी त्रिभुवनगत चराचर मोहिनी है (रूपमाधुरी)।

इस प्रकार श्रीकृष्ण चौंसठ गुणों से सम्पन्न हैं। श्रीमती राधारानी पच्चीस दिव्य गुणों से विभूषिता हैं। इनसे वे श्रीकृष्ण को भी मोहित करने में समर्थ हैं: १) वे मूर्तरूपामाधुर्य हैं; २) नित्य किशोरी हैं, ३) चपलांगा हैं, अर्थात् उनकी दृष्टि अतिशय चांचल्यमयी है, ४) संमुज्जवल मंदहास्ययुक्ता हैं, ५) सब मंगलचिह्नयुक्ता हैं, ६) गन्धोन्मादितमाधवा हैं (उनके गीत के सौरभ से माधव भी विमुग्ध हो जाते हैं), ७) संगीत प्रसाराभिज्ञा हैं (गानदक्षा हैं), ८) उनकी वाणी अत्यन्त रमणीय है, ९) नर्मपण्डिता हैं (स्त्री-भावों के प्रदर्शन में सुनिपुणा हैं), १०) विनीता हैं, ११) करुणापूर्णा

हैं, १२) विदग्धा अर्थात् सुचतुरा हैं, १३) श्रृंगारकुशला हैं, १४) लज्जा-शीला हैं, १५) सुमर्यदा, १६) धैर्यशालिनी, १७) गाम्भीर्यशालिनी, १८) सुविलासा अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा विलसिता हैं, १९) महाभाव-परमोत्कर्षतर्षिणी (भक्ति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हैं), २०) गोकुल-प्रेमवसति—गोकुलवासियों के प्रेम की आश्रया, २१) भक्तों में सर्वाधिक प्रसिद्धा, २२) गुरुजनों की अतिशय स्नेहपात्री, २३) सखीप्रणय आधीना, २४) कृष्णप्रियावली मुख्या—कृष्णप्रेयसियों में सर्वप्रधाना; २५) सदा श्रीकृष्ण की स्वामिनी।

इस प्रकार श्रीराधाकृष्ण, दोनों अखण्ड अनन्त गुणगणालंकृत हैं, दोनों एक-दूसरे को मोहित करते हैं। फिर भी उस अलौकिक आकर्षण में श्रीराधा-रानी श्रीश्यामसुन्दर से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि श्रीराधा की माधुरी ही मधुररति का सार दिव्य रस है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के साथ दास्य, सख्य तथा वात्सल्य में भी अलौकिक रस है। इनका वर्णन श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के सन्दर्भ से हो सकता है।

भक्ति के साधन से पूर्ण शुद्ध हो जाने के कारण जो कृष्णभक्ति की उच्च भावना में स्थित हुए सदा प्रसन्न रहते हैं, जो श्रीमद्भागवत में ही अतिशय अनुरक्त हैं, जो रसिकों के संग में सदा रसास्वादन करते हैं, जो कृष्ण चरणों को ही अपना परम लक्ष्य और आश्रय जानते हैं तथा जो प्रेमपूर्वक भक्ति के विविध अंगों का साधन करते हैं, उन शुद्ध भक्तों के हृदय में अलौकिक कृष्ण-रति का आस्वादन होता है। जब भावाविष्टावस्था कृष्ण-प्रेम और दिव्य अनुभूति से अधिक आस्वाद्य बन जाती है तो भागवत-जीवन की परिपक्वता प्राप्त होती है।

इस भक्तिरस का आस्वादन कृष्णभावनाहीन अभक्त नहीं कर सकते। इस तथ्य की श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में पुष्टि है: "अभक्तों के लिए भक्तिरस बिल्कुल दुरूह है। केवल श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के शरणागत और जीवन को भक्तिरससिन्धु में निमग्न रखने वाले भक्त ही इस रस के अधिकारी हैं।"

इस प्रकार संक्षेप में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने भक्त की अलौकिक स्थिति तथा रसास्वादन का वर्णन किया। साथ ही, उन्होंने यह भी समझाया कि **प्राकृत जगत् में साधारण रूप में** धार्मिक बनना भगवत्प्राप्ति का प्रथम सोपान है (धर्म)। दूसरी है भौतिक धनाढ्यता (अर्थ)। प्राकृत सिद्धि की तीसरी स्थिति सब विषयसुख की उपलब्धि होना है (काम)। चौथी अवस्था है मोक्ष-ज्ञान। इससे श्रेष्ठ वे हैं, जो जीवन्मुक्त होकर कृष्ण-भक्ति

करते हैं। कृष्णभावनाभावित भक्ति की पराकाष्ठा अर्थात् कृष्ण-प्रेम में भक्त दिव्य रसास्वादन करता है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन गोस्वामी को बताया कि उन्होंने पूर्व में उनके छोटे भाई श्रीरूप गोस्वामी को प्रयागराज में शिक्षा प्रदान की थी। श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन से यह भी कहा कि उस प्रदत्त शिक्षा के प्रचारार्थ उन्होंने श्रीरूप में विशेष शक्ति का संचार भी किया है। श्रीमन्महाप्रभु ने तब श्रीसनातन को भी भगवद्भक्ति पर ग्रन्थ-प्रणयन की आज्ञा दी। साथ ही, मथुरा-मण्डल में स्थित भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीला-स्थलियों के उद्धार का आदेश भी श्रीसनातन को दिया। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन से वृन्दावन में मन्दिर स्थापित करने तथा स्वयं श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु द्वारा प्रमाणित वैष्णव सिद्धान्तों पर ग्रन्थ निर्माण को कहा। श्रीमन्महाप्रभु के आदेशानुसार श्रीसनातन ने 'हरिभक्तिविलास' जैसे अनेकानेक ग्रन्थ रचे। श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन को आगे शिक्षा दी कि पूर्ण सर्वतोभाव केवल श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखते हुए संसार में कैसे रहें। इसके लिए उन्होंने शुष्क वैराग्य का निषेध किया। इन शिक्षाओं का यह तात्पर्य है कि वर्त्तमान युग में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो संन्यास ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु भगवद्भक्ति से शून्य हैं। श्रीकृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान बिना संन्यास लेने को श्रीमहाप्रभु ने अस्वीकार किया। वास्तव में देखा जाता है कि कर्मों में साधारण मनुष्यों से भी अधम बहुत से नामधारी संन्यासी अपने संन्यासत्त्व का अभिमान करते हैं। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने इस दम्भाचरण की निन्दा की है। उन्होंने श्रीसनातन को अपने ग्रन्थों में भक्ति का विस्तृत वर्णन करने की शिक्षा दी।

संसार में रहते हुए भी अनुभवगम्य भागवत जीवन की सिद्धावस्था का भगवद्गीता, बारहवें अध्याय में यह वर्णन है— "जो द्वेष-रहित व जीवमात्र का मित्र, स्वामित्वभाव तथा मिथ्या अहंकार से मुक्त एवं सुख-दुःख में सम है, सतत् निश्चयपूर्वक भक्ति में संलग्न है तथा जिसके मन-बुद्धि मुझमें ही नियुक्त हैं— ऐसा भक्त मेरा प्रिय है। जिससे कोई भी उद्वेग नहीं पाता तथा जो स्वयं कभी उद्विग्न नहीं होता, ऐसा सुख-दुःख में अविचल भक्त मेरा प्रिय है। जो भक्त सांसारिक कार्यों की अपेक्षा न करने वाला, पवित्र, दक्ष, उदासीन तथा व्यथाहीन है तथा किसी फल की इच्छा से कार्य नहीं करता, वह मेरा प्रिय है। जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न आकांक्षा, वह शुभाशुभ का परित्यागी भक्त मेरा प्रिय है। जो शत्रु-

मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, यश-अपयश में समान, दूषण-रहित, मौनी तथा प्रत्येक अवस्था में सन्तुष्ट है, जिसका कोई नियत वासस्थान नहीं है तथा जो ज्ञाननिष्ठ होकर भक्ति करता है, वह मेरा प्रिय है। जो कोई इस भक्ति के अमृत-पथ पर दृढ़ विश्वासपूर्वक मुझे परम लक्ष्य बनाकर चलता है; वह मेरा अतीव प्रिय है।" (गीता १२. १३-२०)

यदि कोई इस अलौकिक स्तर पर आरूढ़ न हो, इस भागवत-जीवन का अनुमोदनमात्र करे, तो वह भी भगवान् श्रीकृष्ण का अत्यन्त प्रिय बन जाएगा। श्रीमद्भागवत (२.२.५) में उल्लेख है कि भक्त को सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण की कृपा पर निर्भर रहना चाहिए। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए प्रयत्न किए बिना अपने-आप प्राप्त सामग्री में ही सन्तुष्ट रहे। शुकदेव जी के आदेशानुसार किसी विषयी मनुष्य से कभी किसी सहायता की याचना न करे। जहाँ तक शारीरिक अनिवार्यताओं का सम्बन्ध है, कोई भी मार्ग में पड़ा जीर्ण वस्त्र उठा सकता है, पेड़ों से फल तथा नदियों से जल ले सकता है। वास के लिए प्रकृति ने कन्दराएँ बनाई हैं। यदि कोई यह सब न कर सके, तो भी भगवान् को जीवमात्र को अन्न और आश्रय का दाता जानकर सब प्रकार से उन पर ही निर्भर रहना चाहिए। यह समझना चाहिए कि अपने पूर्ण शरणागत भक्तों का वे सदा ध्यान रखते हैं; सब अवस्थाओं में भक्त का संरक्षण करते हैं। इसलिए भक्त को अपने पालन की कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीसनातन गोस्वामी ने भक्ति की सब स्थितियों के सम्बन्ध में पूछा और भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत, आदि प्रामाणिक ग्रन्थों से उन्हें परम गोपनीय शिक्षा प्रदान की। भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक धाम की स्थिति का वर्णन करने वाले हरिवंश नामक वैदिक ग्रन्थ का भी श्रीमन्महाप्रभु ने उल्लेख किया। श्रीकृष्ण-शक्ति को ललकारने से पराजित हुए इन्द्र ने अपनी स्तुति में इसका वर्णन किया था। हरिवंश में कहा है कि विभिन्न खग तथा वायुयान आदि उड़ सकते हैं, पर वे उच्चलोकों में नहीं जा सकते। उच्चलोक सूर्य से शुरू होते हैं, क्योंकि सूर्य ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित है। सूर्य के ऊपर वे उच्चलोक हैं, जिन्हें उनके निवासी महान् तपस्या एवं त्याग से प्राप्त करते हैं। सम्पूर्ण प्राकृत ब्रह्माण्ड को 'देवी-धाम' कहते हैं। इसके ऊपर है शिवधाम जहाँ पार्वती सहित शिवजी का नित्य निवास है। उससे आगे है अनन्त वैकुण्ठ लोकों वाला परव्योम। इन सब वैकुण्ठों में भगवान् श्रीकृष्ण का गोलोक वृन्दावन सर्वोपरि है।

'गोलोक' का अर्थ है "गायों का लोक"। श्रीकृष्ण का लोक गोलोक कहलाता है, क्योंकि उन्हें गायें अतिशय प्रिय हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों एवं वैकुण्ठों के इकट्ठे जोड़ से भी गोलोक बड़ा है। हरिवंश में अपनी स्तुति में इन्द्र ने स्वीकार किया कि ब्रह्मा से प्रश्न करने पर भी वह गोलोक की स्थिति नहीं समझ सके।

भगवान् श्रीकृष्ण के नारायण-अंश के भक्तों को वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है, पर गोलोक वृन्दावन की प्राप्ति सुदुष्कर है। वास्तव में उस लोक की प्राप्ति केवल श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर चैतन्यदेव अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तों को ही हो सकती है। श्रीकृष्ण की स्तुति में इन्द्र ने कहा है— "आप परव्योम के उसी गोलोक से अवतीर्ण हुए हैं। अपनी मूर्खतावश मैं यह सब उत्पात कर बैठा।" ऐसा कहकर उन्होंने श्रीकृष्ण से क्षमा-याचना की।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की अन्तिम लीला है 'मौषल लीला'। संसार से भगवान् श्रीकृष्ण का रहस्यपूर्ण अन्तर्धान भी इसमें आता है। उस लीला में श्रीभगवान् ने व्याध द्वारा मारे जाने का अभिनय किया। भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं के अन्तिम अंश की बहुत-सी अनुचित व्याख्याएँ हैं। (जैसे श्रीकृष्ण-केशावतार वर्णन), किन्तु श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर ने इन लीलाओं का शुद्ध एवं उचित वर्णन करते हुए उनकी वास्तविक यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत की। श्रीकृष्ण के केशावतार का श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण तथा महाभारत में उल्लेख है। इनके अनुसार भगवान् ने अपने सिर से एक सफेद और एक काला बाल खींचा था। यही दो केश यदुकुल की रानियों रोहिणी एवं देवकी के गर्भ में प्रविष्ट हुए। यह भी उल्लेख है कि भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वी पर असुर-संहार के लिए अवतीर्ण होते हैं, किन्तु कुछ कहते हैं कि श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड वासी क्षीरोदकशायी श्रीविष्णु के अवतार हैं। लघु-भागवतामृतकार श्रीरूप गोस्वामी तथा उसके भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषण ने इस विषय की पूर्ण आलोचना कर सत्य-तत्त्व स्थापित किया। श्रीपाद् जीव गोस्वामी ने भी 'कृष्णसन्दर्भ' में यह विषय प्रस्तुत किया है।

भगवान् श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर द्वारा शिक्षा, शक्ति एवं ज्ञान से संचारित हुए श्रीसनातन गोस्वामी को अलौकिक आनन्दानुभूति हुई। वे अविलम्ब प्रभु-चरणों में गिरकर कहने लगे, "प्रभो! मैं नीच कुल में जन्मा, नीचसेवी अधम पामर हूँ। फिर भी आप इतने करुणामय हैं कि ब्रह्मा को भी अगोचर सिद्धान्तों की शिक्षा मुझे प्रदान की है। आपके कृपा-प्रसाद से मैंने आपके मुखारविन्द द्वारा शिक्षित सिद्धान्तों का आस्वादन किया। परन्तु मैं इतना

नीच हूँ कि आपके शिक्षामृत के एक बिन्दु का स्पर्श करने की सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है। इसलिए यदि आप मुझ पंगु को नचाना ही चाहते हैं तो कृपया मेरे मस्तक पर अपना चरणारविन्द रखकर मुझे आशीर्वाद प्रदान करें।''

इस प्रकार श्रीसनातन गोस्वामी ने श्रीमन्महाप्रभु से इस आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की कि यह सम्पूर्ण शिक्षा उनकी कृपा से श्रीसनातन के हृदय में स्वतः स्फुरित हो। श्रीसनातन जानते थे कि श्रीमहाप्रभु के शिक्षामृत का वर्णन करने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। इसका तात्पर्य यही है कि आचार्य (गुरु) उच्चाधिकार प्राप्त होते हैं। केवल शिक्षा से ही दक्षता नहीं होती। गुरु-कृपा बिना ऐसी शिक्षा पूर्णरूप से प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती। अतः गुरु-शिक्षा हृदय में प्रकाशित हो, इसके लिए भी गुरु-कृपा के लिए याचना अपेक्षित है। श्रीसनातन गोस्वामी की याचना से प्रसन्न होकर श्रीमहाप्रभु ने अपना हस्त-कमल का उनके मस्तक पर स्पर्श किया तथा अपनी शिक्षा के पूर्ण प्रकाश का वर दिया।

इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कृष्ण-प्रेम की परमावस्था का वर्णन किया है। उन्होंने कहा कि कृष्ण-प्रेम का सम्पूर्ण विस्तृत वर्णन नहीं हो सकता, तथापि यथा-सम्भव वर्णन किया है। निष्कर्ष यह है कि जो श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर कृष्णचैतन्य द्वारा श्रीसनातन गोस्वामी को दी गई शिक्षा का मनोयोगपूर्वक श्रवण करेगा, उसे अतिशीघ्र कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति होगी तथा वह कृष्ण-भक्ति में परायण हो जाएगा।

अध्याय १५

श्रीमद्भागवत के 'आत्माराम' श्लोक की व्याख्या

इसके अनन्तर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत के 'आत्माराम' नामक विख्यात श्लोक की व्याख्या की। वह श्लोक इस प्रकार है:

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

इस श्लोक के अनुसार जीवन्मुक्त और आत्माराम जीव भी अन्त में अवश्य भगवद्-भक्त बन जाते हैं। यह निर्देश विशेष रूप से मायावादियों के लिए है, क्योंकि उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का कुछ भी ज्ञान नहीं है। वे निर्विशेष ब्रह्म में सन्तुष्ट रहना चाहते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण इतने अतिशय मधुर और बलात् आकर्षक हैं कि उनके मन को भी हर लेते हैं। इस श्लोक का यही तात्पर्य है।

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य नामक महान् वेदान्ती को श्रीमहाप्रभु ने इसका अर्थ पहले सुनाया था। भगवान् श्रीगौरसुन्दर से शिक्षा ग्रहण कर के श्रीसनातन गोस्वामी ने इस घटना का उल्लेख करते हुए इस श्लोक की पुन: व्याख्या करने की याचना की। 'आत्माराम' श्लोक की श्रीमहाप्रभु कृत व्याख्या का आस्वादन करते हुए चैतन्यचरितामृत के रचयिता श्रीकृष्ण-दास कविराज ने भी श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की वन्दना की है। श्रीमहाप्रभु के चरणारविन्द में दण्डवत् प्रणाम कर श्रीसनातन गोस्वामी ने सार्वभौम भट्टाचार्य को सुनाई व्याख्या को फिर से सुनाने के लिए निवेदन किया। श्रीसनातन गोस्वामी ने प्रबोध-प्राप्ति की इच्छा को उसके श्रवण की उत्सुकता का कारण बताया। इस प्रकार श्रीसनातन की प्रार्थना पर श्रीमहाप्रभु बोले, "सनातन ! मैं नहीं जानता कि सार्वभौम भट्टाचार्य को मेरी व्याख्या इतनी रुचिकर क्यों लगी। मुझे तो उस व्याख्या का स्मरण भी नहीं है। परन्तु तुम्हारी प्रार्थना के कारण तुम्हारे ही संग-बल से मैं यथास्मृति वर्णन

का प्रयत्न करूँगा।" वास्तव में श्रोता-वक्ता में प्रगाढ़ अन्तरंग सम्बन्ध है; वक्ता को बोलने का प्रबोध श्रोताओं से प्राप्त होता है। बुद्धिमान् श्रोताओं को पाकर ही वक्ता अथवा स्वामी उत्तम रीति से अलौकिक तत्त्व का वर्णन कर सकता है। यही दिखाने के लिए भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा कि वे उस श्लोक की व्याख्या नहीं जानते, पर श्रीसनातन गोस्वामी के संग-बल से उसके वर्णन का प्रयास करेंगे।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने निर्देश किया कि 'आत्माराम' श्लोक में ग्यारह पद हैं— १) आत्मारामः, २) च, ३) मुनयः, ४) निर्ग्रन्थाः, ५) अपि, ६) उरुक्रमे, ७) कुर्वन्ति, ८) अहैतुकीम्, ९) भक्तिम्, १०) **इत्थमभूतगुणः**, ११) हरिः। महाप्रभु ने इनमें से एक-एक शब्द की व्याख्या की। 'आत्माराम' के विषय में उन्होंने कहा कि 'आत्मा' का प्रयोग निम्न-लिखित अर्थों में होता है— १) ब्रह्म, २) देह, ३) मन, ४) यत्न, ५) धृति, ६) बुद्धि तथा ७) स्वभाव। 'राम', अर्थात् जो रमण करे। अतः इन सातों पदार्थों के ज्ञान में रमण करने वाले आत्माराम हैं। महाप्रभु ने नाना प्रकार के आत्मारामों की भी व्याख्या की। 'मुनयः' शब्द का अभिप्राय मननशील पुरुषों से है। कभी-कभी अत्यन्त गम्भीर मनुष्य को भी मुनि कहते हैं। ऋषि, महान् तपस्वी, योगी और विद्वान् आदि सब मुनि हैं।

'निर्ग्रन्थाः' का अर्थ है अविद्या अर्थात् माया के ग्रन्थों से मुक्त अथवा "जो शास्त्र के विधि-निषेध से परे हो।" ग्रन्थ का अर्थ है वैदिकशास्त्र तथा 'निर' अर्थात् 'सम्बन्धरहित', 'निर्माण' तथा 'निषेध'। भगवत्प्राप्ति के लिए अनेक विधि-विधान हैं, इन ग्रन्थ-विधियों से कोई सम्बन्ध न रखने वाले व्यक्ति 'निर्ग्रन्थ' कहलाते हैं। अनेक मनुष्य मूर्ख, नीच-जाति, म्लेच्छ तथा शास्त्र-ज्ञान विहीन होने के रूप में 'निर्ग्रन्थ' हैं। ग्रन्थ का प्रयोग धन-संचय के अर्थ में भी होता है, अतः 'निर्ग्रन्थ' का एक अर्थ धन संचय में संलग्न धनहीन निर्धन भी हुआ।

'उरुक्रम' का अर्थ है जो अत्यन्त शक्तिशाली हो। 'क्रम' अर्थात् पाद-विक्षेपण एवं 'उरुक्रम'—'बड़ा है पाद विक्षेपण जिसका।' सारे ब्रह्माण्ड को दो पग में नापकर सर्वाधिक पादविक्षेपण भगवान् श्रीवामन ने किया था। अतः 'उरुक्रम' से भगवान् श्रीवामन विहित हैं। भगवान् श्रीवामन के इस असाधारण कृत्य का श्रीमद्भागवत (२.७.४०) में यह वर्णन है:—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात्त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥

"भगवान् विष्णु की वीर्यगणना कोई नहीं कर सकता। इस ब्रह्माण्ड के परमाणुओं की गणना की जा सकती है, किन्तु श्रीविष्णु की अचिन्त्य अनन्त शक्तियों की गणना नहीं हो सकती। वामनरूप में भगवान् ने ऐसे पराक्रम का प्रदर्शन किया कि एक पाद बढ़ाने से ही ब्रह्मलोक से पाताल तक के सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर दिया।"

श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्तियाँ सारी सृष्टि में व्याप्त हैं। वे सर्व-व्यापक हैं और अपनी शक्ति से सम्पूर्ण लोकों को धारण किए हुए हैं; फिर **भी अपनी ह्लादिनी शक्ति से वे अपने निज-धाम गोलोक में विराजमान रहते हैं। अपने ऐश्वर्य-प्रकाश से सकल वैकुण्ठ लोकों में वे नारायण रूप से विद्यमान हैं; माया शक्ति से अत्यन्त लोकों वाले अनन्त ब्रह्माण्डों का सृजन** करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की इन अद्भुत क्रियाओं का अनुमान भी कोई नहीं कर सकता। अतः उन्हें उरुक्रम अर्थात् अद्भुत-कर्मी कहते हैं। 'विश्वप्रकाश' में 'क्रम' का अर्थ 'शक्तियों का दक्ष प्रकाश' तथा 'शीघ्रता से पाद विक्षेपण' बताया गया है।

'कुर्वन्ति' का अर्थ है 'दूसरों के लिए कर्म करना।' जब कोई अपनी इन्द्रियों के लिए कर्म करता है तो एक दूसरी क्रिया धातु लगती है। 'कुर्वन्ति' का प्रयोग तब होता है जब कर्मफल का भोक्ता कोई और हो। अतः श्लोक में इस शब्द का एकमात्र अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य भक्तिमय सेवा से ही हो सकता है।

'हेतु' का अर्थ है कारण या उद्देश्य। सामान्यतः लोग दिव्य कार्यों में तीन कारणों से लगते हैं—कुछ विषय सुख चाहते हैं, कुछ यौगिक सिद्धि के इच्छुक हैं तो कुछ को संसार से मुक्ति की स्पृहा है। विषयसुख के अगणित भेद हैं। यौगिक सिद्धियाँ अठारह हैं तथा मुक्ति पाँच प्रकार की। इन सबसे सर्वथा रहित अवस्था को अहैतुकी कहते हैं। 'अहैतुकी' गुण का विशेष उल्लेख है, क्योंकि श्रीभगवान् की अहैतुकी भक्ति से उनकी कृपा प्राप्त होती है।

'भक्ति शब्द की दस प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। इन दस में एक साधन भक्ति है तथा अन्य नौ प्रेमभक्ति हैं। शान्त भक्तों की रति प्रेम

तक बढ़ती है। इसी प्रकार दास्यभाव के भक्तों की रति राग तक बढ़ती है। सख्यभाव वालों की रति अनुराग तक पहुँचती है। वात्सल्य भाव के भक्त अनुराग की अन्तिम सीमा प्राप्त करते हैं। केवल श्रीभगवान् के माधुर्य-प्रेमी ही सर्वोच्च महाभाव का अनुभव कर पाते हैं। ये 'भक्ति' शब्द के विविध अर्थ हैं।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने 'इत्थम्भूतगुण' की व्याख्या सुनाई। 'इत्थम्-भूतगुण' का अर्थ है पूर्णानन्द, जिसके आगे ब्रह्मानन्द तृणवत् प्रतीत हो। हरिभक्तिसुधोदय में एक भक्त ने कहा है—

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद् गुरो॥

"हे परम प्रभो! आपके ज्ञान अथवा दर्शनमात्र से हमें ऐसे पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है कि उसके सामने ब्रह्मानन्द भी अति तुच्छ लगता है।"

भाव यह है कि अखिल आलौकिक गुणगणालंकृत, सर्वाकर्षक सर्वाह्लादक महारसायन-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को समझने से मिलने वाला रसास्वादन जीव को आकृष्ट कर उनका भक्त बना देता है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यह आकर्षण भक्ति-मुक्ति-सिद्धि जैसी प्रबल इच्छाओं को भी छुड़ा देता है। यह आकर्षण इतना शक्तिशाली है कि आत्म-साक्षात्कार के अन्य सब पथों का तिरस्कार करके जीव कृष्णैकशरण हो जाता है।

श्रीमन्महाप्रभु ने 'गुण' के विभिन्न अर्थों को भी प्रकाशित किया। 'गुण' से सूचित हैं श्रीकृष्ण के अनन्त चिन्मय गुण, मुख्यतः उनका सच्चिदा-नन्द रूप। वे पूर्ण स्वरूप हैं, फिर भी भक्तवश्यता से उनकी पूर्णता का वर्धन होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इतने कृपालु एवं करुणामय हैं कि भक्त की भक्ति के विनिमय में आत्मदान कर बैठते हैं। उनके अलौकिक गुण ऐसे हैं कि उनका पूर्णतम माधुर्य, भक्तों के साथ प्रेम रसास्वादन तथा गुण-सौरभ सब प्रकार के योगियों और जीवन्मुक्तों को आकर्षित करते हैं। उदाहरणस्वरूप उन्होंने सनत्कुमार को अपने चरणों में अर्पित कुसुमों की सौरभ से आकृष्ट कर लिया था। शुकदेव जी कृष्णलीला सुनकर आकृष्ट हुए और गोपीगणों को आकर्षण हुआ श्रीअंगरूप से। उनके रूप-गुण के श्रवण से श्रीरुक्मिणी तथा वंशीगीत से श्रीलक्ष्मी आकृष्ट हुई थीं। अपनी बाल-लीला से श्रीकृष्ण सब कुमारी और वृद्धा स्त्रियों के मन चुरा लेते हैं। वे अपने सखाओं को सख्य-लीला से मोहित करते हैं। श्रीधाम वृन्दावन में अवतरण काल में उन्होंने पक्षी, पशु, वृक्ष-लता आदि का भी

आकर्षण किया था। वस्तुतः सभी लोग स्नेह एवं प्रेमपूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हो गए थे।

'हरि' शब्द के अनेक अर्थों में दो मुख्य हैं। हरि का अर्थ है कि वे भक्त के जीवन से सब अमंगल हर लेते हैं और प्रेम का दान कर उसका मन आकर्षित करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इतने आकर्षक हैं कि जो जिस किसी प्रकार उनका सदा स्मरण रखता है, वह सब प्रकार के पाप-ताप से मुक्त हो जाता है। अपने भक्त का भगवान् विशेष ध्यान रखते हैं तथा भक्ति की वृद्धि में बाधा पहुँचाने वाले सब पाप नष्ट कर देते हैं। इसे अविद्या के प्रभाव की पराजय कहते हैं। केवल श्रीकृष्ण-कथा सुनने से कृष्ण-प्रेम प्राप्त हो जाता है। यह भगवान् का प्रसाद है। एक ओर वे सब अमंगल नष्ट करते हैं तथा दूसरी ओर सब प्रकार से आत्यन्तिक मंगल-विधान करते हैं। 'हरि' शब्द का यह मुख्य अर्थ है। कृष्ण-प्रेमी के मन, शरीर तथा अन्य सब पदार्थ श्रीकृष्ण गुणों से आकृष्ट हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपामयी लीलाओं तथा गुणावली में यही शक्ति है। वे इतने मनमोहक हैं कि उनके अनुराग में भक्त धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष तक को त्याग देता है।

'अपि' और 'च' अव्यय हैं। इनका प्रयोग किसी लिए भी किया जा सकता है। 'च' सम्पूर्ण कथन को सात अर्थ दे सकता है।

इस प्रकार भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने 'आत्माराम' श्लोक के ग्यारह शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ किया। आगे उन्होंने श्लोक का अर्थ प्रारम्भ किया। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है सब प्रकार से सबसे बड़ा तत्त्व। भगवान् सब ऐश्वर्यों में सर्वोपरि हैं। श्री, तेज (बल), रूप, ज्ञान, यश तथा वैराग्य में वे सर्वथा अतुलनीय हैं। अतः ब्रह्म शब्द भगवान् श्रीकृष्ण का वाचक है। विष्णुपुराण (१.१२.५७) में ब्रह्म को सबसे बृहत् अर्थात् बड़ा बताया गया है। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण सबसे बड़े हैं। उनकी ब्रह्मत्ता का अनन्त विस्तार है। कोई ब्रह्म की महानता के चिन्तन का प्रयत्न करे तो करता रहे; किन्तु ब्रह्म का इतना विस्तार है कि उसका अनुमान भी नहीं हो सकता।

श्रीभगवान् की प्राप्ति तीन रूपों में होती है, किन्तु तत्त्व की दृष्टि से उनमें अभेद है। परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण शाश्वत हैं। श्रीमद्भागवत (२.९.३३) में कहा है कि सृष्टि से पूर्व वे विद्यमान रहते हैं, सृष्टिकाल में भी वे हैं तथा संहार के बाद भी वे विद्यमान रहते हैं। वे सब बृहत्-तत्त्वों की आत्मा, सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी एवं परम स्वरूप हैं।

परतत्त्व की प्राप्ति के लिए वैदिक शास्त्रों में तीन विभिन्न अलौकिक पद्धतियों का उल्लेख है: ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, तथा भक्तिमार्ग। इन मार्गावलम्बियों को परतत्त्व की, पूर्वोक्त तीन रूपों में, प्राप्त होती है। ज्ञानमार्गी उसकी ब्रह्मानुभूति करते हैं। योगी को परमात्मा स्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा भक्त स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त करते हैं। भाव यह है कि 'ब्रह्म' शब्द से केवल भगवान् श्रीकृष्ण निर्दिष्ट हैं; फिर भी, अंगीकृत मार्ग के अनुसार उनकी प्राप्ति तीन भिन्न-भिन्न रूपों में होती है।

भक्ति के दो रूप हैं। भक्ति की प्राथमिक अवस्था विधि-भक्ति है। इससे आगे राग-भक्ति होती है।

स्वयं भगवान् परतत्त्व हैं; अपने शक्ति-प्रकाशों से वे अपने विविध रूप प्रकाशित करते हैं। **विधि-भक्ति वाले अन्त में परव्योम** में वैकुण्ठ प्राप्त करते हैं, किन्तु रागानुग भक्तों को परव्योम के सर्वोच्च (परम) लोक-कृष्णलोक अथवा गोलोक-वृन्दावन—की प्राप्ति होती है।

उपासकों के तीन भेद हैं। 'अकाम' अर्थात् विषयवासना से शून्य। 'मोक्षकाम' का अर्थ है संसार के दु:खों से मुक्ति के इच्छुक तथा 'सर्वकाम' का अर्थ है विषयाभिलाषी। सबसे बुद्धिमान् उपासक नाना कामना होने पर भी अन्य सारी पद्धतियों को त्याग कर भक्ति ही करता है। भक्ति के अभाव में सकामकर्म, ज्ञानयोग अथवा योग आदि किसी भी साधन से परम सिद्धि कभी नहीं हो सकती। भक्ति के अतिरिक्त सब साधन बकरी के गले पर स्तन जैसे हैं। उनसे दुग्ध नहीं मिलता। अतएव अपने साधन से वास्तविक सिद्धि के अभिलाषी के लिए कृष्ण-भक्ति अनिवार्य है। गीता (७.१६) में कहा है:

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन)! विपत्तिग्रस्त, धन के इच्छुक, जिज्ञासु तथा ज्ञानी—ये चार प्रकार के मनुष्य मेरी भक्ति करते हैं।"

पुण्यों के पुंज से ये सभी कृष्ण-भक्ति में लगते हैं। इनमें आर्त और अर्थार्थी सकाम भक्त हैं तथा अन्य दो—जिज्ञासु एवं ज्ञानी-मोक्षकामी—हैं। कृष्ण-भक्ति करने से वे सभी भाग्यवान् समझे जाते हैं। यथा समय, सब कामनाओं का त्याग कर शुद्धभक्त बनने पर ये परम भाग्यशाली माने जाते हैं। ऐसे भाग्यवानों का विकास शुद्ध कृष्ण भक्तों के संग से ही सम्भव है। शुद्धभक्त का सगी स्वयं भी शीघ्र शुद्ध भक्त बन जाता है। श्रीमदभागवत (१.१०.११) में पुष्टि है—

सत्संगान्मुक्तदुःसंगो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्॥

"यथार्थ बुद्धिमान् शुद्धभक्तों के संग मे कृष्ण-कथा का श्रवण करता है। ये लीलाएँ इतनी चित्ताकर्षक हैं कि एक बार इनको सुन कर वह भगवत्संग कदापि नहीं छोड़ता।"

शुद्ध भक्तों के संग के अतिरिक्त अन्य सब संग कैतव अर्थात् कपट हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में प्रणाम है कि भगवत्प्राप्ति में बाधा रूप कपटपूर्ण क्रियाओं को त्याग देना चाहिए। श्रीमद्भागवत से सत्य का तत्त्व ज्ञान हो सकता है, जिसके द्वारा त्रितापों की निवृत्ति हो जाती है। अपने परिपक्व अनुभव के आधार पर श्रीव्यास ने श्रीमद्भागवत की रचना की है। श्रीमद्भागवत का स्वाध्याय तथा भक्ति करने से श्रीभगवान् तुरन्त हृदय में आ विराजते हैं और फिर वहाँ से नहीं जाते।

श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने समझाया कि 'प्रोज्झित' शब्द का अर्थ है 'मोक्षकामना'। एक महान् टीकाकार ने इसकी व्याख्या में कहा है कि भगवत्प्राप्ति में मोक्ष-कामना सबसे बड़ी बाधा है। जिस किसी प्रकार, यदि कोई भगवान् श्रीकृष्ण के निकट आकर कृष्ण-कथा का श्रवण करने लगे तो कृपामय श्रीकृष्ण उसे केन्द्र रूप में अपने चरणारविन्द प्रदान करते हैं। ऐसा लक्ष्य पाकर भक्त अर्थात् योगी सब कुछ भूलकर अनन्य भाव से भगवद्भक्ति में संलग्न हो जाता है। भक्ति अर्थात् श्रीकृष्णभावनामृत से भगवान् श्रीकृष्ण की ओर बढ़ने का फल है कृष्ण-प्राप्ति। एक बार भगवत्सेवा में लगने पर आर्त अथवा अर्थार्थी के समान वह कभी कुछ नहीं चाहता। भक्ति का स्वभाव, भक्ति का स्वरूप, साधुसंग तथा कृष्ण-कृपा में ऐसी अचिन्त्य आश्चर्यमयी शक्ति है कि आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु अथवा ज्ञानी भी सब कुछ त्याग कर श्रीकृष्ण में निमग्न हो जाता है।

साररूप में, 'आत्माराम' श्लोक का एक-एक शब्द भगवान् श्रीकृष्ण का बोधक है। यहाँ तक श्रीगौरसुन्दर प्रभु ने 'आत्माराम' श्लोक की केवल भूमिका सुनाई है। फिर उन्होंने उसके मूलार्थ का वर्णन किया।

ज्ञानमार्गी उपासक दो कोटि के हैं—एक केवल ब्रह्मोपासक, दूसरे मोक्षाकांक्षी। ब्रह्म के निराकार स्वरूप के उपासक होने से अद्वैतवादी ब्रह्मोपासक कहलाते हैं। इन केवल ब्रह्मोपासकों के तीन विभेद हैं—साधक, ब्रह्ममय तथा प्राप्त ब्रह्मलय। भक्ति का पुट साथ रहने पर ही ब्रह्मज्ञानी की मुक्ति हो सकती है। नहीं तो मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं। कृष्ण-भावनाभावित भक्ति में संलग्न भक्त को ब्रह्मज्ञान तो पहले ही हो जाता है।

भक्ति का यह अलौकिक स्वभाव है कि वह ब्रह्मज्ञानियों को भी भगवान् श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट कर लेती है। श्रीश्यामसुन्दर भक्त को दिव्य चिन्मय देह प्रदान करते हैं जिससे वह उनकी रागानुगा भक्ति में नित्य संलग्न रहे। श्रीकृष्ण **की अलौकिक गुणावली का स्मरण कर** उससे आकृष्ट होने पर ही भक्त सर्वभाव से कृष्ण-भक्ति के परायण हुआ करता है। उदाहरण-स्वरूप, सनकादि चारों कुमार तथा शुकदेव गोस्वामी जन्म से जीवन्मुक्त थे; किन्तु बाद में कृष्णलीला से आकृष्ट होकर वे भक्त बन गए। सनत् कुमार आकृष्ट हुए श्रीकृष्ण-निवेदित कुसुमों के सौरभ से, जबकि अन्य कुमार भगवान् की अलौकिक गुण-लीला से आकृष्ट होकर उनकी भक्ति में लगे। श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध में वर्णित नौ योगेश्वर जन्म से ही ज्ञानी थे। वे भी भक्त हो गए, उन्होंने ब्रह्मा, शिव और नारद से भगवान् श्रीकृष्ण का गुणानुवाद सुना था।

कभी-कभी श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह के सुन्दरांगों के दर्शनमात्र से दर्शक श्रीकृष्ण तथा उनकी गुणावली के प्रति आकृष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर वह मोक्ष तक सब कामनाओं को त्याग कर भक्ति करता है। तथाकथित ज्ञानप्राप्ति में नष्ट समय के लिए पश्चात्ताप करता हुआ वह शुद्ध कृष्ण-भक्त बन जाता है।

प्राकृत देह में जीवन्मुक्तों के दो भेद हैं—भक्ति द्वारा मुक्तिप्राप्त तथा ज्ञान से जीवन्मुक्त। भक्ति-जीवन्मुक्त श्रीकृष्णगुणाकृष्ट होकर उत्तरोत्तर आरोहण करते हैं, जबकि भक्तिविहीन शुष्कज्ञानियों का नाना अपराधों के फलस्वरूप घोर पतन होता है। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत (१०.२.३२) में है:

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्त भावादविशुद्धबुद्धयः।
आरूह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

"हे प्रभो! जो आपकी भक्ति से रहित होते हुए भी अपने को मुक्त मानते हैं, उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है। महान् तपस्या एवं व्रतों से चाहे वे मुक्ति के सर्वोच्च पद पर पहुँच जाएँ, पर उन्हें फिर भव-बन्धन में गिरना पड़ेगा, क्योंकि उन्होंने आपके चरणारविन्द का आश्रय नहीं लिया है।" गीता (१८.५४) में यही उल्लेख है:

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम्॥

"जो यथार्थ में ब्रह्मभूत हो गया है, उसके लिए हर्ष-शोक का कोई कारण

नहीं रहता। प्राणीमात्र में सम होने से वह भक्ति का योग्य पात्र है। जीवन के उत्तरकाल में विलाप करते हुए विल्वमंगल ठाकुर ने भी यह स्वीकार किया था, "मैं ब्रह्म से एक होने के लिए अद्वैतवाद में स्थित था, किन्तु किसी एक नटखट बालक के सान्निध्य से मैं उसका नित्य दास बन बैठा हूँ।" भाव यह है कि भक्ति के द्वारा जो आत्म-साक्षात्कार करते हैं, उन्हें दिव्य देह की प्राप्ति होती है और भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों से आकृष्ट होकर वे पूर्ण रूप से शुद्ध भक्ति करते हैं।"

जो कोई भगवान् श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट न हो, उसे मायावश समझना चाहिए। परन्तु भक्ति के द्वारा मुक्ति का साधक यथार्थ में मायामुक्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत, ग्यारहवें स्कन्ध में भक्ति के साधन से जीवन्मुक्ति को प्राप्त भक्तों के अनेक उदाहरण हैं।

अध्याय १६

श्रीसनातन-शिक्षा का निष्कर्ष

मुमुक्षु, जीवन्मुक्त तथा प्राप्तस्वरूप—मोक्षकामी ज्ञानियों के ये तीन भेद हैं। संसार में बहुत से मनुष्य मोक्ष चाहते हैं और इसलिए कभी-कभी वे भक्ति भी करते हैं। इसके समर्थन में श्रीमद्‌भागवत (१.२.२६) में कहा है कि जिन्हें वास्तव में मुक्ति की कामना है वे देव-पूजन का त्याग कर ईर्ष्यारहित चित्त से भगवान् श्री नारायण का भजन करते हैं। शुद्धभक्त के संग से ये मोक्ष कामना भी त्याग कर कृष्णभक्ति में संलग्न हो जाया करते हैं। 'हरिभक्ति-सुधोदय' में कहा है—

अहो महात्मन् बहुदोषदुष्टोऽप्येकेन भात्येष भवो गुणेन।
सत्संगमाख्येन सुखावहेन कृताद्य नो येन कृशा मुमुक्षा॥

"हे महात्मन्! इस संसार में अनेक दोष हैं, किन्तु एक गुण है—शुद्ध-भक्तों का सत्संग। उसे प्राप्त करो। उसके प्रभाव से मोक्ष-कामना भी निवृत्त हो जाएगी।"

श्रीमद्‌भागवत (११.२.३७) में उल्लेख है कि मनुष्य के भय का कारण देहात्मबुद्धि और भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाना है। इस कारण उसमें केवल असत् स्मृतियाँ ही शेष रहती हैं। ऐसा माया-मोह से होता है। पर्याप्त बुद्धि वाला परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को गुरु एवं आराध्य मानकर पूर्ण रूप से उनकी भक्ति करता है। अतएव यह निष्कर्ष हुआ कि भगवद्‌भक्ति किए बिना चेतना (कृष्णभावना) का उद्‌बोधन नहीं हो सकता। प्राकृत दूषण से यथार्थ में मुक्त हो जाने पर ही पूर्ण कृष्णभावनाभावित बना जाता है।

श्रीमद्‌भागवत (१०.१४.४) में स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति में संलग्न होने के किसी भी उद्देश्य के बिना जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए उद्यम करता है उसे केवल परिश्रम हाथ लगता है। उसका जीवन सारहीन है।

जीव श्रीभगवान् का भिन्न अंश हैं। अतः परम अंशी की सेवा करना जीव मात्र का कर्त्तव्य है। इस सेवा अथवा भक्ति के अभाव में वह विषय-दोष में गिर जाता है।

श्रीसनातन-शिक्षा की समाप्ति करते हुए भगवान् श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु ने कहा कि छहों प्रकार के आत्माराम किसी न किसी रूप में कृष्ण-भक्ति करते हैं। भाव यह है कि अन्त में किसी न किसी समय सभी आत्माराम-योगी कृष्ण-भक्ति की अनिवार्यता समझकर पूर्ण कृष्णभावना-भावित हो जाते हैं। अत्यन्त विद्वान् अथवा मूर्ख व्यक्ति भी कृष्ण-भक्ति में संलग्न हो सकता है।

आत्मारामों के छः मुख्य भेद हैं—

केवल ब्रह्मोपासक में साधक आत्माराम, ब्रह्ममय आत्माराम, प्राप्त ब्रह्मलय—आत्माराम और मोक्षकामीगणों में मुमुक्षु आत्माराम तथा अपने नित्य स्वरूप में स्थित भक्तिपरायण **जीवन्मुक्त** आत्माराम तथा प्राप्त स्वरूप आत्माराम। ये सभी आत्माराम कहलाते हैं। आत्माराम भक्ति में पूर्ण संलग्न हो जाता है। व्याकरण् के अनुसार आत्माराम अनेक हैं। किन्तु एक अर्थ अन्य सभी का द्योतक है। समुदाय-वाचक अर्थ में सभी आत्मारामों की कृष्ण-भजन में प्रवृत्ति होती है।

अपनी आत्मा में परमात्मा का उपासक योगी भी आत्माराम है। आत्माराम योगी दो हैं—सगर्भ एवं निगर्भ। श्रीमद्‌भागवत (२. २. ८) में उल्लेख है—"कोई-कोई योगी अपने हृदय में चतुर्भुज शंख, चक्र, गदा, पद्‌मधारी विष्णु का ध्यान करते हैं।" चतुर्भुज विष्णु के चिन्तक योगी भक्ति-भावित होकर उस अवस्था के लक्षणों को प्राप्त करते हैं। वे कभी रोते हैं तो कभी विरह भावापन्न हो जाते हैं। इस प्रकार उनका दिव्यानन्द में प्रवेश हो जाता है। उनकी दशा मछली जैसी हो जाती है।

सगर्भ एवं निगर्भ इसके तीन-तीन भेद हैं। योगारुरुक्ष, योगारूढ़ तथा प्राप्त सिद्धि। गीता के छठें अध्याय में इन योगियों का वर्णन है। योगारूढ़ होने के अभिलाषी आरुरुक्ष कहलाते हैं। आरुरुक्ष में विभिन्न आसनों का अभ्यास तथा मनोनिग्रह होता है। किन्तु ध्यान एवं वैराग्य को लक्ष्य बनाकर योगारूढ़ तथा विषयवासना से रहित हो जाने पर क्रमशः मुक्ति होती है। उस समय योगी को योगारूढ़ नामक आनन्दानुभूति भी होती है। इन योगियों को अगर किसी प्रकार साधु-संग प्राप्त हो जाए तो ये कृष्ण-भक्त भी बन जाते हैं। उरुक्रम श्रीभगवान् का वाचक है, सारे आत्माराम

उरुक्रम-भक्ति में संलग्न हैं। भक्तिमयी सेवा करने के पूर्व यह शान्तभक्त कहलाते हैं। 'आत्मा' शब्द मन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। कभी-कभी ज्ञानी लोग विभिन्न प्रकार के दार्शनिक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, किन्तु कृष्णभक्ति परायण साधुओं के संग से वे भी भक्त बन जाते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०. ८७. १८) में दो प्रकार के योगियों (सगर्भ, निगर्भ) का यह वर्णन है—"योगी उदर से प्रारम्भ कर आँतों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। क्रमशः उनका ध्यान हृदय तक पहुँच कर मन-हृदय पर केन्द्रित होता है। अन्त में वे ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस स्थिति में योगी सिद्धि प्राप्त करता है। वह जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है।" ऐसे योगी भी साधु-संग से भगवान् की अहैतुकी भक्ति करने लगते हैं।

"आत्मा" का एक अर्थ 'यत्न' भी है। प्रत्येक क्रिया में कोई न कोई यत्न अवश्य होता है। चरम यत्न तो भक्ति की परमावस्था की प्राप्ति का यत्न ही है। श्रीमद्भागवत (१.५.१८) में उल्लेख है कि उच्च अथवा निम्न लोकों में जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं, उस परम लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि विषय-सम्बन्धी सुख-दुःख सभी लोकों में समयानुसार मिलते रहते हैं। किन्तु चरम लक्ष्य—भक्ति की प्राप्ति कहीं भी सब लोकों में यत्न के बिना नहीं हो सकती। बृहन्नारदीय-पुराण में कहा है कि भक्ति की परमावस्था की प्राप्ति हेतु अतिशय गम्भीर यत्न करने मात्र से सब अभिलषित अर्थ शीघ्र सिद्ध होते हैं। भक्ति की परमा-वस्था की प्राप्ति यत्न बिना सम्भव नहीं। गीता (१० . १०) में श्रीकृष्ण-वचन है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

"निरन्तर प्रेम भक्ति से मेरा भजन करने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।"

आत्मा का अर्थ धृति और धैर्य भी है। धृति और धैर्य से भक्ति की परमावस्था सुलभ है।

'मुनि' शब्द के भी अनेक अतिरिक्त अर्थ हैं। इससे पक्षी-भृंग भी विहित हैं। 'निर्ग्रन्थ' का एक अन्य अर्थ है मूर्खजन। शुद्ध भक्तों की कृपा प्राप्त होने पर पक्षी, भृंग तथा मूर्ख भी भक्ति करते हैं। श्रीमद्भागवत (१०.२१.१४) में उल्लेख है कि पक्षी भी कृष्णभक्त हैं। (१०.१५.६) में कथन है कि भृंगगण सदा श्रीराम और श्याम का अनुगमन किया करते

हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने भृंगों की भक्ति का वर्णन किया:

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि जहत्यनघात्मदैवम्॥

"हे परम यशोमय आदिपुरुष (बलरामजी)! ये भ्रमरगण आपका यशोगान और भजन करते हुए आपका अनुगमन कर रहे हैं। ये वास्तव में भ्रमर नहीं हैं। ये यथार्थ में मुनिगण हैं, जो आपकी आराधना करके इस सुअवसर का लाभ ले रहे हैं। आप साधारणजनों के लिए अज्ञेय हैं, किन्तु ये आपको जानते हैं। इसीलिए आपका यशोगान करने को आपका अनुगमन कर रहे हैं।"

श्रीमद्भागवत में ऐसा ही एक अन्य श्लोक (१०.१५.७) है, जिसमें वृन्दावन के मयूरों द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम के स्वागत का वर्णन है। "हे आराध्यपद! देखिए अपने निवास को लौटते हुए ये मयूर आपका प्रेमपूर्ण स्वागत कर रहे हैं। ये ठीक व्रजगोपियों जैसे हैं। वृक्ष-शाखाओं पर स्थित कोकिलाएँ भी अपनी ही रीति से आपका अभिनन्दन कर रही हैं। ये वृन्दावनवासी धन्य हैं, क्योंकि ये सभी प्रभु सेवा करने को आतुर रहते हैं।" श्रीमद्भागवत में ही एक अन्य श्लोक है (१०.३५.११)—"सरोवर में सारस, हंसादि श्रीकृष्ण का यशोगान कर रहे हैं। वे जल में खड़े होकर भगवान् श्रीकृष्ण की, ध्यान द्वारा उपासना करते हैं।" श्रीमद्भागवत (२.४.१८) में अन्यत्र है—"किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, शुम्भ, यवन, खसादि सब पापात्मा एवं नीच जाति के लोग भी शुद्धभक्त के आश्रय से पवित्र हो जाते हैं।" यह कहकर शुकदेव गोस्वामी ने श्रीविष्णु की वन्दना की है, जिनके भक्त इतने प्रभावशाली हैं।

"धृति' शब्द का एक अन्य अर्थ है 'निजपूर्णताज्ञान। निजपूर्णताज्ञानी अपने को सब दुःखों से मुक्त मानकर जीवन की सर्वोच्चता प्राप्त करता है। कृष्णभावनाभावित पूर्ण भक्त सम्पूर्ण प्राकृत दुःख-सुख से स्वतन्त्र होते हैं। श्रीकृष्ण की सेवा में तन्मयता के कारण वे सदा पूर्णानन्दापूरित रहते हैं। वे पूर्णानन्द के अनुभवी हैं। वस्तुतः वे इतने सुखी हैं कि उच्च लोकों की प्राप्ति भी नहीं चाहते। जीवन की प्रत्येक स्थिति में सदा प्रसन्न रहते हैं। पूर्णतः भगवत्सेवा में नियुक्त होने से वे प्राकृत विषयभोग अथवा सुख की वांछा नहीं करते। गोस्वामियों के उल्लेखानुसार "श्रीकृष्ण में नियोजित इन्द्रियों वाले शान्त (धीर) कहलाते हैं।"

इस प्रकार 'आत्माराम' श्लोक के अनुसार "पक्षी, पशु, मूर्खादि सभी

जीव भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक गुणों से आकृष्ट और भक्ति में संलग्न होकर मुक्त हो सकते हैं।''

'आत्मा' का ही एक अन्य अर्थ 'बुद्धि' है। विशेष बुद्धिमान् आत्माराम कहलाता है। विशेष बुद्धि वाले आत्माराम द्विविध हैं—पण्डित मुनिगण तथा ग्रन्थज्ञानहीन मूर्ख। इन दोनों को ही शुद्ध भक्तों का साधुसंग मिल सकता है। मूर्ख आत्माराम भी सर्वस्व त्याग कर कृष्णभावनाभावित शुद्ध-भक्ति कर सकते हैं। श्रीमद्भागवद्गीता में उल्लेख है कि भगवान् श्रीकृष्ण सब पदार्थों के आदिकारण हैं, उन्हीं से सब कुछ प्रगट होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार (२.७.४५)—''स्त्री, शूद्र, हूण, शबर, पक्षी, पशु आदि भी जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं, फिर शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न बुद्धिमानों के विषय में तो कहना ही क्या।'' जैसे पूर्व उल्लेख है, गीता (१०.१०) में भी आया है कि जब कोई बुद्धिमान् कृष्णभावनाभावित होता है, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी विनिमय में उसे वह बुद्धियोग प्रदान करते हैं जिससे वह उन्हें प्राप्त कर सकता है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर प्रभु ने श्रीसनातन गोस्वामी से आगे कहा कि—साधुसंग, कृष्णसेवा, श्रीमद्भागवत-पाठ (अध्ययन), भगवन्नाम-कीर्त्तन-जप तथा व्रजवास—ये पाँच साधन प्रेमोदय के लिए अतिशय आवश्यक हैं। इन पाँचों को एक साथ करना आवश्यक नहीं, इनमें से एक में भी दक्ष होने पर निस्सन्देह कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति होगी। यथार्थतः सुबुद्धिजन सब प्रकार की भोगवासना त्यागकर भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति में संलग्न रहते हैं। भक्ति के प्रभाव से भक्त सब भोगेच्छाओं को ठुकरा कर श्रीकृष्ण के अलौकिक गुणों से आकृष्ट हो उनमें पूर्ण आसक्त हो जाता है। भक्तों की दृष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण का ऐसा ही माधुर्य है।

''आत्मा'' शब्द का ही एक अन्य अर्थ है 'स्वभाव'। इस सन्दर्भ में 'आत्माराम' का अर्थ हुआ कि सब जीव अपने स्वभाव में रमण कर रहे हैं, किन्तु जीव का चरम अथवा नित्य स्वभाव तो यही है कि वह कृष्ण-दास है। अपने इस यथार्थ स्वरूप को जान लेने पर वह मायाकृत देहात्मबुद्धि को त्याग देता है। वास्तविक ज्ञान यही है। ज्ञानमार्गी भी साधुसंग प्राप्त होने पर भक्ति में प्रवृत्त होते हैं। कुमार आदि ऋषिगण तथा मूर्ख, पक्षी आदि सभी कृष्ण-भक्ति कर सकते हैं। श्रीकृष्णकृपा से जीवमात्र कृष्णभावना में अवस्थित हो सकता है।

कृष्णगुणाकृष्ट होने पर जीव भक्ति में प्रवृत्त होता है। श्रीमद्भागवत में वृन्दावन का यशोगान इस प्रकार है (१०. १५. ८):

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपियत्स्पृहा श्रीः ॥

"प्रभो ! यह व्रजभूमि आपके चरणारविन्द के स्पर्श से धन्य हो रही है। आपके करारविन्द का स्पर्श पाकर लताएँ आपकी कीर्ति का विस्तार कर रही हैं। आपकी दृष्टि से नदी-पर्वत, एवं पशु आदि धन्य हो उठे हैं तथा आपकी भुजाओं द्वारा आलिंगित गोपीगण भी धन्य हैं।" गोपियों ने भी वृन्दावन को धन्य कहा है— "हे सखी! पक्षी, पशु, तरु, सब व्रजवासी, सखाओं तथा बलराम सहित गोचारण के लिए जाते श्यामसुन्दर के दर्शन से धन्य हो जाते हैं।"

'आत्मा' का अर्थ 'देह' भी है। देहात्मबुद्धि वाले अष्टांगयोगी भी साधुसंग से भक्ति प्राप्त करते हैं। देहात्मबुद्धि वाले स्नानादि विविध सकाम तथा साधारण सांसारिक कर्म में लगे रहते हैं, किन्तु साधुसंग से वे भी भक्ति कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत (१.१८.१२) में उल्लेख है— "हे सूत गोस्वामी! सकाम-यज्ञों के धूम्र से हम काले हो गए हैं, फिर भी आप हमें कृष्ण चरणारविन्दामृत का पान करा रहे हैं।" श्रीमद्भागवत (४.२१.३१) में ही कथन है: श्रीकृष्ण-चरणारविन्द-अंगुष्ठ प्रादुर्भूत गंगाजी में सकाम कर्मी-ऋषि आदि सभी अपना मनोमल नष्ट कर देते हैं।"

देहारामी अथवा विषयी भी एक दृष्टि से 'आत्माराम' हैं। शुद्ध भक्तों का साधुसंग मिलने पर वे विषयभावना से मुक्त होकर कृष्ण-भक्ति में प्रवीण हो जाते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण 'हरिभक्तिसुधोदय' (७.२८) में ध्रुवोक्ति है—

स्थानाभिलाषीस्तपसि स्थितोऽहं त्वां प्राप्तवान् देव मुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वनपि दिव्यरत्नं स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥

"स्वामिन्! मैं आपकी आराधना करने आया था पृथ्वी पर राज्य की प्राप्ति के लिए, किन्तु सौभाग्य से मुझे मुनि-सन्त-अगोचर आप मिल गए। आपसे मैं क्षुद्र कांच चाहता था, पर मुझे मिल गए महारत्न स्वरुप स्वयं आप। अब मैं आप्तकाम हो चुका हूँ। अतः मुझे अब कुछ नहीं चाहिए।"

'निर्ग्रन्थ' का एक अन्य अर्थ है— 'मूर्ख व्याध' अथवा 'निर्धन'। एक व्याध को भक्तराज नारद के सत्संग से मुक्ति और भगवद्भक्ति में संलग्नता प्राप्त हुई थी। श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने श्रीसनातन गोस्वामी को नारदजी से व्याध के मिलन की निम्नलिखित कथा सुनाई —

प्रयाग-वन में एक व्याध रहता था। सौभाग्यवश एक समय वैकुण्ठ से

नारायण-दर्शन करके लौटते हुए नारद जी से उसकी भेंट हुई। नारद प्रयाग में त्रिवेणी-स्नान करने आए थे। वन-पथ में उन्हें एक पक्षी भूमि पर पड़ा दृष्टिगत हुआ। बाणविद्ध अधमरी अवस्था में वह दयनीय रूप से तड़फड़ा रहा था। उससे कुछ आगे वैसे ही पीड़ामग्न तड़फड़ाते एक मृग, शूकर एवं शशक (खरगोश) को देखा। इन सब से अत्यन्त दयार्द्र होकर नारदजी सोचने लगे, "किस मूर्ख ने ये पापकर्म किए हैं?" साधारण कृष्ण-भक्त भी दुःखी जीवों पर दया करते हैं, फिर श्रीनारद जैसे ऋषि का तो कहना ही क्या? इस दृश्य से वह बड़े व्याकुल हो गए। कुछ आगे उन्होंने पशुवध में संलग्न एक व्याध को देखा। वह श्यामवर्ण और रक्तनेत्र था। धनुर्बाण सहित वह दण्डपाणि यमराज जैसा भयंकर प्रतीत होता था। नारदजी उसके निकट बीहड़ वन की ओर चले। नारद मुनि के पास से जाने के प्रभाव से व्याध के सारे पाशबद्ध जीव मुक्त होकर भाग गए। इससे व्याध अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। वह नारदजी को गालियाँ सुनाना चाहता था, परन्तु नारदजी के सन्त प्रभाव के कारण ऐसा नहीं कर सका। वह विनयपूर्वक बोला, "हे गोस्वामिन्! मेरे शिकार के समय आप यहाँ क्यों आए? क्या आप सामान्य पथ से विचलित हो गए हैं? आपके आगमन से मेरे सब पाशबद्ध पशु भाग गए।"

"हाँ भाई! मुझे क्षमा करो," नारदजी ने कहा। "मैं तुम्हारे पास अपना मार्ग पूछने तथा साथ ही तुम्हारे विषय में भी जिज्ञासा करने आया हूँ। मैंने मार्ग में बहुत से पशु-पक्षी-शूकर-मृगादि देखे हैं। वे सभी पथ में अधमरी अवस्था में तड़प रहे हैं। किसने यह सब पाप किए हैं?"

"आपने ठीक देखा है," व्याध बोला। "यह सब मेरा ही कर्म है।"

"यदि तुम इन जीवों का वध कर ही रहे हो तो उन्हें एक ही बार में पूरा क्यों नहीं मार देते?" श्रीनारद ने पूछा। "तुम उन्हें अधमरा कर तड़पाते हो। यह महापाप है। किसी जीव को यदि मारना ही है तो पूरा क्यों नहीं मार डालते? उसे अधमरा करके भूमि पर तड़पा कर क्यों मारते हो?"

"हे गोस्वामिन्!" व्याध बोला, "मेरा नाम मृगारि (पशुओं का शत्रु) है। मैं तो केवल अपने पिता की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। उसने मुझे पशुओं को अधमरा करके तड़पाना सिखाया है। किसी पशु को तड़पता देख कर मुझे अतिशय आनन्द होता है।"

नारद मुनि ने कहा, "मैं तुमसे केवल एक वस्तु माँगता हूँ। कृपया अवश्य देना।"

व्याध ने कहा, "आप की इच्छित वस्तु मैं आपको दूँगा। यदि आपको मृगछाल वांछित हो तो मेरे घर आइए। मेरे पास मृग, सिंहादि अनेक पशुओं का चर्म है। आप इच्छानुसार ले सकते हैं।"

श्रीनारदजी ने कहा, "व्याध ! ये वस्तुएँ मुझे नहीं चाहिए; मैं तो कुछ और माँगता हूँ। यदि तुम दो तो मैं माँगूं। कल से तुम जिस भी पशु का वध करो, उसे तुरन्त मार डालो, अधमरा मत छोड़ो।"

व्याध ने कहा, "आप मुझसे क्या माँगते हैं ? अधमरा छोड़ने या पूरा मारने में क्या अन्तर है ?"

श्रीनारदजी ने कहा, "जीव को अधमरा छोड़ने से वह अत्यन्त व्यथा पाता है। अन्य जीवों को अधिक कष्ट देने से तुम भयंकर महापाप करते हो। यह ठीक है कि जीव-हत्या से महापाप होता है, पर अधमरा करने में तो उससे भी अधिक पाप है। जीवों को अधमरा करके तुम जो कष्ट देते हो, वह सब तुम्हें भावी जीवन में भोगना होगा।"

व्याध अतिशय पापी था, पर श्रीनारद जैसे महाभागवत के संग से उसका हृदय द्रवित हो गया, अपने पापों के कारण वह भयभीत हो उठा। अतिशय पापी जीव पाप करने में कभी कुछ संकोच नहीं करते, किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि व्याध अपने पापों से भयभीत हो उठा, क्योंकि उसकी शुद्धि श्रीनारद जैसे परम भागवत के संग से ही प्रारम्भ हो गई थी। वह बोला, "स्वामिन् ! बाल्यकाल से ही मुझे पशुओं को इस प्रकार मारना सिखाया गया है। कृपया बताइए कि इस संचित पाप-राशि से मेरा निस्तार कैसे होगा ? मैं आपका शरणापन्न हूँ। इन पूर्वकृत पापकर्मों के फल से मेरा उद्धार करके कृपया मुझे मुक्ति-पथ का उपदेश करें।"

नारद मुनि ने कहा, "यदि तुम यथार्थ रूप में मेरी आज्ञापालन के इच्छुक हो तो मैं तुम्हें पाप से मुक्ति-प्रदायक पथ का उपदेश कर सकता हूँ।"

व्याध ने कहा, "आप जो कहेंगे, मैं निःसंकोच वही करूँगा।"

तब श्रीनारद ने सर्वप्रथम उसको धनुष-भङ्ग करने की आज्ञा दी। उसके बाद ही वे मुक्ति-पथ बताएँगे।

"आप मुझे धनुष-भङ्ग करने को क्यों कहते हैं", व्याध ने विरोध किया, "किन्तु ऐसा करने पर मेरी जीविका का साधन क्या रहेगा ?"

श्रीनारद ने कहा, "अपनी जीविका की चिन्ता तुम मत करो। मैं तुम्हारे जीवनयापन के लिए पर्याप्त अन्न भेज दूँगा।"

यह सुन कर व्याध ने धनुष तोड़ डाला और श्रीनारद के चरणों में गिर पड़ा। श्रीनारद ने उसे उठाकर यह उपदेश दिया, "घर जाकर अपनी

सारी सम्पत्ति को भक्तों और ब्राह्मणों को दान कर दो। उसके उपरान्त केवल एक वस्त्र धारण कर मेरे निकट आओ। नदी-तट पर कुटी बनाकर उसके समीप एक तुलसी का पेड़ लगाओ। प्रतिदिन श्रीतुलसी की परिक्रमा कर एक गिरा हुआ पत्ता खाओ। अन्त में,'**हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।**'— इस महामन्त्र का निरन्तर सदा जप-कीर्त्तन करो। मैं प्रतिदिन तुम्हारे लिए अन्न भेजूँगा, किन्तु तुम अपने और अपनी स्त्री के लिए आवश्यक मात्रा में ही उसे स्वीकार करना।"

यह कहकर श्रीनारद जी ने अधमरे जीवों को पुनः स्वस्थ किया और वे सब भाग गए। श्रीनारदजी के इस चमत्कार से व्याध विस्मित हो गया। अपने घर ले जाकर उसने उन्हें पुनः प्रणाम किया।

श्रीनारदजी ने अपने स्थान को प्रस्थान किया तथा घर लौट कर व्याध उनके उपदेशानुसार आचरण करने लगा। इस बीच, सारे ग्राम में व्याध के वैष्णव बनने का समाचार पहुँच गया। अतः सब के सब ग्रामवासी इस नए वैष्णव के दर्शन करने आने लगे। सन्त-दर्शन को जाते समय फलान्न ले जाना वैदिक परम्परा है। ग्रामवासी भी अपने साथ फल-अन्न लाते। इस प्रकार उसे प्रतिदिन दस-बीस व्यक्तियों के लिए पर्याप्त अन्न की प्राप्ति हो जाती। श्रीनारद के आज्ञानुसार वह अपनी पत्नी एवं अपनी आवश्यकता से अधिक बिलकुल स्वीकार नहीं करता था।

कुछ दिन बाद, श्रीनारद ने अपने मित्र पर्वत मुनि से कहा, "मेरा एक शिष्य है। आओ देखने चलें कि वह कैसा है।"

श्रीनारद और पर्वत ऋषि को दूर से ही अपने घर आते देख व्याध अतिशय आदरभाव से उनका स्वागत करने दौड़ा। मार्ग में उसे चींटियाँ चलती हुई दिखाई दीं। ऋषियों के निकट पहुँच कर वह उन्हें दण्डवत करने को उद्यत हुआ, किन्तु पहले चींटियों को अपने वस्त्र से झाड़ दिया। इस प्रकार व्याध को चींटियों की रक्षा करते देखकर श्रीनारद को स्कन्द पुराण के एक श्लोक का स्मरण हो आया—

"यह कोई आश्चर्यजनक नहीं कि भगवद्भक्त चींटी जैसे किसी भी जीव को कोई दुःख देने की इच्छा नहीं करता।"

पूर्व में जीवों को अधमरा करके जो व्याध अति आनन्दित होता था, वही भक्त बन जाने पर एक चींटी को भी दुःखी नहीं करता। उसने ऋषियों को कुटिया में लाकर उन्हें आसन, पाद्य एवं आचमन समर्पित किया। उसी जल को स्त्री सहित शिरोधार्य किया। इसके उपरान्त वे भाव-विभोर

होकर नृत्य-कीर्त्तन करने लगे— **हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।** उनके उर्ध्व-बाहु नृत्य से उनके वस्त्र तक उड़ने लगे। व्याध के शरीर में प्रेम-लक्षणों को देखकर पर्वत मुनि ने श्रीनारदजी से कहा, "नारदजी! आप तो पारसमणि हैं। देखिए, आपके संग से एक भयंकर व्याध भी महाभागवत बन गया है।"

स्कन्द पुराण में एक श्लोक है—"देवर्षे! आप धन्य हैं। आपकी कृपा से एक अत्यन्त अधम व्याध ने भी भक्त बन कर कृष्णरति प्राप्त की।"

अन्त में श्रीनारदजी ने व्याध से पूछा, "तुम्हें अन्न भोजन नित्य प्राप्त हो रहा है क्या?"

"आप नित्य इतने अधिक लोग भेजते हैं", व्याध ने कहा, "वे इतने अधिक पदार्थ लाते हैं कि हम खा भी नहीं पाते।"

श्रीनारदजी ने कहा, "ठीक है। तुम्हें जो कुछ प्राप्त हो रहा है, वह सब उचित ही है। अब अपनी भक्ति को इसी प्रकार करते रहो।"

यह कहकर पर्वत मुनि सहित नारदजी व्याध-गृह से अन्तर्धान हो गए। **श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने इस कथा का उल्लेख करके दिखाया कि शुद्ध भक्तों के साधु संग के प्रभाव से एक व्याध भी भक्ति कर सकता है।**

'आत्माराम' श्लोक की आगे व्याख्या करते हुए महाप्रभु ने कहा कि 'आत्मा' शब्द से सारे भगवत्-स्वरूप विहित हैं। प्रायः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके सब स्वरूपों को भगवान् कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के किसी भी स्वरूप की भक्ति करने वाला आत्माराम है। ये सभी भक्त वैधी अथवा रागानुगा भक्ति करते हैं। इनके तीन भेद हैं— पार्षद, साधन-सिद्ध तथा साधक। साधक दो प्रकार के हैं:—जातरति तथा अजातरति। भक्ति के वैधी तथा रागानुगा नामक भेदों से इनके आठ भेद होते हैं। वैधी भक्ति में श्रीभगवान् के नित्यसिद्ध पार्षदों के चार भेद हैं— दास, सखा, गुरु (माता-पिता) तथा कान्तागण।

जैसे कुछ भक्त साधन-सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार उनमें कुछ नित्य सिद्ध हैं। वैधी भक्त दो प्रकार के हैं— जातरति तथा अजातरति तथा रागानुगा-भक्ति में सोलह भेद हैं। इस प्रकार आत्मारामों के कुल बत्तीस भेद हुए। यदि 'मुनि', 'निर्ग्रन्थ,' 'अपि' तथा 'च' का इन बत्तीस के लिए प्रयोग करें तो भक्तों के अट्ठावन भेद हो जाएँगे। ये सभी भक्त एक शब्द से विहित हैं— 'आत्माराम'। वन में अनेक प्रकार के वृक्ष होते हैं, किन्तु 'वृक्ष' शब्द से उन सभी का उल्लेख हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने 'आत्माराम' के साठ अर्थों को प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त, उन्होंने कहा कि आत्मा का अर्थ है ब्रह्मा से कीट तक क्षेत्रज्ञ जीव। उन्होंने श्रीविष्णुपुराण के छठे अध्याय से एक श्लोक सुनाया जिसके अनुसार श्रीभगवान् की सब शक्तियाँ 'परा' हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी जीवशक्ति को 'परा' कहते हैं। संसार में प्रकाशित अन्य अविद्यामय शक्ति 'माया' कहलाती है। सृष्टि में असंख्य जीव हैं। यदि सौभाग्यवश प्राकृत जगत् में जीव को शुद्धभक्त का संग प्राप्त हो जाय तो वह शुद्ध कृष्ण-भक्ति करने लगता है।

श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीसनातन से कहा, 'पूर्व में मैं 'आत्माराम' शब्द के साठ अर्थ जानता था, किन्तु तुम्हारे संग से आज एक नया अर्थ स्फुरित हुआ है।"

'आत्माराम' शब्द की व्याख्या को सुनकर विस्मय-मुग्ध हो श्री सनातन गोस्वामी भक्तिपूर्वक श्रीमन्महाप्रभु के चरणों में गिर गए। वे बोले, "प्रभो! मैं समझ गया हूँ कि आप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। आपके निश्वास से ही वेद का प्रकाश होता है। अत: श्रीमद्भागवत के वक्ता तथा यथार्थ अर्थ के ज्ञाता आप ही हैं। आपकी कृपा के बिना कोई श्रीमद्-भागवत् के रहस्य को नहीं जान सकता।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "सनातन! मेरी इस प्रकार स्तुति न करके श्रीमद्भागवत के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करो। श्रीमद्भागवत स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की वाङ्मयीमूर्ति है। यह श्रीकृष्ण के स्वरूप से अभिन्न है। भगवान् श्रीकृष्ण विभु अनन्त हैं; इसी प्रकार श्रीमद्-भागवत के एक-एक शब्दाक्षर के अनन्त अर्थ हैं। इनका ज्ञान भक्तों के संग से होता है। यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीमद्भागवत प्रश्नोत्तर का संग्रहमात्र है।"

नैमिषारण्य के ऋषियों ने सूत गोस्वामी से छ: प्रश्न किए थे। सूतजी ने उन सबका उत्तर श्रीमद्भागवत में दिया। वैदिक ग्रन्थों के एक श्लोक में शिवजी ने कहा है, "जहाँ तक श्रीमद्भागवत का सम्बन्ध है, उसे मैं जान सकता हूँ, या शुकदेव-व्यासदेव जान सकते हैं अथवा हम भी नहीं जानते। श्रीमद्भागवत का वास्तविक ज्ञान भक्ति एवं भक्तों के संग से ही हो सकता है, अपनी बुद्धि अथवा टीकाओं से नहीं। "श्रीमद्भागवत के आरम्भ में (१.१.२३) शौनकादि ऋषियों ने प्रश्न किया—

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ।।

"सूतजी! कृपया बताएँ कि क्या श्रीभगवान् के साथ धर्म भी उनके धाम चला गया? श्रीभगवान् के स्वधाम चले जाने पर धर्म किसकी शरण गया (हमें धर्म कहाँ मिल सकता है?)" इसके उत्तरस्वरूप (१.३.४३)—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ।।

"धर्म सहित श्रीकृष्ण के स्वधाम को चले जाने पर उनका ही स्वरूप यह श्रीमद्भागवत महापुराण रूपी प्रकाशवान् सूर्य विद्यमान है।"

यह समझाकर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन से कहा, "सनातन! मैंने पागल के समान इस 'आत्माराम' श्लोक की नाना व्याख्याएँ की हैं। मेरे इस प्रलाप को क्षमा करना। किन्तु मुझ जैसा पागल (प्रेमोन्मत्त) ही इस व्याख्या से श्रीमद्भागवत का स्वरूप जान सकता है।"

यह सुनकर श्रीसनातन गोस्वामी हाथ जोड़कर श्रीमहाप्रभु के चरणों में गिर गए और प्रार्थना करने लगे, "प्रभो! आपने मुझे वैष्णवस्मृति की रचना का आदेश दिया है, किन्तु मैं नीच-जाति, आचार-ज्ञान से हीन हूँ; मैं नहीं जानता कि यह गुरुतर कार्य किस प्रकार मेरे द्वारा सम्पादित होगा। यदि उस ग्रन्थ का स्वरूप आप मुझे सूत्ररूप में समझा दें तो मैं लेखन में समर्थ हो जाऊँगा।"

आशीर्वाद देते हुए भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "सनातन! तुम जो कुछ भी लिखने की इच्छा करोगे, कृष्णकृपा से वह स्वयं तुम्हारे इच्छानुसार तुम्हारे हृदय में स्फुरित हो जाएगा। फिर भी, सूत्ररूप में मैं तुम्हें दिग्दर्शन कराता हूँ। सर्वप्रथम गुरु-आश्रय है। यही साधना का श्रीगणेश है।" महाप्रभु ने श्रीसनातन से गुरु और शिष्य के लक्षण लिखने को कहा। पद्मपुराण में भक्त के इन लक्षणों का वर्णन है— ब्राह्मण और भक्त के सब लक्षणों से युक्त पुरुष सारी जाति के मनुष्यों का गुरु होने के योग्य है। ऐसे भक्त-गुरु श्रीभगवान् के समान आदरणीय हैं। कुलीन ब्राह्मण भी यदि भक्त नहीं है तो गुरु नहीं बन सकता। गुरु का ब्राह्मण-कुल में जन्मना अनिवार्य अथवा आवश्यक नहीं। गुरु में तो ब्राह्मण के गुण और कर्म की ही आवश्यकता है।

श्रीमद्भागवत में श्रीनारदजी के वर्णाश्रम-वर्णन से इसकी पुष्टि होती है।

श्रीनारदजी का निष्कर्ष है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों का विभाजन योग्यता के आधार पर है। अपनी टीका में श्रीधर स्वामी ने कहा है कि ब्राह्मणोचित योग्यता होना अनिवार्य है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा के दो महान् आचार्य (ठाकुर नरोत्तमदास तथा श्यामानन्द गोस्वामी) जन्म से ब्राह्मण नहीं थे, किन्तु गंगानारायण, रामकृष्ण आदि अनेक मान्य ब्राह्मणों ने उन्हें गुरु माना था।

इसी प्रकार कनिष्ठ अधिकारी के भी लक्षण हैं। गुरु और शिष्य दोनों एक दूसरे का परीक्षण करें। यह जानना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र सेव्य हैं। गुरु से विविध मन्त्र एवं वैष्णव गीत सीखने चाहिए।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीसनातन गोस्वामी से मन्त्र-अधिकारी के लक्षण तथा मन्त्र-ज्ञान और कर्मकाण्ड से मन्त्र-सिद्धि का वर्णन करने के लिए कहा। तत्पश्चात् दीक्षा, प्रातः कृत्य, शोधन (शौच-आचमन, दन्तधावन), सन्ध्यावन्दनादि का वर्णन किया। उन्होने गुरुसेवा, गोपी-चन्दनधारण, तुलसी-आहरण (तोड़ना), वस्त्र-पीठ-गृह-संस्कार तथा श्रीकृष्ण को जगाने की विधि का उल्लेख किया। श्रीमन्महाप्रभु ने पंच-षोडश-पंचाशत उपचार-अर्चन, पंचकाल पूजा-आरती, कृष्ण-भोग, कृष्ण-शयन, कृष्ण-तीर्थ-यात्रा एवं कृष्ण-दर्शन के प्रभाव, नाममहिमा तथा नामापराधों की व्याख्या की। श्रीकृष्ण पूजा में शंख, जल, गन्ध, पुष्प, जप, स्तुति, परिक्रमा तथा दण्डवत् वन्दन आवश्यक हैं। साधक को पुरश्चरण-विधि का पालन तथा अन्य पदार्थ त्यागकर केवल कृष्ण-प्रसाद का भोजन करना चाहिए। श्रीमहाप्रभु ने भक्त के लक्षणों से सम्पन्न वैष्णव की निन्दा का निषेध किया।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने साधु-लक्षण, साधु-संग, साधु-सेवन तथा असत्संग त्याग का विवरण सुनाया। उन्होंने श्रीमद्भागवत के नित्य श्रवण को अनिवार्य बताया। दिन-कृत्य, पक्ष-कृत्य तथा एकादशी-व्रत भी आवश्यक हैं। मासकृत्य तथा वैष्णव-व्रतोत्सव और भगवज्जयन्ती (एकादशी, कृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी, वामनद्वादशी, नृसिंह-चतुर्दशी) भी अवश्य पालनीय हैं। व्रत-दिवस-विद्ध होने पर भक्ति में विशेष सहायक होते हैं। श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन को सर्वत्र पुराण-प्रमाण प्रस्तुत करने का आदेश दिया। उन्होंने मन्दिर-स्थापन विधि, सामान्य सदाचार, वैष्णव लक्षणाचार और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी उल्लेख किया। इस प्रकार भगवान् श्रीगौर-सुन्दर महाप्रभु ने वैष्णव स्मृति के लिए सम्पूर्ण विवरणों का संक्षिप्त सूत्ररूप में वर्णन किया।

श्रीसनातन गोस्वामी श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के प्रधान भक्त थे। स्वयं महाप्रभु ने उन्हें ग्रन्थ रचकर भक्ति का प्रचार करने का आदेश दिया। श्रीचैतन्यचन्द्रोदय में श्रीसनातन गोस्वामी के वर्णन में उल्लेख है कि वे नवाब हुसैन के शासन में प्रमुख अधिकारी थे। उनके अनुज श्रील रूप गोस्वामी भी सरकारी मन्त्री थे। किन्तु वे दोनों उस आकर्षक पद को त्याग कर श्रीकृष्ण-सेवा करने को अवधूत बन गए। बाहर से दोनों भाई साधारण अवधूत प्रतीत होते, किन्तु उनका हृदय वृन्दावन के गोपाल की रागानुगा भक्तिमय सेवा और परम प्रेम से परिपूर्ण था। श्रीसनातन गोस्वामी वास्तव में अपने समय के सब शुद्ध भक्तों के प्राण-सर्वस्व थे।

अध्याय १७

स्वयं भगवान् श्रीमन्महाप्रभु कृष्णचैतन्यदेव

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी का अनुगमन करते हुए भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणारविन्द की हम सभी सादर वन्दना करते हैं—

अगत्येकगतिं नत्वा हीनार्थाधिकसाधकम्।
श्रीचैतन्यं लिख्यतेऽस्य प्रेमभक्तिवदान्यता ।।

"मैं भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की सादर वन्दना करता हूँ, जो इस जगत् में समस्त वैभवों से हीन प्राणियों के जीवन की चरम गति हैं तथा आध्यात्मिक जीवन में प्रगतिशील जीवों की एकमात्र रुचि हैं। इस प्रकार मैं उनकी प्रेमभक्ति की वदान्यता लिखता हूँ।" (चै० च०, आदि ७.१)

परम शक्तिशाली श्रीकृष्ण पञ्च शक्तियों में प्रकट होते हैं। अद्वय होने पर भी पाँच विशेष अप्राकृत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनका पञ्च रूपों में प्राकट्य होता है। अद्वैतवाद के नीरस दर्शन के विपरीत यह विविधता नित्य एवं आनन्दमय है। वैदिक साहित्यों से हमें ज्ञात है कि परम सत्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी विविध शक्तियों सहित प्रकट हुए हैं। ये शक्तियाँ संख्या में पाँच हैं; अतः श्रीचैतन्य को विविध शक्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण कहा जाता है।

जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट श्रीभगवान् एवं उनके चार पार्षद गण— श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैत प्रभु, श्रीगदाधर तथा श्रीवास एकवस्तु हैं। अवतार, विस्तार (स्वरूप) एवं शक्तियों के रूप में परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के इन पाँच प्रकाशों में तत्त्वतः कोई अप्राकृत भेद नहीं है। ये पाँचों एक ही अद्वय सत्य हैं। परम सत्य में अप्राकृत रस का आस्वादन करने हेतु ये पञ्चविध प्रकाश हैं तथा इन्हें भक्त-रूप, भक्त-स्वरूप, भक्त-अवतार, भक्त-शक्ति एवं साक्षात् विशुद्ध भक्ति (भक्त) कहा जाता है।

परम सत्य के इन पाँच प्रकाशों में भगवान् श्रीचैतन्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भक्त-स्वरूप के भेष में श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु, परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रथम प्रकाश हैं। उसी प्रकार श्रीअद्वैत प्रभु, भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार हैं। ये तीनों विष्णु-तत्त्व हैं अर्थात् भगवत्-तत्त्व की श्रेणी में आते हैं। श्रीवास और श्रीगदाधर शुद्ध भक्त एवं श्रीभगवान् की अन्तरंगा शक्ति के प्रतीक हैं। यह अन्तरंगा शक्ति विशुद्ध भक्ति में प्रगति करने का कारण है। अत: विष्णु-तत्त्व के अन्तर्गत होने पर भी श्रीवास एवं श्रीगदाधर भगवान् पर आश्रित विविध शक्तियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, वे शक्तिमान् से भिन्न नहीं हैं, किन्तु अप्राकृत रसास्वादन करने के लिए उनका पृथक् प्रकाश हुआ है। भक्ति की सम्पूर्ण पद्धति ही आराध्य तथा आराधक में परस्पर अप्राकृत प्रेम का रसास्वादन है। विविध अप्राकृत रसों के आस्वादन से शून्य भक्ति का कोई अर्थ नहीं है।

वैदिक शास्त्र (कठोपनिषद्) में एक श्लोक है जिसमें कहा गया है कि श्रीभगवान् चेतन जीवों में परम चेतन हैं। जीवात्मा असंख्य हैं, परन्तु एक परम चेतन है, जो भगवान् हैं। उस एक परम चेतन पुरुष तथा बहुसंख्यक जीवात्माओं में भेद यह है कि एक परम चेतन पुरुष सब के स्वामी हैं। भगवान् श्रीचैतन्य वही परम चेतन पुरुष हैं जो पतित जीवों के उद्धार के लिए अवतरित हुए हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ ही काल पूर्व हुए श्रीचैतन्यदेव के अवतार का विशेष प्रयोजन इस वैदिक सत्य की स्थापना करना था कि असंख्य जीवों के ईश्वर तथा पालक एकमात्र परतत्त्व स्वयं भगवान् हैं। मायावादी अर्थात् निराकारवादी दार्शनिक इसे नहीं समझ सकते, अत: जन-साधारण को श्रीभगवान् एवं जीव के नित्य सम्बन्ध-तत्त्व के वास्तविक ज्ञान का बोध कराने के लिए भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्वयं अवतार लिया।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम उपदेश यही है कि प्रत्येक जीव अन्य समस्त कार्य छोड़ कर उनकी भक्ति करे। परन्तु, भगवान् के अप्रकट हो जाने के पश्चात् अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों को उनके उपदेश में भ्रम हो गया। वे लोग मायावाद से दूषित हो गए, जिससे इतने अधिक मनोधर्मी उत्पन्न हुए कि परम सत्य तथा जीव की वास्तविक स्थिति का विस्मरण हो गया। इस कारण, भगवान् श्रीचैतन्य, जो यद्यपि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, इस संसार के पतित जीवों को यह शिक्षा देने के लिए पुन: प्रकट हुए कि भगवान् श्रीकृष्ण को कैसे प्राप्त किया जाय। भगवद्गीता

का दर्शन है कि सब कुछ त्याग कर विषयासक्ति के इस संसार में अनासक्त होकर रहो। विशुद्ध श्रीकृष्ण-भक्त में एवं जो भगवान् श्रीचैतन्य के दर्शन का अनुसरण कर रहे हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। श्रीचैतन्यदेव का दर्शन है: व्यक्ति को सर्व पदार्थों का परित्याग कर भगवान् अर्थात् श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए। अन्तर यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने, परम-ईश्वर के रूप में यही वचनामृत, स्वयं के लिए संकेत करते हुए कहा था, किन्तु, मायावादियों ने भगवान् को गलत समझा और श्रीकृष्ण-तत्त्व को न जान सके। अतएव भगवान् श्रीचैतन्य ने उसी श्रीकृष्ण-उपदेश का पुनः संकेत किया। अपने को भगवान् श्रीकृष्ण के समान घोषित न कर, जीव को श्रीकृष्ण का परम-ईश्वर के रूप में, भजन करना चाहिए।

भगवान् श्रीचैतन्य को बद्ध जीव मान लेना हमारी भारी भूल है। वे परम सत्य स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। अतः श्रीचैतन्यचरितामृत में भगवान् श्रीचैतन्यदेव के विषय में कहा गया है— "श्रीकृष्ण अब अपने पञ्चविध प्रकाश के रूप में प्रकट हैं", जैसा कि यहाँ व्याख्या की जा रही है। जब तक व्यक्ति विशुद्ध सत्त्व में स्थित न हो तब तक श्रीकृष्णचैतन्यदेव को स्वयं-भगवान् समझ पाना अत्यन्त ही कठिन है। अतः भगवान् श्रीचैतन्य को समझने के लिए, स्वयं श्रीचैतन्यदेव के सीधे शिष्य—छह गोस्वामी गण विशेषतः श्रील जीव गोस्वामी द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुगमन करना होगा।

सर्वाधिक आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण होते हुए भी भगवान् श्रीगौरसुन्दर (श्रीचैतन्य) ने कभी भी स्वयं को श्रीकृष्ण नहीं कहा। वरन् जब भी बुद्धिमान् भक्तों ने पहचान कर उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण सम्बोधित किया तो उन्होंने इसको अस्वीकार कर दिया। और कभी-कभी तो जीव को परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण कहने का विरोध करते हुए भगवान् श्रीचैतन्य ने अपने कानों तक को बन्द कर लिया। परोक्ष रूप में उन्होंने यह मायावादियों को शिक्षा दी कि स्वयं को कदापि मिथ्या ही परम-ईश्वर मानकर अनुयायियों को भ्रमित नहीं करना चाहिए। साथ ही, अनुयायी गण भी जिस किसी को ही भगवान् मान लेने की मूर्खता न कर बैठें। तथाकथित भगवान् बन जाने वाले जीव का शास्त्र एवं उसके कर्मों के आधार पर परीक्षण करना आवश्यक है, किन्तु कोई भगवान् श्रीचैतन्य एवं उनके पञ्च-प्रकाश को साधारण मनुष्य समझने की भूल कभी न करे। श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीचैतन्यदेव

की मधुरता तो यही है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण होने पर भी समस्त बद्ध जीवों को शिक्षा देने के लिए वे परम भक्त के रूप में प्रकट हुए। अतः भक्ति में रुचिशील बद्ध जीवों को भगवान् श्रीचैतन्य के आदर्श पद चिह्नों का अनुगमन करना चाहिए, जिससे लोग यह सीख सकें कि भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, श्रीचैतन्य रूप में परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण बद्ध जीवों को स्वयं यह शिक्षा प्रदान करते हैं कि भक्ति के द्वारा उन्हें कैसे प्राप्त किया जाय।

परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के पञ्चविध प्रकाश का विश्लेषणपूर्वक अध्ययन से हम जानते हैं कि भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु परतत्त्व हैं। श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु उन परतत्त्व के प्रथम प्रकाश हैं। हम समझ सकते हैं कि श्रीअद्वैत प्रभु भी भगवत्-तत्त्व की श्रेणी में हैं, पर वे श्रीचैतन्यदेव तथा श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु के अधीन हैं। ये तीन तत्त्व, अन्य दो तत्त्वों—अन्तरंगा एवं तटस्था शक्ति के प्रतीक के आराध्य हैं। अन्तरंगा शक्ति के प्रकाश श्रीगदाधर हैं। तटस्था शक्ति के प्रकाश के प्रतीक हैं—श्रीवास के नेतृत्त्व में शुद्ध भक्त गण। ये दो तत्त्व अन्य तीन तत्त्वों के आराधक हैं, परन्तु चारों तत्त्व—दो आराध्य एवं दो आराधक—ये सभी स्वयं भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की अप्राकृत प्रेममयी सेवा में संलग्न हैं।

शुद्ध भक्त एवं अन्तरंग भक्त में एक विशेष अन्तर है। भगवान् की विविध शक्तियाँ भिन्न-भिन्न अप्राकृत सम्बन्धों में, भगवान् की सेवा में लगी हैं। वे माधुर्य, वात्सल्य, सख्य एवं दास्य भाव में स्थित हैं। निष्पक्ष निर्णय से यह ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण से मधुर भाव में संलग्न अन्तरंगा शक्तियाँ सर्वोत्तम भक्त हैं। इस प्रकार अन्तरंग एवं विश्वासपात्र भक्त भगवान् की मधुर रति के द्वारा आकर्षित होते हैं और वे भगवान् श्रीचैतन्य के सर्वाधिक अन्तरंग भक्त हैं। अन्य भक्त जन, जो श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैत प्रभु में आसक्त रहते हैं, वे वात्सल्य, सख्य तथा दास्य रति के द्वारा आकर्षित होते हैं। श्रीचैतन्यदेव की लीलाओं में अत्यधिक अनुरक्त होने पर, तत्काल ये भक्त भी परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर रति वाले अन्तरंग भक्त बन जाते हैं।

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिष्य-परम्परा के एक महान् भक्त एवं आचार्य श्रील नरोत्तम दास ठाकुर का एक अतिशय मधुर भजन है—
"श्रीगौरांग के नामोच्चारण से मेरे शरीर में दिव्य रोमाञ्च कब होगा? 'हरि-हरि' कहने मात्र से मेरे नेत्रों में अविरल अश्रु-प्रवाह कब होगा?

तब श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु मुझ पर कृपा करेंगे तथा समस्त विषय वासनाएँ मुझे कब तुच्छ प्रतीत होंगी? विषय-भोग को छोड़कर कब मेरा मन शुद्ध हो पाएगा एवं कब मुझे अप्राकृत धाम श्रीवृन्दावन का दर्शन होगा? कब मैं छह गोस्वामी वृन्दों का आश्रय लेने के लिए अधीर होऊँगा? तथा श्रीराधा-कृष्ण की युगल प्रीति समझने के कब योग्य हो सकूँगा?'' दूसरे शब्दों में, श्रीवृन्दावन के छह गोस्वामियों के अनुगत होकर संयम का प्रशिक्षण लेने के पूर्व, किसी को भी श्रीकृष्ण की मधुर रति को समझने के लिए आतुर नहीं रहना चाहिए। भगवान् श्री श्रीगौरांग महाप्रभु द्वारा उद्घाटित किया गया यह संकीर्त्तन आन्दोलन उनकी एक अप्राकृत लीला है— ''इस प्रकार संसार में इस आन्दोलन का प्रचार करने एवं साथ ही साथ इसे लोकप्रिय बनाने के लिए मैं विद्यमान रह सकूँ।'' भगवान् श्रीचैतन्य के इस संकीर्त्तन आन्दोलन में श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैत प्रभु उनके प्रकाश हैं और श्रीगदाधर तथा श्रीवास अन्तरंगा एवं तटस्था शक्ति हैं। जीवों को तटस्था शक्ति कहते हैं, क्योंकि शक्ति होने के कारण उनमें दो प्रवृत्तियाँ हैं—श्रीकृष्ण के शरणागत होना और परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से स्वाधीन बनना। विषय-वासना में रुचि के फलस्वरूप जीव भवरोग में बद्ध हो जाता है और त्रितापों से पीड़ित होता है। इस विषय में एक सुन्दर उदाहरण है। यह विषय-भोग की इच्छा भूमि में बोए हुए एक बीज के समान है। अधिक जल सींचने पर बीज के फलने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। उसी प्रकार जीवात्मा के हृदय में विषय-वासना का बीज रहते हुए भी श्रीकृष्ण-प्रेममय अप्राकृत क्रियाओं की बाढ़ से वह बीज निष्क्रिय बन जाता है। इस प्रकार वह विषय-भोग परायण जीवन में फलित नहीं होता। संसार के बद्ध जीव, विशेषतः इस कलिकाल में, भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु तथा उनके पार्षदों द्वारा उद्घाटन की गई श्रीकृष्ण-प्रेमरूपी इस बाढ़ के वशीभूत हो ही जाते हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती रचित श्रीचैतन्यचन्द्रामृत में उल्लेख है कि विषयी लोग अपने परिवार, पुत्र, स्त्री आदि के पालन में अत्यन्त व्यस्त हैं; ऐसे भी अनेक ज्ञानमार्गी हैं जो संसार से मुक्ति की इच्छा रखते हैं तथा इसलिए नाना प्रकार के तपादि करते हैं। किन्तु जिनको श्रीचैतन्यचन्द्र के संकीर्त्तन यज्ञ में दिव्य परमरसामृत प्राप्त हो चुका है, वे इन क्रियाओं में कोई रस नहीं लेते।

भगवत्स्वरूप तथा भगवद्भक्ति में जिन्हें सांसारिक दूषण का भ्रम है,

वे मायावादी कहलाते हैं। उसकी असद् धारणा के अनुसार सारे प्राकृत प्रकाश में एकमात्र ब्रह्म का ही अस्तित्त्व है। भगवान् का विषय छिड़ते ही वे समझते हैं कि उनका स्वरूप मायिक है। ऐसे लोग सब भगवत्-अवतारों को माया-दूषित मानते हैं। उनके अनुसार जीवात्मा के व्यक्तित्त्व को अभिव्यक्त करने वाली सब प्राकृत देह तथा जड़ क्रियाएँ प्राकृत प्रकाश हैं। वे मुक्ति का अर्थ शुद्ध जीव स्वरूप का अन्त होना मानते हैं। मायावादी कहते हैं कि मुक्त होने पर जीव निराकार ब्रह्म से एक हो जाता है। इस मायावाद के अनुसार, श्रीभगवान्, भगवद्धाम, भगवद्भक्ति तथा भावुक भगवद्भक्त, सभी माया के अधीन होने से बद्ध हैं। श्रीभगवान्, भगवद्धाम, भगवद्भक्ति तथा भक्तों के अलौकिक तत्त्व-स्वरूप को न जानने वाले इन्हें माया का कार्य मानते हैं। जो इनकी अलौकिकता को तर्कास्पद मानता है, वह संशयात्मा है और जो इनकी निन्दा करता है, वह नास्तिक कहलाता है। श्री श्रीगौरांग देव सब प्रकार के संशयात्मा, नास्तिक और अश्रद्धालुओं को स्वीकार कर कृष्णप्रेम की बाढ़ में निमग्न करना चाहते थे। इन सब का आकर्षण करने के लिए ही उन्होंने संन्यास ग्रहण किया।

श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर चैतन्यदेव चौबीस वर्ष तक गृहस्थ रहे; जीवन के पच्चीसवें वर्ष में उन्होंने संन्यास ले लिया। संन्यासी हो जाने पर उन्होंने कितने ही अन्य संन्यासी आकृष्ट किए। गृहस्थ रूप में उनके संकीर्त्तन-यज्ञ-प्रचार की अनेक मायावादी संन्यासी उपेक्षा कर रहे थे। किन्तु संन्यास ले लेने पर भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने उन सभी ज्ञानमार्गी, नास्तिक, सकाम कर्मी तथा व्यर्थ निन्दकों का उद्धार कर दिया। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु इतने कृपामय हैं कि ऐसे सब जनों को अंगीकार कर उन्हें जीवन का सर्वस्व कृष्ण-प्रेम प्रदान किया।

बद्ध जीवों को प्रेम प्रदान करने के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रीचैतन्य-देव ने कृष्णप्रेम को न चाहने वालों को आकर्षित करने के लिए अनेक युक्तियों से काम लिया। उनके संन्यास ले लेने पर सब संशयात्मा, निन्दक, नास्तिक तथा ज्ञानमार्गी उनके शिष्य एवं अनुगामी हो गए। अहिन्दू तथा वेद विरुद्ध मार्गावलम्बियों ने भी श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर को परम शिक्षक माना। एकमात्र काशी के मायावादी संन्यासियों ने ही श्री श्रीगौरांग की कृपा स्वीकार नहीं की। इन मायावादियों की दुर्दशा का श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने वर्णन किया है— "काशी के मायावादी अधिक बुद्धिमान् नहीं थे, क्योंकि वे प्रत्येक तथ्य का निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार

पर करते थे। किन्तु कोई भी अनुभव मानसिक अनुमानमात्र है। परतत्त्व अप्राकृत है; परन्तु उनके अनुसार अप्राकृत तत्त्व में वैचित्र्य का अभाव है। उनके मत में विविधता वाली सब वस्तु माया है।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय सारनाथ में मायावादी नामक एक दूसरे निराकारवादी भी थे। काशी के निकट सारनाथ बौद्ध दार्शनिकों का निवास था। आज तक वहाँ अनेक बौद्ध-स्तूप विद्यमान हैं। सारनाथ के मायावादी निराकार ब्रह्म के उपासकों से भिन्न हैं। सारनाथी मायावादियों के अनुसार अप्राकृत तत्त्व का कोई अस्तित्त्व ही नहीं है। सत्य तो यह है कि काशी तथा सारनाथी दोनों प्रकार के मायावादी माया-बद्ध हैं, दोनों में से कोई भी परतत्त्व को नहीं जानता। काशी के मायावादी बाह्य दृष्टि से वैदिक सिद्धान्त मानते हुए अपने को योगी तो बताते हैं, परन्तु चिद्विलास को नहीं मानते। भक्ति-ज्ञान-विहीन होने से वे अभक्त अथवा कृष्णभक्ति-विरोधी कहे जाते हैं।

निराकारवादी भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों के विषय में तर्क करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर उनका परीक्षण करते हैं। परन्तु श्रीभगवान्, भगवद्भक्त तथा भगवद्भक्ति अपरोक्ष प्रमाण के विषय नहीं हैं। भाव यह है कि चिद्विलास से अपरिचित होने के कारण मायावादी संकीर्त्तन-यज्ञ का संचालन करने के लिए श्री श्रीगौरांग महाप्रभु की निन्दा किया करते थे। केशव भारती से संन्यास लिए हुए श्रीमहाप्रभु को देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ, क्योंकि केशव भारती मायावादी सम्प्रदाय में थे। श्रीचैतन्यदेव गौरसुन्दर भी इस प्रकार मायावादी संन्यास सम्प्रदायी ही हुए। अतएव वेदान्त के पारम्परिक अध्ययन के स्थान पर उन्हें कीर्त्तन-नृत्य करते देख कर मायावादी विस्मित हुए। मायावादी वेदान्त-प्रिय हैं। अपने मत के अनुसार वे उसके अर्थ का अनर्थ करते हैं। अपने इस भ्रम को समझने के स्थान पर उन्होंने भगवान् श्री श्रीचैतन्य महाप्रभु को अप्रामाणिक संन्यासी कह कर उनकी निन्दा की। उनका तर्क था कि भावुक होने के कारण श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु वास्तव में यथार्थ संन्यासी नहीं थे।

काशी-निवास के समय श्रीगौरसुन्दर प्रभु ने अपनी यह सब निन्दा सुनी, किन्तु वे बिल्कुल भी आश्चर्य-चकित नहीं हुए। यह सब सुन कर वे मुस्कराते, उन्होंने मायावादियों का संग नहीं किया, एकान्त में अपना कार्य करते रहे। काशी में कुछ दिन रह कर भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु मथुरा की ओर चल पड़े।

अध्याय १८

श्रीप्रकाशानन्द से वार्तालाप (१)

मायावादी संन्यासियों के मत में गान, नृत्य तथा वाद्यवादन का कड़ा निषेध है, इन्हें पापकर्म माना जाता है। मायावादी संन्यासी से केवल वेदान्त-अध्ययन करने की अपेक्षा की जाती है। इसलिए जब काशी के मायावादी संन्यासियों ने देखा कि श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर गान, नृत्य, वाद्य-ध्वनि तथा **हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे**—मन्त्र के निरन्तर कीर्त्तन में संलग्न हैं, तो उन्होंने निश्चय किया कि वे शिक्षित नहीं हैं और भावुकतावश अपने अनुगामियों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। शंकराचार्य की आज्ञा है कि संन्यासी सदा वेदान्त-अध्ययन करता हुआ केवल कौपीन-धारण में सन्तुष्ट रहे। श्रीगौरांगदेव ने विधिपूर्वक कभी वेदान्त का अध्ययन नहीं किया और न ही नाचना-गाना छोड़ा, इसलिए काशी के सब संन्यासी और उनके गृहस्थ शिष्य श्रीमहाप्रभु गौरसुन्दर की निन्दा करने लगे।

जब श्रीमहाप्रभु ने अपने शिष्यों तथा अनुगामियों से यह समाचार सुना, तो वे मुस्कराए, फिर वृन्दावन को चल पड़े। मथुरा से पुरी जाते हुए पुनः काशी आने पर वे श्रीचन्द्रशेखर के घर पधारे। श्रीचन्द्रशेखर मुंशी होने के कारण शूद्र माने जाते थे। ऐसा होने पर भी श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने वहाँ निवास किया। श्रीमहाप्रभु ने ब्राह्मण और शूद्र में कभी भेदभाव नहीं किया; भक्त होने पर उन्होंने जीवमात्र को सदा स्वीकार किया। प्रचलित रीति के अनुसार संन्यासी को ब्राह्मण-गृह में ही निवास और भोजन करना चाहिए था। परन्तु स्वतन्त्र ईश्वर भगवान् गौरसुन्दर ने अपनी श्रीइच्छा-नुसार चन्द्रशेखर के घर निवास करने का निश्चय किया।

उन दिनों अपनी ब्राह्मण-परम्परा का दुरुपयोग करके ब्राह्मणों ने यह नियम बना दिया था कि जिसका जन्म ब्राह्मण कुल में न हुआ हो, वह

शूद्र है। यहाँ तक कि क्षत्रिय-वैश्य तक शूद्र माने जाते थे। ब्राह्मण पिता तथा शूद्रा माता से उत्पन्न होने से वैश्यों को भी कभी-कभी शूद्र कह दिया जाता था। इसी कारण वैश्यकुल में उत्पन्न होने पर भी श्रीचन्द्रशेखर को काशी में शूद्र कहा जाता था। काशीवास के काल में श्रीमहाप्रभु ने श्रीचन्द्र-शेखर के निवास पर रहकर श्रीतपन मिश्र के घर भिक्षा ग्रहण की।

श्रीसनातन गोस्वामी ने काशी में ही भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का दर्शन कर के दो मास तक निरन्तर प्राप्त शिक्षा में भक्ति की पद्धति एवं सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया। श्रीसनातन को श्रीमहाप्रभु द्वारा दी गई शिक्षा का वर्णन इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में किया जा चुका है। शिक्षा-ग्रहण कर श्रीसनातन गोस्वामी भक्ति तथा श्रीमद्भागवत के प्रामाणिक प्रचार में समर्थ हो गए। इस समय श्रीमहाप्रभु की निन्दा से श्रीचन्द्रशेखर और श्रीतपन मिश्र अत्यन्त शोकाकुल थे। अतएव दोनों ने एक साथ महाप्रभु से मायावादी संन्यासियों से मिलने की प्रार्थना की।

"प्रभो! मायावादी संन्यासियों की आपके विरुद्ध निन्दा सुनकर हम मरणासन्न हो गए हैं," उन्होंने श्रीमहाप्रभु से कहा— "अब हमारे लिए यह असह्य है।" इस प्रकार अपनी निन्दा को रोकने के लिए उन्होंने श्रीमहाप्रभु से निवेदन किया। इसी समय एक ब्राह्मण श्रीमन्महाप्रभु को अपने घर निमन्त्रित करने आया। श्रीमहाप्रभु के अतिरिक्त अन्य सब संन्यासियों को निमंत्रित करके वह श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु को निमन्त्रित करने आया था। वह जानता था कि श्रीमहाप्रभु मायावादी संन्यासियों का संग नहीं करते। अत: महाप्रभु के चरणों में प्रणाम करके उसने प्रार्थना की, "प्रभो! मैं जानता हूँ कि आप ऐसे निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते, फिर भी मैं आपसे अन्य संन्यासियों के साथ अपने घर प्रसाद-ग्रहण की भिक्षा माँगता हूँ। यदि आप मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर लें, तो मैं अपने पर आपका विशेष अनुग्रह मानूँगा।"

श्रीमन्महाप्रभु ने मायावादियों के उद्धार के लिए यह निमन्त्रण स्वीकार किया। वास्तव में यह स्वयं भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की योजना थी। यह जानते हुए भी कि श्रीमहाप्रभु को कोई निमन्त्रण स्वीकार नहीं, वह ब्राह्मण उन्हें निमन्त्रित करने को अत्यन्त इच्छुक था।

दूसरे दिन श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर उस ब्राह्मण के घर पधारे। उन्होंने देखा कि मायावादी संन्यासी वहाँ पहले से उपस्थित हैं। प्रथानुसार संन्यासी वृन्द को प्रणाम करके श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु चरण धोने चले गए। चरण धोकर वे उसी स्थान पर, संन्यासीवृन्द से कुछ दूर बैठ गए। उनके

इस प्रकार वहाँ बैठने पर संन्यासियों को उनका श्रीविग्रह महाज्योतिर्मय प्रतीत हुआ। उस तेज से आकृष्ट होकर सब संन्यासियों ने खड़े होकर उनका अभिनन्दन किया। उनमें श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती नामक संन्यासी भी थे। वे अद्वैतवादी संन्यासियों में प्रमुख थे। उन्होंने अत्यन्त नम्रतापूर्वक श्रीगौर-सुन्दर महाप्रभु से अपने मध्य आकर बैठने की प्रार्थना की।

"श्रीपाद, आप उस अपवित्र स्थान में क्यों बैठ गए?" श्रीप्रकाशानन्द ने पूछा। "कृपया यहाँ आकर हमारे साथ बैठिए।"

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा, "मैं एक हीन सम्प्रदायी संन्यासी हूँ। अतः अपने को आपके साथ बैठने के योग्य नहीं समझता। मुझे यहीं रहने दीजिए।"

इतने महान् विद्वान् के मुख से यह दीन वचन सुनकर श्री प्रकाशानन्द को आश्चर्य हुआ, श्रीगौरसुन्दर का हाथ पकड़कर उनसे अपने मध्य विराजने की प्रार्थना की। इस प्रकार अपने मध्य श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के विराजित हो जाने पर, श्रीप्रकाशानन्द ने कहा, "आपका नाम श्रीकृष्णचैतन्य है। आपने शंकराचार्य सम्प्रदायी केशव भारती से संन्यास लिया है।"

शंकराचार्य सम्प्रदायानुसार संन्यासियों के दस भिन्न-भिन्न नाम हैं। उनमें से तीर्थ, आश्रम और सरस्वती—ये तीन नाम सर्वाधिक प्रबुद्ध तथा विद्वान् संन्यासियों को दिए जाते हैं। वैष्णव स्वभाव के अनुरूप श्रीमहाप्रभु परम विनयी एवं दीन थे। अतः सरस्वती सम्प्रदायी प्रकाशानन्द को वे उच्चासन देना चाहते थे। शांकर मतानुसार भारती सम्प्रदाय का ब्रह्मचारी चैतन्य कहलाता है। किन्तु संन्यास लेने पर भी श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने अपना ब्रह्मचारी-आश्रम का नाम ही रखा, भारती उपाधि ग्रहण नहीं की।

श्रीप्रकाशानन्द ने आगे कहा, "श्रीपाद! आप शांकर सम्प्रदायी होकर काशी में अवस्थित हैं— फिर हमसे मिलते क्यों नहीं? इसका क्या कारण है? तथा संन्यासी होने के कारण आपसे वेदान्त-अध्ययन अपेक्षित है। किन्तु इसके विरुद्ध हम देखते हैं कि आप सदा गान, नृत्य, कीर्त्तन और संगीत में ही व्यस्त रहते हैं। इसका क्या कारण है? ये तो भावुक हृदय-प्रधान लोगों के कर्म हैं। आप तो योग्य संन्यासी हैं। आप वेदान्तपाठ क्यों नहीं करते? अपने प्रभाव से आप हमें साक्षात् नारायण प्रतीत होते हैं, किन्तु व्यवहार से वैसे नहीं जान पड़ते। अतः आपके ऐसे आचरण का कारण जानने के हम बड़े जिज्ञासु हैं।"

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "श्रीपाद! मेरे गुरु मुझे महामूर्ख समझते थे। मेरा अनुशासन करते हुए उन्होंने कहा कि मुझ मूर्ख का वेदान्त

में अधिकार नहीं है। इसके स्थान पर उन्होंने मुझे **"हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** मन्त्र के जप का आदेश दिया।" मेरे गुरुदेव ने कहा, "इस हरे कृष्ण महामन्त्र का सदा जप करने से तुम पूर्ण सिद्ध हो जाओगे।"

यथार्थ में श्रीगौरांगदेव न तो मूर्ख थे और न वेदान्त के अज्ञानी थे। वे तो वास्तव में आधुनिक जगत् को यह शिक्षा देना चाहते थे कि तप-त्याग से शून्य मूर्खों को मनोरंजन के उद्देश्य से वेदान्तपाठ नहीं करना चाहिए। अपने शिक्षाष्टक में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा है कि वैष्णव को विनम्र मनोभाव के साथ अपने को मार्ग में पड़े तृण से भी नीच समझना चाहिए, पेड़ से अधिक सहनशील तथा मानशून्य होकर दूसरों को सब मान देना चाहिए। ऐसी मनःस्थिति में निरन्तर वेदान्तपाठ अथवा नामकीर्त्तन सम्भव है। भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु यह भी दिखाना चाहते थे कि यथार्थ साधक के लिए गुरु आज्ञा का पालन अनिवार्य है। गुरु की धारणा में श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर मूर्ख थे। अतः उन्होंने श्रीगौरसुन्दर को वेदान्त न पढ़ाकर निरन्तर हरे कृष्ण महामन्त्र के जप की आज्ञा दी। श्रीमहाप्रभु ने भी पूर्ण दृढ़ता से इस आज्ञा का पालन किया। अपने उदाहरण से भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने मायावादियों को समझाया कि गुरु-आज्ञा का पालन अत्यन्त दृढ़तापूर्वक करना चाहिए। ऐसा करने से पूर्ण सिद्धि हो जाती है।

वेदान्त निर्देश करता है कि वैदिक ज्ञान का परम लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण का ज्ञान है **(वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्)**। "सम्पूर्ण वेद से मैं जाना जाता हूँ। मैं ही यथार्थ में वेद का रचयिता तथा वेद को जानने वाला हूँ।" गीता (१५.१५)। वेदान्त का वास्तविक ज्ञाता भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को जान जाता है। श्रीकृष्ण को जानने वाला सर्वज्ञ हो जाता है और निरन्तर श्रीकृष्ण की रागानुगा सेवा करता है। स्वयं श्रीश्यामसुन्दर ने गीता (१०.८) में इसकी पुष्टि की है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं प्राकृत जगत् एवं वैकुण्ठ जगत् दोनों का कारण हूँ। मुझसे ही सब कुछ उत्पन्न होता है। इस प्रकार तत्त्व से समझकर बुद्धिमान् भक्त जन श्रद्धा और भक्ति के साथ निरन्तर मेरा भजन करते हैं।"

जीव का श्रीकृष्ण से नित्य दास के रूप में सम्बन्ध है। उस सेवा के

अभाव में अर्थात् कृष्णभावनाभावित न होने पर, यह समझना चाहिए कि वेदान्त पाठ पर्याप्त नहीं है। श्रीकृष्ण को न समझने अथवा उनकी प्रेम सेवा न करने वाले को वेदान्त-अध्ययन तथा श्रीभगवान् के ज्ञान का विरोधी समझना चाहिए। श्रीमन्महाप्रभु ने वेदान्त का जो मार्ग दिखाया है वह सब के लिए अनुसरणीय है। नाममात्र की शिक्षा का अभिमानी नम्रताशून्य मनुष्य गुरु शरणापन्न नहीं होता। वह समझता है कि उसे गुरु की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अपने ही प्रयत्न से वह परम सिद्ध हो जाएगा। ऐसे लोग वेदान्त-सूत्र के अध्ययन के अनधिकारी हैं। माया मोहित जीव गुरु परम्परा की शिक्षा न मानकर स्वयं कुछ निर्माण करने का प्रयत्न करते हुए वेदाध्ययन के क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं। सद्गुरु को ऐसे मनोधर्मियों की सदा निन्दा करनी चाहिए। यदि सद्गुरु स्वयं शिष्य को उसकी मूर्खता बताए तो उसका कोई और अर्थ नहीं लगाना चाहिए।

भगवत्-ज्ञान शून्य को विद्वान् नहीं कहा जा सकता। कृष्णभावना विहीन सब मनुष्य तारतम्य से मूर्ख हैं। कभी-कभी हम ऐसे व्यक्ति को गुरु बना बैठते हैं जो प्रायः गुरुत्व की योग्यता न रखता हो। वेद-वन्दित-चरणारविन्द श्रीभगवान् का ज्ञान प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य है। उनको न समझकर वेदान्त के मिथ्या ज्ञान का अभिमान करने वाला वास्तव में मूर्ख है। बौद्धिक ज्ञान के लिए लौकिक प्रयत्न करना भी मूर्खता है। जब तक कोई इस सृष्टि को गुणत्रय का कार्य नहीं समझ लेता, तब तक वह अवश्य ही मोह-ग्रस्त हुआ संसार के द्वन्द्व में बंधा रहता है। वेदान्त का पूर्ण ज्ञाता जगपालक श्रीभगवान् का सेवक बन जाता है। ससीम की सेवा को न लांघने तक वह वेदान्त का ज्ञानी नहीं हो सकता।

जब तक जीव सकाम कर्म में बंधा हुआ है अथवा मनोधर्म करता है, वेदान्तसूत्र के पुस्तकीय ज्ञान का अध्ययन-अध्यापन कर सकने पर भी तब तक वह '**हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे**' महामन्त्र के परम नित्य और अलौकिक शब्द को नहीं समझ सकता। हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्त्तन में सिद्ध हुए भक्त को अलग से वेदान्तसूत्र का अध्ययन नहीं करना पड़ता। परमगुरु श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर के उपदेश के अनुसार, श्रीभगवन्नाम को श्रीभगवान से अभिन्न समझे बिना मायावादी दार्शनिक अथवा वेदान्तसूत्र के ज्ञाता बनने का प्रयास करने वाले सारे व्यक्ति मूर्ख हैं। वेदान्तसूत्र का अपने आप अध्ययन करने का प्रयत्न भी मूर्खता का चिह्न है। किन्तु नामकीर्त्तन में आसक्त भक्त को

वास्तव में वेदान्त के परम निष्कर्ष की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत के दो श्लोक बड़े शिक्षाप्रद हैं। पहले श्लोक का तात्पर्य है कि यदि कोई नीच जाति का मनुष्य भी नामकीर्त्तन करे तो समझना चाहिए कि उसने सब त्याग, तप, यज्ञ का अनुष्ठान करके ब्रह्मसूत्र का अध्ययन कर लिया है। इस प्रकार जीव मात्र **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** मन्त्र का कीर्त्तन कर सकता है। द्वितीय श्लोक का तात्पर्य है कि जो 'हरि' इन दो वर्णों का उच्चारण करता है, उसने सम्पूर्ण वेद (ऋक्, साम, यजुः, तथा अथर्व वेद) का अध्ययन कर लिया है।

इस पर भी बहुत से नाममात्र के भक्त समझते हैं कि वेदान्त भक्तों के लिए नहीं है। ऐसे लोग इस सत्य से अपरिचित हैं कि शुद्ध भक्तों का स्तर वेदान्त ही है। चारों वैष्णव सम्प्रदायों के सभी महान् आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं; किन्तु प्राकृत सहजिया नामक कपटी भक्त बड़ी सावधानी से ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से बचा करते हैं। वे भ्रमवश शुद्ध भक्तों तथा आचार्यों को मनोधर्मी अथवा कर्मी समझ बैठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भगवत्सेवा त्याग कर वे स्वयं मायावादी बन जाते हैं।

बौद्धिक ज्ञान के द्वारा ब्रह्मसूत्र को समझने से शब्दब्रह्म का तत्त्व कभी नहीं समझा जा सकता। बौद्धिक ज्ञान में बँधे जीव 'मैं', 'मेरा' के विषय में भ्रमित हैं। परिणामस्वरूप वे अपना मन मायामुक्त नहीं कर पाते। वास्तविक दिव्य ज्ञानी इस द्वैत से मुक्त होकर भगवान् की प्रेममयी सेवा करता है। भगवत्सेवा सांसारिक कर्मों से मुक्ति का एकमात्र उपाय है। जो योग्य गुरु द्वारा दीक्षित होकर निरन्तर 'हरे कृष्ण' का कीर्त्तन करता है, वह क्रमशः 'मैं', 'मेरा' की धारणा से मुक्त होकर पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में भगवत् सेवा में अनुरक्त हो जाता है। ऐसी भगवत्सेवा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से नहीं हो सकती। श्रीभगवान् और भगवन्नाम को एक समझने पर ही कृष्णभावना में स्थिति होती है। उस समय व्याकरण सम्बन्धी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रहती। वरन् भगवान् से अनुनय-विनय करने में जीव की अधिक रुचि हो जाती है, "हरे कृष्ण— हे प्रभो! हे प्रभु की शक्ति! कृपया मुझे अपनी सेवा में लगाइए।"

श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने श्रीप्रकाशानन्द को समझाते हुए बताया कि उन्होंने यह सब अपने गुरु से सुना था। उन्होंने आगे सूचित किया कि उनके गुरु ने सिखाया है कि श्रीमद्भागवत ही ब्रह्मसूत्र का वास्तविक भाष्य है जैसा स्वयं ब्रह्मसूत्र के रचयिता व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत में उल्लेख किया है।

श्रीभगवान् और भगवन्नाम को एक समझने पर शिष्य पूर्ण माना जाता है। स्वरूप सिद्ध गुरुका आश्रय लिए बिना भगवत्-ज्ञान मूर्खता मात्र है। किन्तु सेवा एवं भक्ति से अलौकिक भगवान् का पूर्ण ज्ञान होना सम्भव है। **'हरे कृष्ण'** महामन्त्र के अपराधरहित कीर्त्तन को श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने बद्धजीव का अविलम्ब निस्तार बताया। इस कलियुग में महामन्त्र के अतिरिक्त कोई गति नहीं है। वैदिक ज्ञान का सार है महामन्त्र का कीर्त्तन: **हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।** श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती से आगे कहा, "इस महत्त्वपूर्ण वैदिक सत्य में विश्वास कराने के लिए मेरे गुरु ने मुझे बृहन्नारदीय पुराण के एक श्लोक की शिक्षा दी (३८.१२६) **'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥'** कलह और पाखण्ड के इस युग में मुक्ति की एकमात्र विधि हरिनाम-कीर्त्तन है। कलियुग में अन्य कोई गति नहीं है। अन्य कोई गति नहीं है। अन्य कोई भी गति नहीं है।"

सत्य, त्रेता तथा द्वापर युगों में गुरु-परम्परा के मार्ग से तत्त्वज्ञान में लोग गौरवान्वित होते थे। किन्तु वर्त्तमान कलिकाल में उनकी गुरु-परम्परा में कोई रुचि नहीं, अपितु उन्होंने तर्क-विवाद के अनेक मार्ग निर्मित कर लिए हैं। श्रीभगवान् को समझने का यह निजी पुरुषार्थ (आरोहण विधि) वेद-विरुद्ध है। परतत्त्व को अपने स्तर से नीचे अवतरित होना होगा। आरोहण से उनका ज्ञान नहीं होता। श्रीहरिनाम— **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** शब्द-ब्रह्म है, क्योंकि यह परम धाम कृष्णलोक के अलौकिक स्तर से अवतरित होता है। श्रीकृष्ण और कृष्णनाम एक होने के कारण कृष्णनाम श्रीकृष्ण के समान ही परम पवित्र, सिद्ध और मुक्त है। बुद्धिवादी तर्कादि के द्वारा कृष्णनाम के अलौकिक स्वरूप के ज्ञान में प्रवेश भी नहीं कर सकते। **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे;** महामन्त्र के अलौकिक स्वरूप-ज्ञान का एकमात्र उपाय श्रद्धा-नियम सहित इन नामों का कीर्त्तन करना है। ऐसा कीर्त्तन जीव को स्थूल और सूक्ष्म-देह में उत्पन्न उपाधियों से मुक्त कर देगा।

तर्क, विवाद और कलह के इस युग में हरे कृष्ण कीर्त्तन आत्म= साक्षात्कार का एकमात्र उपाय है। बद्धजीव की मुक्ति के एकमात्र साधन इस अलौकिक शब्दब्रह्म को वेदान्त-सूत्र का सारसर्वस्व माना गया है। देहात्मबुद्धि में किसी व्यक्ति तथा उसके नाम, रूप, गुण, भाव, क्रिया आदि में भेद रहता है।

किन्तु वैकुण्ठ जगत् धाम से अवतीर्ण होने के कारण नाम-कीर्त्तन के लिए इस सांसारिक नियम का बन्धन नहीं है। वैकुण्ठ जगत् में नाम और गुणों में अभेद है। प्राकृत जगत् में अवश्य भेद रहता है। यह तत्त्व न समझ सकने के कारण मायावादी भगवन्नाम का उच्चारण नहीं कर सकते।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीप्रकाशानन्द से कहा कि गुरु आज्ञानुसार वे **'हरे कृष्ण'** महामन्त्र का कीर्त्तन करने लगे। "इस संकीर्त्तन के प्रभाव से अधीर हुआ मैं अपने को संयमित रखने में असमर्थ होकर कभी नाचता, हँसता अथवा रोता और गाता। वस्तुतः मैं पागल सा हो गया। ऐसी अवस्था में मैंने विचार किया कि **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** के कीर्त्तन से मैं पागल तो नहीं हो गया? गुरुदेव के निकट जाकर मैंने उनसे निवेदन किया कि **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।'** कीर्त्तन ने मुझे पागल कर दिया है। इस प्रकार मैंने उनसे अपनी स्थिति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।"

'नारदपंचरात्र' में उल्लेख है:

एषो वेदः षडंगानि छन्दांसि विविधाः सुराः।
सर्वमअष्टाक्षरान्तःस्थं यच्चान्यदपि वाङ्मयम् ॥
सर्ववेदान्तसारार्थः संसारार्णवतारणः ॥

'सारे वैदिक-कर्म, मन्त्र और ज्ञान **हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।'** इन आठ शब्दों में निहित हैं: इसी प्रकार 'कलिसंतरणोपनिषद्' में उल्लेख है:

'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥
इति षोडशंकं नाम्नांकलिकल्मषनाशनं।
नातः परतरोपायः सर्व वेदेषु दृश्यते॥

"षोडश नाम— **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** विशेष रूप से कलिमलहारी हैं। कलि-दोष मुक्ति के लिए इन सोलह नामों के कीर्त्तन के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर प्रभु ने श्रीप्रकाशानन्द को सूचित किया कि गुरुदेव ने उनकी अवस्था समझ कर कहा, "परम पावन **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'**, नामों का यह अलौकिक स्वभाव है कि वे कीर्त्तन करने वाले को प्रेमोन्मत्त कर देते हैं।

निष्कपट भाव से कृष्णनाम लेने वाला अतिशीघ्र कृष्णप्रेम प्राप्त कर उससे उन्मत्त हो जाता है। यह कृष्णप्रेम जन्य उन्मत्तता मनुष्य के लिए सबसे बड़े पुरुषार्थ की सिद्धि है।"

सामान्यत: मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में रुचि रखता है, किन्तु कृष्णप्रेम इन सबसे उच्च है। प्रामाणिक गुरु भगवन्नाम का उच्चारण करते हैं— **हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे—** यह नाम-ध्वनि शिष्य के कान में प्रवेश करती है। यदि गुरु का अनुगमन कर उसी आदरभाव से शिष्य भी नाम-जप करे, तो वह वास्तव में नामोपासक बन जाता है। नामोपासना होने पर नाम स्वयं भक्त के हृदय में अपनी कीर्ति का प्राकट्य करता है। नाम-जप सिद्ध होने पर भक्त गुरु बनकर सम्पूर्ण जगत् के उद्धार में समर्थ हो जाता है। कृष्णनाम के कीर्त्तन से भक्त दिव्य प्रेम में स्थित होकर प्रेमावेश में कभी हँसता, कभी रोता और कभी नाचता है। मूर्ख लोग कभी-कभी इस महामन्त्र के कीर्त्तन में बाधा उपस्थित करते हैं, किन्तु कृष्णप्रेमी निस्संकोच सभी के लाभार्थ तुमुल नाम-कीर्त्तन कर के जीवमात्र को '**हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे**' मन्त्र के कीर्त्तन में दीक्षित करता है। कृष्णनाम के कीर्त्तन एवं श्रवण से जीव को भगवान् श्रीकृष्ण के रूप, गुण आदि का स्मरण नित्य रह सकता है।

अध्याय १६

श्रीप्रकाशानन्द से वार्तालाप (२)

श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह-स्वरूप तथा कृष्णनाम को पूर्ण रूप से एक जानने से श्रीकृष्ण में होने वाले अप्राकृत रसमय राग को 'भाव' कहते हैं। भावुक माया से दूषित नहीं हो सकता। वह भाव का आस्वादन करता है। गाढ़ होने पर यही भाव कृष्णप्रेम कहलाता है। श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती से कहा कि महामन्त्र—हरेकृष्ण—का जप कृष्णप्रेम प्राप्त कराता है। यह कृष्णप्रेम वास्तव में मानव का परम पुरुषार्थ है; धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इसकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ हैं। क्षणिक औपाधिक अस्तित्त्व का बन्दी जीव इन्द्रियतृप्ति तथा मुक्ति का अन्वेषण किया करता है। परन्तु देखा जाय तो कृष्णप्रेम ही जीव का सहज नित्य स्वभाव है। वह परिवर्तनरहित, अनादि-अनन्त है। अतः क्षणिक इन्द्रिय-तृप्ति या मोक्ष-कामना की दिव्य कृष्णप्रेम से तुलना भी नहीं हो सकती। कृष्णप्रेम को पंचम पुरुषार्थ कहा गया है। प्रेमानन्दसिन्धु की तुलना में निराकार ब्रह्म की धारणा बिन्दु जैसी तुच्छ है।

श्रीगौरसुन्दर ने बताया कि उनके गुरु ने उनकी भगवन्नाम जप से उत्पन्न रसाविष्टता को प्रमाणित कहा। उन्होंने यह भी स्पष्ट घोषणा की कि सकल वैदिक शास्त्रों का सार कृष्णप्रेम की प्राप्ति में है। गुरु ने श्रीमन्-महाप्रभु से कहा कि उन्हें कृष्णप्रेम प्राप्त हुआ है, इसलिए वे भाग्यवान् हैं। कृष्णप्रेमोदय होने से हृदय श्रीकृष्ण के लिए क्षुब्ध हो जाता है। इस दिव्योन्माद में प्रेमी कभी हँसता है, कभी रोता है, उन्मत्तवत् गाता-नाचता है तो कभी इधर-उधर दौड़ता है। इस प्रकार उसमें रुदन, वैवर्ण्य, उन्माद, विषाद, धैर्य, गर्व, हर्ष, दैन्य आदि अनेक प्रेम-लक्षण प्रकट होते हैं। कृष्णप्रेमी प्रायः नाचता है, यह नृत्य उसे कृष्णानन्दामृतसिन्धु में निमग्न कर देता है।

श्रीमन्महाप्रभु ने अपने गुरु का वचन कहा, "मुझे बहुत अच्छा हुआ कि

तुम्हें कृष्णप्रेम की परमावस्था प्राप्त हुई है। तुम्हारी प्रेम-प्राप्ति से मैं भी कृतार्थ होकर तुम्हारा अत्यन्त कृतज्ञ हो गया हूँ।" पुत्र को अपने से अधिक प्रगति करते हुए देख कर पिता के आनन्द की सीमा नहीं रहती। इसी प्रकार गुरु को अपने से अधिक शिष्य की उन्नति से आनन्द होता है। भगवान् श्रीगौर-सुन्दर महाप्रभु को आशीर्वाद देते हुए गुरु ने कहा, "भक्तों सहित नाचो गाओ, इस संकीर्त्तन-यज्ञ का प्रचार करो तथा श्रीकृष्ण-तत्त्व की शिक्षा दान कर जीवों का अविद्या से उद्धार करो। गुरु ने उन्हें श्रीमद्भागवत (११.२.४०) के इस श्लोक की शिक्षा भी दी—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

"निरन्तर कृष्णभक्ति तथा श्रीकृष्णनाम-कीर्त्तन में संलग्न भक्त का हृदय नामानुराग के कारण द्रवीभूत हो उठता है। ऐसा होने पर वह अलौकिक लक्षणों को प्रकट करता हुआ उन्मत्तवत् कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी नाचता और कभी गाता है।"

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीप्रकाशानन्द से आगे कहा, "गुरु-वचनों में दृढ़ विश्वास के साथ मैं निरन्तर **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** नामों का संकीर्त्तन करता हूँ। अपने उन्माद का कारण मैं नहीं जानता; पर मेरा विश्वास है कि कृष्णनाम का ही यह प्रभाव है। **'हरे कृष्ण'** संकीर्त्तन में मुझे आनन्द-सिन्धु का आस्वादन मिलता है। उसकी तुलना में ब्रह्मानन्द आदि अन्य सारे सुख गोष्पद के तुल्य हैं।"

श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर की वार्ता से स्पष्ट है कि जिसे गुरु-वचन में विश्वास नहीं है और जो मनोधर्मी है वह **'हरे कृष्ण'** कीर्त्तन में यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है कि श्रीभगवान् तथा गुरु में पूर्ण श्रद्धालु के लिए सब वैदिक शास्त्रों का तात्पर्य अपने-आप प्रकाशित हो जाता है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की गुरु-वचन में पूर्ण आस्था थी; संकीर्त्तन-यज्ञ को रोक कर कभी उन्होंने गुरु की अवज्ञा नहीं की। अतएव परम पवित्र हरिनाम की दिव्य शक्ति ने उन्हें **'हरे कृष्ण'** महामन्त्र के अधिकाधिक कीर्त्तन के लिए प्रेरित किया।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने प्रकाशानन्द को सूचित किया कि आधुनिक काल में लोग प्रायः भगवत्-ज्ञान-विहीन हैं। सर्वगोपनीय वेदान्तसूत्र सुनने से पूर्व ही शांकर मायावाद से प्रभावित हो जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण के अनुशासन में होने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भंग हो जाती है। सबके

परम कारण श्रीकृष्ण का स्वभावत: सभी सम्मान करते हैं; किन्तु शंकराचार्य की निराकारवादी धारणा को स्वीकार करने पर यह स्वाभाविक प्रवृत्ति बाधित हो जाती है। अत: श्रीमन्महाप्रभु के गुरु का परामर्श है कि शंकराचार्य कृत शारीरक भाष्य का पठन न करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि सामान्य लोगों के लिए वह अत्यन्त हानिप्रद है। वस्तुत: साधारण मनुष्य में तो उसके वाक्चातुर्य में प्रवेश तक करने की बुद्धि नहीं है। उसके लिए तो महामन्त्र का जप कीर्त्तन ही सब प्रकार से श्रेयप्रद है: **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।' 'हरे कृष्ण'** महामन्त्र के अतिरिक्त इस कलह-प्रधान कलिकाल में आत्म-साक्षात्कार का कोई दूसरा साधन नहीं है।

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की तर्क-वार्ता को सुन कर वहाँ उपस्थित सारे संन्यासी शान्त हो गए। वे मधुर शब्दों में कहने लगे "प्रभो! आपका कथन सर्वथा सत्य है। वास्तव में कृष्णप्रेमी परम भाग्यवान् है। निश्चय ही, उस स्थिति की प्राप्ति के कारण आप अति धन्य हैं। किन्तु वेदान्त में क्या दोष है? वेदान्त का पाठ और ज्ञान संन्यासी का कर्त्तव्य है। अत: आप वेदान्त का अध्ययन क्यों नहीं करते?"

मायावादियों के अनुसार वेदान्त का अर्थ शंकराचार्य के शारीरक भाष्य से है। मायावादी वेदान्त एवं उपनषिद् का उल्लेख सर्वोच्च मायावादी शंकराचार्य के भाष्यों को लक्ष्य करके करते हैं। शंकराचार्य के अनुवर्ती सदानन्द योगी के अनुसार वेदान्त-उपनिषद् का अध्ययन शंकराचार्य के भाष्यों के माध्यम से ही करना चाहिए। वस्तुत: यह सत्य नहीं है। वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक भाष्य शांकर-भाष्यों की अपेक्षा उत्तम माने गए हैं। फिर भी शंकराचार्य से प्रभावित मायावादी वैष्णव-ज्ञान को कुछ भी महत्त्व नहीं देते।

वैष्णव आचार्यों के चार भिन्न सम्प्रदाय हैं— शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेद। इन सम्प्रदायों के सब आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र-भाष्यों का प्रणयन किया है; किन्तु मायावादी उन्हें स्वीकार नहीं करते। मायावादी भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण के विग्रह में भेद मानते हैं, इसलिए श्रीकृष्ण की वैष्णव-उपासना उन्हें स्वीकार नहीं। अत: मायावादी संन्यासियों द्वारा वेदान्तसूत्र न पढ़ने का कारण पूछने पर श्रीमहाप्रभु ने कहा, "श्रीपाद आपने मुझसे वेदान्त न पढ़ने का कारण पूछा है। इसके उत्तर में यदि मैं कुछ कहूँ तो मुझे भय है आपको दुःख होगा।"

यह सुनकर सब संन्यासी एक साथ बोल उठे, "आपके वचनों के श्रवण

से हमें अत्यधिक आनन्दानुभूति हो रही है। आप साक्षात् नारायण प्रतीत होते हैं तथा आपके वचनों से हमें तृप्ति होती है। आपके दर्शन-श्रवण से हम कृतार्थ हो गए। अतएव आप जो कुछ कहेंगे, उसे धैर्यपूर्वक सुनकर स्वीकार करने में हमें अतिशय प्रसन्नता होगी।''

श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने वेदान्त का यह वर्णन सुनाया— वेदान्तसूत्र साक्षात् ईश्वर-वचन हैं। श्रीभगवान् ने व्यासावतार में इस महान दर्शन-ग्रन्थ का प्रणयन किया है। भगवत्-अवतार होने के कारण व्यासदेव माया-जन्य चार दोषों से युक्त साधारण मनुष्य के तुल्य नहीं हैं। बद्धजीव के दोष हैं— १) प्रमाद, २) भ्रम ३) विप्रलिप्सा तथा ४) करणापाटव (इन्द्रियों की असमर्थता)। यह स्मरणीय है कि भगवत् अवतार इन दोषों से मुक्त होते हैं। अत: श्रीव्यास-वचन सर्वथा दोषमुक्त हैं। उपनषिद् तथा वेदान्तसूत्र का उद्देश्य एक ही परतत्त्व है। मुख्यवृत्ति से वेदान्तसूत्र एवं उपनिषदों का अर्थ ग्रहण करने से हम धन्य हो जाते हैं। किन्तु शांकर भाष्य गौणवृत्तिपरक हैं। सामान्य लोगों के लिए तो ये बहुत ही हानिकारक हैं, क्योंकि ऐसी भ्रष्ट लक्षणा विधि से उपनिषद्-तात्पर्य समझने से भगवत्प्राप्ति प्राय: असम्भव-सी हो जाती है।

स्कन्द और वायु पुराणों के अनुसार 'सूत्र' शब्द का अर्थ है दोषरहित अप्रमेय अर्थ और तात्पर्य से पूर्ण संक्षिप्त ग्रन्थ। 'वेदान्त' का अर्थ है 'वैदिक-ज्ञान का अन्त' अर्थात् सम्पूर्ण वेद-विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ को वेदान्त कहते हैं। भगवद्गीता वेदान्त है, क्योंकि उसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि सारे वैदिक अनुसंधान के परम लक्ष्य वही हैं। अत: एकमात्र कृष्ण-प्राप्ति-विषयक होने से गीता तथा श्रीमद्भागवत दोनों वेदान्त हैं।

भगवत्प्राप्ति में प्रस्थानत्रयी नामक ज्ञान के तीन भेद हैं। उपनिषदादि वेद-प्रमाणित ज्ञान को श्रुति-प्रस्थान कहते हैं। श्रीव्यास आदि जीवन्मुक्त द्वारा प्रणीत गीता, महाभारत, श्रीमद्भागवत, पुराण आदि परम लक्ष्य के निर्देशक प्रामाणिक ग्रन्थ स्मृति-प्रस्थान हैं। वैदिक शास्त्रों से हम जानते हैं कि वेदों का प्रादुर्भाव श्रीनारायण के निश्वास से हुआ। श्रीनारायण के शक्त्यावतार व्यासदेव ने न्याय-प्रस्थान वेदान्तसूत्र का प्रणयन किया। परन्तु शांकर भाष्यों के अनुसार अपान्तरतमा ऋषि को भी वेदान्तसूत्र का प्रणेता कहा जाता है। श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर के अनुसार पञ्चरात्र तथा वेदान्त में अभेद है। श्रीव्यासदेव रचित होने के कारण वेदान्तसूत्र स्वयं श्रीनारायण के वचन हैं। वेदान्तसूत्र के विभिन्न विवरणों से प्रतीत होता है कि श्रील व्यासदेव

के समकालीन अनेक ऋषियों ने भी वेदान्तसूत्र की व्याख्या की है। ये ऋषि हैं—आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि, बादरी तथा पाराशरी एवं कर्मन्दी जैसे अन्य ऋषिवृन्द।

वेदान्तसूत्र के प्रथम दो अध्यायों में श्रीभगवान् तथा जीव के सम्बन्ध का और तीसरे में भक्ति का वर्णन है। चौथे अध्याय का विषय है भक्ति का सम्बन्ध। वेदान्तसूत्र का स्वाभाविक भाष्य श्रीमद्भागवत है। चारों वैष्णव सम्प्रदायाचार्यों (रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क) ने ब्रह्मसूत्र पर भी श्रीमद्भागवत की अनुवर्ती टीकाओं की रचना की है। वर्त्तमान में सब आचार्यों के अनुगामियों ने वेदान्तभाष्य के रूप में श्रीमद्-भागवत के सिद्धान्तानुसार अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वेदान्त पर शारीरक भाष्य नामक शंकराचार्य का भाष्य निराकारवादी विद्वानों द्वारा अत्यन्त समादृत है। परन्तु वास्तव में प्राकृत दृष्टिकोण से रचित वेदान्त-भाष्य भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के विरुद्ध हैं। इस कारण श्री-मन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने कहा कि उपनिषद् तथा वेदान्तसूत्र के मुख्यार्थ भाष्य धन्य हैं। किन्तु जो श्रीशंकराचार्य के लक्षणार्थक भाष्य को सुनता है, उसका अवश्य सर्वनाश हो जाता है।

श्रीमन्महाप्रभु गौरसुन्दर ने स्वीकार किया कि शंकराचार्य श्रीशिवजी के अवतार थे। श्रीशिव भागवतधर्म के एक महाजन (महाभागवत) हैं। भक्ति के बारह महाजनों में श्रीशिव भी हैं। तब उन्होंने मायावाद क्यों स्वीकार किया, इसका उत्तर पद्मपुराण के शिव-वचन में है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव कल्पितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

"मायावाद छिपा हुआ बौद्धमत है।" भाव यह है कि चाहे भले ही मायावाद को वेद-प्रमाणित कहा जाता है, पर वास्तव में वह प्रायः बुद्ध के शून्यवाद को ही दोहराता है। श्रीशिव ने कहा है कि कलिकाल में नास्तिकों को पथभ्रष्ट करने के लिए स्वयं उन्होंने इस दर्शन की रचना की है। श्रीशिव के अनुसार, "वास्तव में श्रीभगवान् का अपना चिन्मय श्रीविग्रह है। किन्तु मैंने परम सत्य को निराकार कहा है। इसी मायावाद के अनुसार मैंने वेदान्तसूत्र की व्याख्या की है।"

शिवपुराण में श्रीभगवान् का कथन है:

द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु।
स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरु॥

"द्वापर युग के प्रारम्भ में मेरे आज्ञानुसार अनेक ऋषि मायावाद से जन-साधारण को मोहित करेंगे।"

पद्मपुराण में श्रीशिवजी भगवती देवी से कहते हैं—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथा क्रमम्।
येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि॥
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते॥
सर्वकर्मपरिभ्रम्शान् नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।
परात्मा जीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते॥

"हे देवी! तमोगुण-प्रधान जीवों के लिए कभी-कभी मैं मायावाद की शिक्षा देता हूँ। किन्तु यदि सत्त्वगुणी इस मायावाद को सुन ले तो उसका पतन हो जाता है, क्योंकि मायावाद में मैं जीव और परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को एक बताता हूँ।"

'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थ में महान् मायावादी आचार्य सदानन्द योगी ने लिखा है: "सच्चिदानन्दमय अद्वय तत्त्व ब्रह्म है। अविद्या तथा अविद्या के सब कार्य ब्रह्म नहीं हैं। माया के तीन गुणों के सारे कार्य अविद्या से आच्छन्न और अद्वय कारण-कार्य से भिन्न हैं। यह अविद्या समष्टि तथा व्यष्टि—दो रूपों में व्यक्त होती है। समष्टि अविद्या विशुद्ध सत्त्व-प्रधान है। उस विशुद्ध सत्त्व-प्रधान का माया की अविद्या में व्यक्त होने पर उसे भगवान् कहते हैं; भगवान् से सब प्रकार की अविद्या की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है।" अतः मायावाद के अनुसार श्रीभगवान् इस माया के कार्य हैं तथा जीवात्मा अविद्या की घोरतम अवस्था में है। यह मायावाद-दर्शन का सार है।

परन्तु यदि हम उपनिषदों को मुख्यार्थ से समझें तो यह स्पष्ट है कि भगवान् अनन्तशक्ति-सम्पन्न पुरुष विशेष हैं। उदाहरणस्वरूप, श्वेताश्वतर-उपनिषद् में उल्लेख है कि भगवान् सबके आदि कारण और अनन्त शक्तिशाली हैं। वे प्राकृत सृष्टि से परे हैं। श्रीभगवान् धर्म के मूल-उद्‌गम, परम त्राता तथा सवैश्वर्य-सम्पन्न हैं। सूर्य के समान वे प्राकृत सृष्टि रूपी मेघ से अतीत स्थित हुए अपनी शक्तियों का प्रचुर वितरण करते हैं। वे स्वामियों के स्वामी तथा परम तत्त्व हैं। उन्हें सर्वोपरि देव, श्रीभगवान् कहा जाता है। उनकी शक्तियाँ अनन्त तथा विविध हैं। ऋग्वेद (१.२२.२०) में कहा है कि श्रीविष्णु परम तत्त्व हैं तथा सन्तजन उनके चरणारविन्द के दर्शनों के

लिए सदा उत्कण्ठित रहते हैं। ऐतरेय उपनिषद् (१.१.१-२) में उल्लेख है कि माया पर प्रभु के दृष्टिपात से सृष्टि की अभिव्यक्ति हुई। प्रश्नोपनिषद् (६.३) में इसी तथ्य की पुष्टि है।

श्रीकृष्ण के वेद-वर्णित नेति-नेति वर्णनों (जैसे, अपाणि पादः) से संकेत है कि उनका श्रीविग्रह तथा रूप पार्थिव नहीं है। परन्तु उनका चिन्मय श्रीविग्रह अवश्य है, जो माया से परे स्थित है। भगवान् के दिव्य स्वरूप के विषय में भ्रमित होने के कारण मायावादी उन्हें निर्गुण निराकार कहते हैं। भगवान् के नाम, रूप, गुण, परिकर तथा धाम—ये सभी वैकुण्ठ जगत् में हैं। ऐसी स्थिति में वे माया के कार्य कैसे हो सकते हैं? श्रीभगवान् से सम्बन्धित सब पदार्थ सच्चिदानन्दमय हैं।

देखा जाय तो कुछ प्रकार के नास्तिकों को मोहित करने के लिए ही शंकराचार्य ने मायावाद का प्रवचन किया है। वस्तुतः उन्होंने श्रीभगवान् को कभी भी निराकार स्वीकार नहीं किया। बुद्धिमानों के लिए मायावाद के प्रवचन न सुनना सर्वोत्तम है। हमें समझना चाहिए कि भगवान् श्रीविष्णु निराकार नहीं हैं। वे मायातीत पुरुष हैं तथा इस सृष्टि का मूल उनकी माया है। मायावाद श्रीभगवान् की शक्ति का अन्वेषण नहीं कर सकता; किन्तु सारे वेदों में श्रीभगवान् की विविध शक्तियों की अभिव्यक्तियों के प्रमाण विद्यमान हैं। श्रीविष्णु माया के कार्य नहीं हैं, माया ही श्रीविष्णु की शक्ति का कार्य है। मायावादी श्रीविष्णु को माया का कार्य मानते हैं, किन्तु ऐसा होने पर तो उनकी गणना केवल देवों में सम्भव थी। श्रीविष्णु को मात्र देवता समझने वाले निश्चित रूप से भ्रमित और पथभ्रष्ट हैं। गीता में स्पष्ट किया गया है: "तीनों गुणों से मोहित हुआ यह सारा जगत् माया से परे अनन्त शक्तिसम्पन्न मुझ भगवान् को नहीं जानता। मेरी यह दैवी गुणमयी मायाशक्ति बड़ी दुस्तर है, किन्तु जो मेरे शरणापन्न होते हैं, वे सहज ही इससे तर जाते हैं।" (गीता ७.१३-१४)

अध्याय २०

वेदान्त-स्वाध्याय का लक्ष्य

यह निश्चित हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा श्रीविष्णु प्राकृत जगत् के नहीं हैं। उन्हें प्राकृत देवता मानने वाला घोर अपराधी और निन्दक है। श्रीविष्णु प्राकृत इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं और न ही मनोधर्म के द्वारा उनकी प्राप्ति हो सकती है। प्राकृत जगत् में शरीर-आत्मा में सदा भेद रहता है; परन्तु श्रीविष्णु के आत्मा और शरीर में भेद नहीं है।

जीव प्राकृत पदार्थों के भोक्ता है, क्योंकि माया जीव से निकृष्ट है। परा प्रकृति के अंश जीव-जड़ भौतिक प्रकृति का उपभोग करते हैं। भगवान् श्रीविष्णु पूर्णत: माया से परे हैं, इसलिए वे जीव के समान माया का उपभोग नहीं करते। मनोधर्म के व्यसन से जीव को श्रीविष्णु का ज्ञान नहीं हो सकता। अणु जीव श्रीविष्णु के भोक्ता नहीं हैं, श्रीविष्णु द्वारा भोगे जाते हैं। भगवान् श्रीविष्णु को भोग्य समझना सर्वोपरि अपराध है। दूसरे शब्दों में, श्रीविष्णु और जीव को समान मानना भगवान् के प्रति सबसे घोर अपराध है।

परतत्त्व श्रीभगवान् प्रज्वलित अग्नि के समान हैं और अनन्त जीव उस अग्नि से निकलते अग्निकण हैं। यद्यपि भगवान् श्रीविष्णु तथा जीव तत्त्वत: अग्नि हैं, फिर भी दोनों में भेद है। श्रीविष्णु अनन्त हैं, जबकि अग्निकण तुल्य जीव अणु हैं। ये अणु जीव अनन्त आत्मा के अंश हैं। इसलिए जीवों का आत्म स्वरूप भी प्रकृति से परे है।

जीवात्मा मायातीत श्रीनारायण अथवा विष्णु के तुल्य नहीं हैं। स्वयं शंकराचार्य ने श्रीनारायण को सृष्टि से परे स्वीकार किया है। जब श्रीविष्णु तथा जीव दोनों ही सृष्टि से परे हैं, तब प्रश्न हो सकता है कि "अब जीवात्माओं की उत्पत्ति ही क्यों हुई?" इसका उत्तर यह है कि अनन्त तथा अणु-दोनों के साथ-साथ होने पर ही परतत्त्व की पूर्णता सिद्ध होती है। यदि वह केवल अनन्त हो और अणु न हो, तो उसकी पूर्णता बाधित होगी। उनका अनन्त स्वरूप विष्णु तत्त्व अथवा भगवान् हैं और जीवात्मा अणु-अंश हैं।

श्रीभगवान् की अनन्त इच्छाओं के कारण ही वैकुण्ठ-जगत् है तथा जीव की सूक्ष्म वासनाओं के फलस्वरूप प्राकृत-जगत् का अस्तित्व है। विषयभोग रूपी अपनी सूक्ष्म वासना में संलग्न सूक्ष्म जीवों को जीव-शक्ति कहते हैं और अनन्त से संयुक्त हो जाने पर वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। अत: यह प्रश्न नहीं बनता कि श्रीभगवान् ने सूक्ष्मांश जीव क्यों बनाए; वे तो केवल परतत्त्व के पूरक हैं। अनन्त को परमात्मा के भिन्न-अंशों की अनिवार्य आवश्यकता है। जीव परतत्त्व के अणु-अंश हैं, इस कारण अनन्त और अणु में भाव-विनिमय होता है। यदि अणु जीव नहीं होते तो परमेश्वर निष्क्रिय होते और चिद्विलास का अभाव होता। प्रजा के अभाव में शासक का कोई अर्थ नहीं रहता। इसी प्रकार अणु-जीवों के बिना भगवत्तत्त्व का कोई अर्थ नहीं। 'ईश्वर' शब्द का क्या अर्थ, यदि कोई वश में रहने वाला न हो? अत: निष्कर्ष है कि जीव परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति के प्रकाश हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण शक्तिमान् हैं।

भगवद्गीता तथा विष्णुपुराण सहित सारे वैदिक शास्त्रों में शक्ति-शक्तिमान् में भेद के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। भगवद्गीता (७.४) में स्पष्ट उल्लेख है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश सृष्टि के पाँच मूल तत्त्व हैं तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार सूक्ष्म तत्त्व हैं। अपरा प्रकृति इन आठ तत्त्वों में विभक्त है। इनसे श्रीभगवान् की अपरा प्रकृति बनती है। अपरा प्रकृति का एक अन्य नाम माया है। इन आठ हेय तत्त्वों से अतीत परा प्रकृति नामक श्रेष्ठ शक्ति है। वह परा प्रकृति प्राकृत जगत् में विपुल संख्या में प्राप्त जीव हैं। उनका निर्देश गीता में (७.५) 'जीवभूतम्' से है। तात्पर्य यह है कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण परतत्त्व शक्तिमान् हैं तथा उनकी अपनी शक्तियाँ हैं। जब उनकी शक्ति का यथार्थ प्रकाश नहीं होता या किसी छाया से ढक जाता है, तो उसे मायाशक्ति कहते हैं। प्राकृत जगत् की अभिव्यक्ति उस आच्छन्न माया शक्ति का ही कार्य है।

वस्तुत: जीवात्मा इस आच्छन्न अपरा प्रकृति से परे है। उनका निजी शुद्ध आत्म-स्वरूप तथा कार्य है। ये सभी इस सृष्टि की अभिव्यक्ति से अतीत हैं। यद्यपि जीव के मन, बुद्धि और स्वरूप इस प्राकृत जगत् से अतीत हैं, फिर भी प्रकृति पर प्रभुत्त्व की कामना की पूर्ति के लिए जब वह इस प्राकृत जगत् में प्रविष्ट होता है, तो उसके मौलिक मन, बुद्धि एवं काया मायाच्छन्न हो जाते हैं। इन मायिक आवरणों से पुन: मुक्त होने पर उसे मुक्त कहते हैं। मुक्तावस्था में उसमें मिथ्या अहंकार नहीं रहता, उसका

यथार्थ अहंकार फिर से अस्तित्त्व में आ जाता है। मूर्ख मनोधर्मी मानते हैं कि मुक्ति होने पर जीव का स्वरूप नष्ट हो जाता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। श्रीभगवान् का शाश्वत विभिन्न-अंश होने के कारण, मुक्त होने पर जीव अपने मूल नित्य स्वरूप को पुनः प्राप्त हो जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं शरीर नहीं हूँ) की अनुभूति का यह अर्थ नहीं कि जीव अपना स्वरूप खो बैठता है। वर्त्तमान क्षण में कोई अपने को जड़ माने तो माने, मुक्त अवस्था में वह जान जाएगा कि वह जड़ नहीं, अपितु अनन्त का अंश आत्मा है। कृष्णभावनाभावित होकर भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमयी सेवा करना मुक्तावस्था का लक्षण है। विष्णुपुराण की स्पष्ट उक्ति है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥

"परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति तीन है— 'परा, क्षेत्रज्ञ तथा अविद्या।' पराशक्ति स्वयं श्रीभगवान् की शक्ति है; क्षेत्रज्ञ जीवात्मा हैं तथा अविद्या प्राकृत जगत् है। इसे माया कहते हैं,क्योंकि इसके प्रभाव से जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का तथा भगवान् से निज सम्बन्ध का विस्मरण हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जीव श्रीभगवान् की ही एक शक्ति है; परतत्त्व के अणु-अंश होने से जीव कहलाते हैं। कृत्रिम रूप से जीव तथा भगवान् को समान समझने से (क्योंकि दोनों ही ब्रह्म अथवा आत्मा हैं) निश्चित रूप से मोह होगा।"

प्रायः मायावादी विद्वान् वैष्णव के सामने एकदम व्याकुल से हो जाते हैं, क्योंकि वे जीवों के माया-बन्धन की व्याख्या नहीं कर सकते। वे मात्र इतना कहते हैं, "यह माया के कारण है" किन्तु वे यही नहीं बता सकते कि यदि जीव परात्पर है तो फिर मायाच्छन्न कैसे हो गया। वास्तव में चिद् गुणों में श्रीभगवान् के समान होने पर भी जीव अनन्त न होकर अणु ही है। यदि वह अनन्त होता तो उसकी मायाबद्धता सम्भव नहीं रहती। जीव अणु होने के कारण ही मायाच्छन्न है। मायावादियों की मूर्खता और अज्ञता का प्रदर्शन तभी हो जाता है जब वे अनन्त तत्त्व की मायाबद्धता का कारण समझाना चाहते हैं। अनन्त को मायिक उपाधि में बाधित करना अपराध है। शंकराचार्य ने श्रीभगवान् को अपने मायावाद से प्रच्छन्न करने का प्रयत्न अवश्य किया; किन्तु वे तो केवल श्रीभगवान् की आज्ञा-पालन कर रहे थे। यह स्मरणीय है कि उनकी शिक्षा तात्कालिक आवश्यकता थी, शाश्वत सत्य नहीं। वेदान्तसूत्र में शक्ति और शक्तिमान् का भेद प्रारम्भ से

ही स्वीकृत है। वेदान्तसूत्र का प्रथम सूत्र (**जन्माद्यस्य यतः**) स्पष्ट करता है कि भगवान् सबके उद्‌गम हैं। अतः सब पदार्थ श्रीभगवान् की शक्ति हैं और वे स्वयं शक्तिमान् हैं। शंकर ने मिथ्या तर्क किया है कि यदि परिणामवाद (शक्ति के परिवर्तन) को स्वीकार कर लिया जाय, तो परतत्त्व अविकारी नहीं रहेगा। किन्तु यह सत्य नहीं है। नित्य अनन्त शक्ति का उद्‌गम होने पर भी परतत्त्व अव्यय रहता है। वे अनन्त शक्तियों के उद्‌गम से प्रभावित नहीं होते। अतः शंकराचार्य ने अपने मायावाद की स्थापना अशुद्ध रूप से की है।

श्रीरामानुजाचार्य ने इन तत्त्वों का बहुत सुन्दर विवेचन किया है: "यदि आप तर्क करें कि इस जगत् की सृष्टि से पूर्व केवल एक परतत्त्व था, तो यह कैसे सम्भव है कि जीव का उससे उद्‌गम हुआ? यदि परतत्त्व अकेला था तो उसने सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों का सृजन कैसे किया?" इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहते हैं कि सब कुछ परतत्त्व द्वारा पालित है तथा संहार के बाद सब कुछ उसी परतत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मुक्त होने पर जीव परम अस्तित्त्व में प्रविष्ट होते हैं, उनका अपना आदि स्वरूप नहीं बदलता।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् का निजी सृजन-कार्य है और अणु जीवों के अपने सृजन-कार्य हैं। यह नहीं कि मुक्त होकर पाँचभौतिक शरीर के नष्ट होने पर परतत्त्व से एक होकर उनका सृजन-कार्य नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत, मुक्तावस्था में ही जीव के सृजन का शुद्ध प्रकाश हुआ करता है। यदि बद्धावस्था में भी जीव की क्रियाओं का प्रकाश होता है, तो मुक्तावस्था में उनका समाप्त हो जाना कैसे सम्भव है? जीवात्मा का मुक्तावस्था में प्रवेश करना पक्षी के वृक्ष-प्रवेश, पशु के वन-प्रवेश अथवा यान के आकाश में प्रवेश करने जैसा है। किसी भी अवस्था में स्वरूप नष्ट नहीं होता।

वेदान्तसूत्र के प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकर ने अत्यन्त अनुचित रूप से ब्रह्म को निराकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया। साथ ही उन्होंने चातुरीपूर्वक परिणामवाद के स्थान पर विवर्तवाद की स्थापना करना चाहा है। परतत्त्व वास्तव में परिवर्तनरहित है। वास्तव में कोई भी परिणाम उनकी अचिन्त्य क्रिया-शक्ति का कार्य है। भाव यह है कि परम सत्य से द्वैतात्मक (सापेक्ष्य) सत्य उत्पन्न होता है। लकड़ी से आसन बनने पर कहा जाता है कि आसन लकडी का परिणाम हुआ। परतत्त्व ब्रह्म नित्य है

तथा उससे उत्पन्न जीवात्मा अथवा जगत् उस परतत्त्व का परिणाम है। यह दूध से दही बनने जैसा है। इस प्रकार यदि हम संसार में जीवों का अध्ययन करें तो लगेगा कि वे परतत्त्व से भिन्न नहीं हैं, किन्तु वैदिक शास्त्रों के अनुसार ज्ञात होता है कि परतत्त्व की विभिन्न शक्तियाँ हैं तथा जीव और जगत् उनकी शक्तियों की ही अभिव्यक्ति हैं। शक्तियाँ शक्तिमान् से भिन्न नहीं हैं; अत: जीव और जगत् परतत्त्व के अंश, अविभाज्य सत्य हैं। परम सत्य तथा द्वैतात्मक सत्य सम्बन्धी यह निष्कर्ष किसी भी स्वस्थचित्त मनुष्य को स्वीकार होना चाहिए।

परतत्त्व की अचिन्त्य शक्ति से यह जगत् प्रकट हुआ है अर्थात् परतत्त्व ही मूल तथ्य है और जीवात्मा जगत् उसके परिणाम हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है, **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"**; "परतत्त्व सब तत्वों का मूल उद्गम है तथा यह प्राकृत जगत् और इसके जीव उन्हीं तत्त्वों से निर्मित हैं।"

इस परिणामवाद को समझने में असमर्थ बुद्धिहीन जगत् और जीव का परतत्त्व से भेदाभेद नहीं समझ सकते। इसे न समझ कर भय से वे यह निश्चय कर लेते हैं कि यह सृष्टि और जीव दोनों मिथ्या हैं। शंकराचार्य ने रस्सी को सर्प समझने का उदाहरण दिया है। कभी-कभी सीप में रजत-भ्रम का दृष्टान्त भी दिया जाता है, किन्तु निश्चय ही ऐसे तर्क धूर्ततामात्र हैं। 'माण्डुक्य उपनिषद्' में उल्लेख है कि रस्सी में सर्प तथा सीप में चाँदी का भ्रम आदि उदाहरणों के विभिन्न उपयोग हैं; इन्हें निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है। अपने आदि स्वरूप में जीव शुद्ध आत्मा है। जब कोई देह में आत्मबुद्धि कर बैठता है तो उसे रस्सी में सर्प तथा सीप में चाँदी के भ्रम की उपमा दी जा सकती है। विवर्तवाद को मानने पर ही एक वस्तु में दूसरी का भ्रम संगत हो सकता है। वास्तव में देह जीवात्मा नहीं है, विवर्तवाद का सिद्धान्त देह को आत्मा मानता है। प्रत्येक बद्धजीव निश्चय ही इस सिद्धान्त से दूषित है।

जीव की बद्धावस्था उसकी रोगी दशा है। आदिस्वरूप में जीव तथा इस सृष्टि का मूल कारण परिवर्तनशीलता से परे है; किन्तु परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्तियों को भूल जाने पर भ्रमित विचार एवं तर्क मनुष्य पर अधिकार कर सकते हैं। प्राकृत जगत् में भी अनेक उदाहरण हैं। सूर्य अति प्राचीन काल से अनन्त ऊर्जा का प्रादुर्भाव कर रहा है, उससे कितने ही परिणाम होते हैं। फिर भी सूर्य के ताप और उष्णता में कोई

विकार नहीं होता। प्राकृत पदार्थ सूर्य यदि इतने पदार्थ उत्पन्न करने पर भी अपना मौलिक ताप बनाए रख सकता है तो परतत्त्व के लिए अपनी अचिन्त्य शक्ति से अनेक पदार्थों का निर्माण करके भी स्वयं परिवर्तनरहित रहना क्या कठिन है? अत: परतत्त्व के सम्बन्ध में विवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता।

वैदिक शास्त्रों में चिंतामणि (स्पर्शमणि) का उल्लेख है जो स्पर्शमात्र से लोहे को सोना बना देती है। सोने की अनन्त राशि बनाने पर भी उसमें स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता। अज्ञानावस्था में ही कोई इस मायावादी निष्कर्ष को मान सकता है कि यह सृष्टि-समूह मिथ्या है। स्वस्थचित्त मनुष्य पूर्ण परतत्त्व पर अविद्या और माया का आरोप नहीं करेगा। उनमें परिवर्तन, अविद्या अथवा माया की कोई सम्भावना नहीं है। परमब्रह्म माया से परे, प्राकृत धारणाओं से विलक्षण है। परतत्त्व सब प्रकार की अचिन्त्य शक्ति रखता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लेख है कि परतत्त्व अचिन्त्य शक्तियों से पूर्ण है, किसी दूसरे के पास वे शक्तियाँ नहीं हैं।

परतत्त्व की शक्तियों के भ्रमित ज्ञान से ही कोई परतत्त्व को मिथ्यारूप में निराकार मान सकता है। भयंकर रोगी जीव को इस भ्रामक निश्चय का अनुभव होता है। श्रीमद्भागवत में भी इस आशय के अनेक उल्लेख हैं कि परमात्मा श्रीभगवान् अचिन्त्य असंख्य शक्तिसम्पन्न हैं। (भागवत ३.३३.३) ब्रह्मसूत्र में भी है कि भगवान् श्रीकृष्ण की विविध अचिन्त्य शक्तियाँ हैं। कोई यह न समझे कि परतत्त्व में भी अविद्या की सम्भावना है। अविद्या एवं विद्या इस द्वैतमय जगत्-सम्बन्धी धारणाएँ हैं; परम तत्त्व में ऐसा कोई द्वैत नहीं है। परतत्त्व को अविद्याच्छन्न मानना मूर्खता है। यदि परतत्त्व अविद्याग्रस्त हो सकता तो वह परम कैसे कहा जा सकता? परतत्त्व की अचिन्त्यता को जानने से ही द्वैत के प्रश्न का समाधान हो सकता है। क्योंकि द्वैत का कारण परतत्त्व की अचिन्त्य शक्ति है। परतत्त्व स्वयं परिवर्तन-हीन रहने पर भी अपनी अचिन्त्य शक्तियों से सारे जीव समूह सहित इस सृष्टि की रचना करता है, उसी प्रकार जैसे स्वयं विकृत हुए बिना स्पर्शमणि अपरिमित मात्रा में स्वर्ण बना सकती है। परतत्त्व ऐसी शक्तियों से युक्त है। इसलिए अविद्या के गुण उसमें सम्बद्ध नहीं हो सकते। परतत्त्व का यथार्थ विलास उसकी अचिन्त्य शक्ति का कार्य है। वस्तुत: यह निश्चय किया जा सकता है कि यह सृष्टि उनकी अचिन्त्य शक्ति का ही एक कार्य है।

यदि हम परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अचिन्त्य-शक्तियों को स्वीकार कर लें, तो पाएँगे कि द्वैत है ही नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति का प्राकट्य उनके समान सत्य है। परम शक्ति के प्रकाश में परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता। वही उदाहरण फिर दिया जा सकता है। अपरिमित स्वर्ण बनाने पर भी स्पर्शमणि अविकृत रहती है। अतएव कुछ ऋषियों से सुनते हैं कि परतत्त्व इस सृष्टि का निमित्त कारण है।

वास्तव में रज्जु-सर्प का उदाहरण बिल्कुल असंगत नहीं है। जब हम रस्सी को सर्प मान बैठते हैं, तो यह समझना चाहिए कि हमें सर्प का पूर्वानुभव है। नहीं तो रस्सी में सर्प-भ्रम कैसे होता? अत: सर्प की धारणा अपने में असत्य अथवा मिथ्या नहीं है। मिथ्या स्वरूप ही असत्य अथवा अवास्तविक होता है। भ्रमपूर्वक रस्सी को सर्प मानना हमारा अज्ञान है। किन्तु सर्प की धारणा अपने में अविद्या नहीं है। मरुस्थल में मृगतृष्णा को जल मानना मिथ्या है, परन्तु जल मिथ्या नहीं है।

इस प्रकार यह सृष्टि मिथ्या नहीं है, जैसा कि शंकराचार्य ने कहा है : वास्तव में यहाँ कुछ भी असत्य नहीं है। अपनी अविद्या के कारण ही मायावादी संसार को मिथ्या कहते हैं। वैष्णव दर्शन के निष्कर्ष में यह सृष्टि भगवान् की अचिन्त्य शक्तियों का परिणाम है।

वेदों का महावाक्य प्रणव ओंकार परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का नादविग्रह है। किन्तु शंकराचार्य ने झूठ-मूठ तत्त्वमसि को महावाक्य कहा है। ओंकार भगवान् की सब अचिन्त्य शक्तियों का स्रोत है। तत्त्वमसि को वेद का महावाक्य कहने में शंकर ठीक नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वमसि वेद में उपप्रधान हैं। तत्त्वमसि भगवान् का आंशिक प्रकाशमात्र है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलों पर ओंकार की महिमा का गान किया है (गीता ८.१३, ९.१७, १७.२४)। इसी प्रकार 'अथर्ववेद' तथा 'माण्डूक्योपनिषद्' में ओंकार की महिमा है। 'भगवत्-सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं— "ओंकार भगवान् श्रीकृष्ण का सबसे गोपनीय नादविग्रह है।" भगवन्नाम श्रीभगवान् के तुल्य है। ओंकार अथवा **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** के उच्चारण से जीव संसार के संसर्ग-दोष से मुक्त हो सकता है। बद्धजीव का उद्धार करने वाली इस नाम-ध्वनि को तारक कहते हैं।

यह निश्चित सत्य है कि भगवन्नाम-ध्वनि श्रीभगवान् के तुल्य है।

नारदपांचरात्र में पुष्टि है—

व्यक्तं हि भगवानेव साक्षान्नारायणः स्वयम्।
अष्टाक्षर स्वरूपेण मुखेषु परिवर्तते।।

"बद्धजीव के नामोच्चारण करने पर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उसकी जिह्वा पर विराजमान हो जाते हैं।"

माण्डूक्योपनिषद् में कहा है कि ओंकार के उच्चारण से सारा प्राकृत जगत् वैकुण्ठ दिखने लगता है। वैकुण्ठ दृष्टि में ओंकार अथवा ओम् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। दुर्भाग्यवश शंकर ने महावाक्य ओंकार को त्याग कर स्वेच्छा से तत्त्वमसि को महावाक्य मान लिया। प्रमुख ध्वनि को त्याग कर और उपप्रधान ध्वनि को स्वीकार कर उन्होंने शास्त्र के मुख्यार्थ को अपने लक्षणार्थ के लिए त्याग दिया।

श्रीपाद शंकराचार्य ने "पुरुष वेदान्तसूत्र" में वर्णित कृष्णभक्ति को मुख्यार्थ के स्थान पर अपना लक्षणात्मक अर्थ करके आच्छादित कर दिया है। सम्पूर्ण वेदान्तसूत्र को स्वयं प्रमाण माने बिना उसके अध्ययन का कोई लाभ नहीं। वेदान्तसूत्र का मनमाना अर्थ करना स्वयंप्रमाण वेदों का सबसे बड़ा अपकार है।

जहाँ तक ओंकार-प्रणव का सम्बन्ध है, उसे भगवान् का नाद-अवतार माना जाता है। इस रूप में ओंकार नित्य, अनन्त, मायातीत, परम तत्त्व तथा अक्षय है। आदि, मध्य और अन्त में वही ओंकार है और अनादि भी वही है। ओंकार को ऐसा समझने वाला अविनाशी हो जाता है। अतः ओंकार को प्राणीमात्र के अन्तर्यामी परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का प्रतीक जानना चाहिए। ओंकार एवं श्रीविष्णु को परतत्त्व तथा सर्वव्यापी समझने वाला प्राकृत जगत् में कभी शोक नहीं करता और न ही वह शूद्र रहता है।

ओंकार का स्वरूप पाँचभौतिक नहीं है; उसका प्रकाश है, वह अनन्त रूपधारी है। ओंकार के ज्ञान से जीव प्राकृत जगत् के द्वैत से मुक्त होकर परम ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार ओंकार भगवान् का सर्व मंगलकारी रूप है, माण्डूक्योपनिषद् में ऐसा वर्णन है। किसी उपनिषद् की मूर्खतापूर्ण व्याख्या करके यह कहना उचित नहीं है कि अपने रूप में इस संसार में स्वयं अवतीर्ण होने में 'असमर्थ' होने के कारण भगवान् अपने स्थान पर ओंकार को भेजते हैं। इसी असत् धारणा से ओंकार को प्राकृत समझ लिया जाता है। परिणाम में भ्रमवश ओंकार भगवान् के केवल प्रतीकमात्र के रूप में पूज्य है।

वास्तव में ओंकार भगवान् श्रीकृष्ण के किसी भी दूसरे अवतार जैसा है।

भगवान् के असंख्य अवतार हैं और ओंकार उनमें से एक है। जैसा श्रीकृष्ण ने गीता (९.१७) में कहा है— "ध्वनियों में मैं ओम् हूँ।" इसका अर्थ हुआ कि ओंकार श्रीकृष्ण से अभिन्न है। किन्तु निराकारवादी भगवान् श्रीकृष्ण से अधिक ओंकार को महत्त्व देते हैं। सत्य तो यह है कि भगवान् का कोई भी अवतार या रूप-प्रतीक उनसे अभिन्न है। अतः ओंकार वेदों का परम रूप सिद्ध हुआ। वास्तव में वैदिक मन्त्रों में दिव्य शक्ति इसीलिए है कि उनके पहले ओंकार का प्रयोग होता है। वैष्णव ओंकार की व्याख्या इस प्रकार करते हैं— 'अ' स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का वाचक है; 'उ' से श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी श्रीमती राधारानी का निर्देश है; तथा 'म' से परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य दास जीव का निर्देश है। शंकर ने ओंकार को ऐसी महत्ता नहीं दी है। किन्तु वेद, रामायण, पुराण तथा महाभारत में आदि से अन्त तक यह महिमा वर्णित है। इस प्रकार सर्वत्र श्रीभगवान् की कीर्ति का उद्‌घोष हुआ है।

अध्याय २१

मायावादियों का आत्मसमर्पण

इस विधि से भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वेदान्तसूत्र को लक्षणात्मक अर्थ देने के प्रयत्नों की निन्दा की। सब उपस्थित संन्यासीगण उनकी व्याख्या से आश्चर्यान्वित हो उठे। मुख्यार्थ व्याख्या सुनकर एक संन्यासी ने तुरन्त जिज्ञासा की, "श्रीपाद् चैतन्यदेव! ओंकार के लक्षणात्मक अर्थ की निन्दा में आपने जो कुछ कहा है वह परम उपयोगी है। भाग्यवान् ही आपकी व्याख्या को सत्य मान सकता है। वास्तव में हम सभी जानते हैं कि शंकर की सारी व्याख्याएँ कृत्रिम और काल्पनिक हैं; फिर भी सम्प्रदाय के अनुरोध से हमें उन्हें सच मानना पड़ता है। आपसे वेदान्तसूत्र की मुख्यार्थ व्याख्या सुनने में हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी।

इस प्रार्थना को सुनकर श्रीमन्महाप्रभु ने वेदान्तसूत्र के एक-एक सूत्र की मुख्यार्थ व्याख्या की। उन्होंने ब्रह्म शब्द का अर्थ किया— ब्रह्म का अर्थ है, सबसे बड़ा अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण। ब्रह्म शब्द से संकेत है कि बृहत्तम तत्त्व छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण है। भगवान् समग्र श्री, कीर्ति, वीर्य, रूप, ज्ञान तथा त्याग से परिपूर्ण हैं। धरती पर प्रकट काल में श्रीकृष्ण ने इन षडैश्वर्यों का पूर्णतम प्रकाश किया था। भगवान् श्रीकृष्ण के समान धनवान्, विद्वान, सुन्दर, बलिष्ठ, कीर्तिमान् अथवा त्यागी कोई भी नहीं था। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म हैं। इसकी पुष्टि गीता में अर्जुन ने की है (१०.१२): **"परमब्रह्म परमधाम"** "आप परम **ब्रह्म तथा परम धाम हैं।" इस प्रकार ब्रह्म से बृहत्तम तत्त्व निर्दिष्ट हैं, जो भगवान् श्रीकृष्ण ही हो सकते हैं। परम ब्रह्म होने से वे परतत्त्व के आश्रय हैं। उनके ऐश्वर्य, श्री, बल, यश, ज्ञान, त्याग एवं रूप के प्रकाश सर्वथा मायातीत हैं। सब वैदिक मन्त्र और सूत्र निर्देश करते हैं कि उनसे सम्बन्धित सम्पूर्ण वस्तु भगवत्स्वरूप तथा मायातीत है। वेद में ब्रह्म शब्द से सर्वत्र भगवान श्रीकृष्ण ही निर्दिष्ट हैं। बुद्धिमान्**

ब्रह्म शब्द से तुरन्त श्रीकृष्णनाम का अर्थ लगाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण माया के गुणों से परे हैं; किन्तु साथ ही, वे सारे दैवी गुणों से सम्पन्न हैं। परतत्त्व को निराकार मानना उनकी दिव्य शक्तियों को न मानना है। जो निर्विशेष ब्रह्मशक्ति को तो मानता है, पर श्रीभगवान् को नहीं मानता, वह परम सत्य को पूर्णरूप में स्वीकार नहीं करता। परतत्त्व को पूर्ण रूप में स्वीकार करना चिद्विलास को स्वीकार करना है। भगवान् श्रीकृष्ण का निर्देश न करने से निराकारवादियों की मान्यता अपूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान का वेदसम्मत मार्ग भक्ति है। भगवद्भक्ति का प्रारम्भ भागवत-श्रवण से होता है। भक्ति की नौ-पद्धतियों में श्रवण प्रमुख है। श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, अर्चन, भगवान के ज्ञान द्वारा परम सिद्धि की प्राप्ति में इन सभी का उपयोग होता है। भगवत्-ज्ञान की इस पद्धति को अभिधेय अर्थात् बद्धावस्था में भक्तियोग का साधन कहते हैं।

वास्तव में अनुभव होता है कि श्रीकृष्णभावनाभावित पुरुष अन्य भावनाओं में नहीं लगना चाहता। श्रीकृष्णभावनामृत भगवान् श्रीकृष्ण के लिए प्रेम का विकास है; यही मनुष्य का पंचम पुरुषार्थ है। जब कोई इस दिव्य भक्तिमयी सेवा में यथार्थतः लग जाता है तो वह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का आस्वादन करता है। श्रीकृष्ण से दिव्य रसभाव-विनिमय होने पर श्रीकृष्ण क्रमशः उसके निजी संगी बन जाते हैं। तब भक्त शाश्वत आनन्दमय जीवन का उपभोग कर सकता है। इस कारण वास्तव में वेदान्तसूत्र का उद्देश्य है परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से जीव के विस्मृत सम्बन्ध को फिर से स्थापित कर के भक्ति के अभ्यास द्वारा उसे जीवन के परम लक्ष्य—कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति कराना। यही वेदान्तसूत्र का यथार्थ उद्देश्य है।

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित वेदान्तसूत्र की व्याख्या सुनकर श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती के प्रधान शिष्य खड़े होकर भगवान् श्रीनारायण के रूप में श्रीमन्महाप्रभु की स्तुति करने लगे। उन्होंने श्रीमहाप्रभु द्वारा वर्णित वेदान्तसूत्र-व्याख्या की स्तुति ही नहीं की, वरन् स्पष्ट घोषित किया कि उपनिषद् एवं वेदान्तसूत्र की मुख्यार्थ व्याख्या "इतनी चित्ताकर्षक है कि हम अपने को और अपने मायावादीपन को भी भूल गए हैं।" इस प्रकार यहाँ स्वीकार किया गया है कि उपनिषद् एवं वेदान्तसूत्र की सब शांकर व्याख्याएँ कल्पित हैं। साम्प्रदायिक द्वन्द्वों के लिए कभी-कभी ऐसी काल्पनिक

व्याख्याएँ मान ली जाती हैं, किन्तु इनसे वास्तव में सन्तोष नहीं होता। यह सत्य नहीं कि संन्यास लेने मात्र से जीव मायामुक्त हो जाता है। श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित व्याख्या समझने से हमें वास्तविक लाभ होगा। उदाहरणस्वरूप **'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं'** की श्रीमन्महाप्रभु कृत व्याख्या से सभी प्रसन्न होते हैं, क्योंकि यह नितान्त सत्य है कि भक्ति के अतिरिक्त, मुक्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। भक्ति के अभाव में कोई भी मायामुक्त नहीं हो सकता। विशेषत: इस युग में **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे,'** के कीर्त्तन से परम मुक्ति सुलभ है। श्रीमद्‌भागवत (१०.१४.४) में उल्लेख है कि भक्तिमार्ग को त्याग कर केवल ज्ञान के लिए परिश्रम करने से आत्मा-प्रकृति के भेद को समझने में हुए श्रम के अतिरिक्त, कुछ भी श्रेय-प्राप्ति नहीं होती। खाली भूसी से अन्न पाने की कोशिश व्यर्थ है। अत: श्रीमद्‌भागवत (१०.२.३२) में उल्लेख है कि अपने को मुक्त मानकर जो परम-ईश्वर भगवान्-श्रीकृष्ण की भक्ति को छोड़ बैठता है वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। अत्यन्त कठोर श्रम, त्याग एवं तपश्चर्या से मुक्त हो जाने पर भी श्रीकृष्णचरणारविन्द के आश्रय के अभाव में वह फिर विषयों में ही गिर जाता है।

परम ब्रह्म को निराकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में ब्रह्म को भगवान् के छ: ऐश्वर्यों से युक्त नहीं कहा जा सकता। अखिल वेद पुराण कहते हैं कि भगवान् अखिल शक्तियों से पूर्ण हैं, किन्तु मूर्ख इसका तिरस्कार कर उनकी लीलाओं की निन्दा करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के चिन्मय श्रीविग्रह की भ्रान्त व्याख्या करते हुए वे उसे माया का कार्य बतलाते हैं। यह सर्वोपरि अपराध है, पाप है। जीवमात्र को श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती तथा मायावादी संन्यासियों से श्रीमन्महाप्रभु द्वारा कहे वचनों को मान लेना चाहिए।

परम तत्त्व के स्वतन्त्र स्वरूप का श्रीमद्‌भागवत (३.९.३-४) में वर्णन है। "हे प्रभो! मेरे द्वारा दृष्टिगोचर आपका यह चिन्मय रूप, सम्पूर्ण दिव्यानन्द का घनीभूत मूर्तरूप है। यह नित्य गुणातीत है। यह परम तत्त्व का सर्वमहान् प्रकाश तथा पूर्ण ज्योतिर्मय है। हे सर्वात्मन्! आप इस सृष्टि के और प्राकृत तत्त्वों के स्रष्टा हैं। हे श्रीकृष्ण! मैं आपके इस चिदानन्दमय श्रीविग्रह की शरण हूँ। हे जगन्मंगल! आपने अपने आदि कृष्ण-रूप से अवतार ग्रहण किया है जिससे हम आपकी पूजा कर सकें। ध्यान अथवा

प्रत्यक्ष पूजा से आप हमारे दृष्टिगोचर होते हैं। आपके मायातीत श्री विग्रह की ओर आदरभाव न रखने के कारण मूर्ख नरकगामी हैं।"

श्रीमद्भगवद्गीता (९.११) में भी प्रमाण है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

"जब मैं मनुष्य के रूप में अवतीर्ण होता हूँ, मूढ़ मेरा उपहास करते हैं, उन्हें मेरे परम भाव एवं सृष्टि के ऊपर मेरी परम ईश्वरता का ज्ञान नहीं है।"

भगवद्गीता (१६.१९) में ही ऐसे मूढ़ एवं आसुरीभावापन्नों को नरकगामी बताया गया है —

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

"उन द्वेष करने वाले, क्रूरकर्मी नराधमों को मैं निरन्तर संसार समुद्र की विभिन्न आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।"

वेदान्तसूत्र के प्रारम्भ से ही परिणामवाद का प्रतिपादन है, किन्तु शंकराचार्य ने मिथ्यारूप से उसे छिपा कर विवर्तवाद को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने श्रीव्यासदेव को भ्रान्त बताने की धृष्टता भी की है। पुराणों सहित सब वैदिक शास्त्र इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि भगवान् श्रीश्यामसुन्दर सम्पूर्ण अप्राकृत शक्तियों तथा चिद्विलास के केन्द्र हैं। अभिमानी और असमर्थ मायावादी दार्शनिक अप्राकृत शक्ति के चिद्विलास को नहीं समझ सकता। परिणाम में वह मिथ्या रूप से मान बैठता है कि चिद्विलास और प्राकृत वैचित्र्य में कोई भेद नहीं है। इस मिथ्या धारणा के मोहवश मायावादी भगवान् श्रीकृष्ण के लीला-विलास को तुच्छ समझते हैं। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं को समझने में असमर्थ होने के कारण ऐसे मूढ़ लोग श्रीकृष्ण को प्रकृति का कार्य मानते हैं। यह मनुष्य द्वारा किया जाने वाला सर्वोपरि अपराध है। भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने यह सिद्ध किया कि श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द विग्रह हैं तथा अपने सकल चिद्विलासमय लीला-विलास में निरन्तर मग्न हैं।

श्रीप्रकाशानन्द के शिष्यों ने श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के वर्णन का सार ग्रहण कर निष्कर्ष किया— "भगवत्प्राप्ति के मार्ग का हमने प्रायः त्याग कर दिया है। हम केवल निरर्थक चर्चा में ही लगे रहते हैं। कल्याण के इच्छुक मायावादी दार्शनिकों को भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। इसके विपरीत वे केवल निरर्थक मनोधर्म में ही आनन्दित होते हैं। हम

यहाँ स्वीकार करते हैं कि शंकराचार्य की व्याख्या वैदिक ग्रन्थों के वास्तविक तात्पर्य का गोपन करती है। श्रीगौरसुन्दर चैतन्यदेव द्वारा प्रतिपादित व्याख्या ही मान्य है। अन्य सारी व्याख्याएँ निरर्थक हैं।"

अपनी स्थिति को इस प्रकार व्यक्त करके श्रीप्रकाशानन्द का मुख्य शिष्य **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** का कीर्त्तन करने लगा। यह देखकर श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती ने भी शंकराचार्य की भ्रांति को स्वीकार करते हुए कहा, "शंकराचार्य अद्वैतवाद की स्थापना करना चाहते थे। अतः वेदान्तसूत्र की पूर्वाग्रहणपूर्ण व्याख्या करने के अतिरिक्त उनके पास कोई विकल्प नहीं था। भगवान् श्रीश्यामसुन्दर को स्वीकार करने पर अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होता। अतः शंकराचार्य ने प्राकृत विद्वत्ता से वेदान्तसूत्र के यथार्थ अर्थ के गोपन का प्रयास किया है। केवल शंकराचार्य ही क्यों, निजी विचार व्यक्त करने वाले सभी लेखकों को बाध्य होकर वेदान्तसूत्र की भ्रान्त व्याख्या करनी पड़ती है।"

इस प्रकार भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वेदान्तसूत्र का मुख्यार्थ प्रकाशित किया। लक्षणात्मक मनोधर्म के लिए किसी भी वैदिक शास्त्र का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। शंकराचार्य के अतिरिक्त कपिल, गौतम, अष्टावक्र तथा पतंजलि आदि प्राकृत दार्शनिकों ने विविध प्रकार से दार्शनिक मनोधर्म प्रस्तुत किया है। दार्शनिक जैमिनि तथा उसके नैयायिक अनुगामियों ने तो वेदों के यथार्थ तात्पर्य (कृष्णभक्ति) को त्याग कर परम-सत्य को प्राकृत-जगत् का विषय सिद्ध करना चाहा है। उनके अनुसार यदि ईश्वर है तो मनुष्य द्वारा भली-भाँति कर्मकाण्ड करने मात्र से वह उस पर प्रसन्न होकर उसकी सब अभिलाषा पूर्ण कर देगा। इसी प्रकार, नास्तिक कपिल ने सिद्ध करने का यत्न किया कि किसी ईश्वर ने प्राकृत संसार का सृजन नहीं किया। कपिल ने यह भी स्थापित करना चाहा कि सृष्टि प्राकृत तत्त्वों के मिश्रण से हुई। ऐसे ही, गौतम तथा कणाद ने इस धारणा पर बल दिया है कि दैवयोग से प्राकृत तत्त्वों के सम्मिश्रण से सृष्टि हुई। उन्होंने सृष्टि का कारण परमाणु-शक्ति को बताया है। इसी प्रकार अष्टावक्र जैसे अद्वैत-वादियों ने ब्रह्मज्योति को परतत्त्व स्थापित करने का प्रयास किया है। योगमार्ग के महान् आचार्य पतंजलि ने परमेश्वर के एक काल्पनिक रूप की धारणा प्रस्तुत की है।

सारांश में यह समझना चाहिए कि अपनी मनोकल्पित धारणाओं को प्रस्तुत करके इन सब प्राकृत दार्शनिकों ने भगवान् श्रीकृष्ण की उपेक्षा करने

का प्रयत्न किया है। किन्तु भगवान् के अवतार महर्षि श्रीव्यासदेव ने इन सब दार्शनिक मनोधर्मियों का पूर्ण अध्ययन किया तथा इनके उत्तरस्वरूप जीवात्मा तथा स्वयं भगवान् में सम्बन्ध स्थापित कर के अन्त में कृष्णप्रेम प्राप्त कराने में कृष्णभक्ति की महिमा की स्थापना करने के लिए वेदान्तसूत्र का प्रणयन किया है। वेदान्तसूत्र के प्रारम्भिक सूत्र **'जन्माद्यस्य यतः'** का वर्णन श्रीव्यासदेव द्वारा रचित श्रीमद्भागवत में है। श्रीमद्भागवत में व्यासदेव ने प्रारम्भ से ही यह स्थापित किया है। सबका परम कारण, सर्वज्ञ सच्चिदानन्दमय दिव्य पुरुष हैं।

निराकारवादी यह समझाने का प्रयत्न करता है कि भगवान् की ब्रह्मज्योति माया के गुणों से परे है, किन्तु साथ ही वह यह भी स्थापित करना चाहता है कि भगवान् श्रीकृष्ण मायिक गुणों में स्थित हैं। वेदान्तसूत्र का उद्घोष है कि भगवान् श्रीकृष्ण गुणातीत ही नहीं हैं, अपितु अनन्त अप्राकृत गुणों और शक्तियों से युक्त हैं। ये सभी विभिन्न मनोधर्मी दार्शनिक भगवान् श्रीविष्णु को अस्वीकार करने में एकमत हैं तथा उत्साहपूर्वक अपनी धारणाओं के प्रचार से लोकप्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए संलग्न है। दुर्भाग्य-शाली लोग इन नास्तिक दर्शनवादियों पर मोहित हो जाते हैं। परिणामतः वे परतत्त्व का यथार्थ स्वरूप कभी नहीं जान पाते। अतः महाजनों के चरण-चिह्नों का अनुसरण कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा। श्रीमद्भागवत के मत में बारह महाजन ये हैं: १) ब्रह्मा, २) शिव, ३) नारद, ४) वैवस्वत मनु, ५) कपिल (नास्तिक कपिल नहीं, आदि कपिलदेव), ६) सनकादि कुमार, ७) प्रह्लाद, ८) भीष्म, ९) जनक, १०) बलि, ११) शुकदेव गोस्वामी तथा १२) यमराज। महाभारत के अनुसार भगवान् के सम्बन्ध में मनोधर्म करना निरर्थक है, क्योंकि वैदिक शास्त्रों तथा दार्शनिक ज्ञान के इतने अधिक भेद हैं कि दो भिन्न दार्शनिकों में कभी सहमति नहीं हो सकती। प्रत्येक दार्शनिक अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर अन्य मतों का खण्डन करता है। इस प्रकार धर्म-तत्त्व का ज्ञान अत्यन्त दुर्बोध है। अतएव महाजनों का अनुसरण किया जाय— यही सर्वोत्तम मार्ग है; ऐसा करने से सफलता निश्चित है। भगवान् श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा पीयूष-तुल्य तथा सर्वविध पूर्ण है। इस पथ को ग्रहण कर आगे बढ़ना ही सर्वोत्तम है।

अध्याय २२

श्रीमद्भागवत

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के मत को मायावादी संन्यासियों द्वारा ग्रहण कर लिए जाने पर अनेक विद्वान् तथा जिज्ञासु वाराणसी में श्रीमहाप्रभु के पास आए। सबके सब श्रीगौरसुन्दर के दर्शन उनके घर पर नहीं कर सकते थे, इसलिए विश्वनाथ तथा बिन्दुमाधव जी के मन्दिरों की ओर जाते हुए श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के मार्ग में लोग पंक्तिबद्ध हो कर खड़े हो जाते। एक दिन श्रीचन्द्रशेखर आचार्य, श्रीपरमानन्द; श्रीतपन मिश्र तथा श्रील सनातन गोस्वामी आदि पार्षदों के साथ मन्दिर की ओर जाते हुए श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु गा रहे थे—

हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन ॥

इस प्रकार गाते श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु को कीर्त्तन नृत्य करते हुए सहस्रों लोगों ने घेर लिया। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के कीर्त्तन के साथ-साथ वे सब सिंहनाद करने लगे। वह ध्वनि इतनी तुमुल थी कि निकट बैठे हुए श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती भी अपने शिष्यों के साथ अविलम्ब उस जनसमुदाय में सम्मिलित हो गए। श्रीगौरसुन्दर के माधुर्यपूर्ण श्रीविग्रह तथा परिकर सहित उनके नृत्य का दर्शन करते ही प्रकाशानन्द भी सबके साथ गाने लगे: 'हरि! हरि!' भगवान् श्रीगौरसुन्दर के भावमय नृत्य को देख कर सारे वाराणसी-निवासी चकित हो उठे। किन्तु श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने मायावादी संन्यासियों को देख कर अपने स्थायीभाव को रोका। जैसे ही गौरसुन्दर ने कीर्त्तन-नृत्य समाप्त किया, श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती उनके श्रीचरणों में गिर पड़े। उनको रोकने का प्रयत्न करते हुए श्रीचैतन्य-महाप्रभु ने कहा, "श्रीपाद! आप जगद्गुरु हैं। मैं तो आपके शिष्य तुल्य भी नहीं हूँ।" आप परब्रह्म तुल्य हैं; यदि आपको अपने चरण-स्पर्श करने दूँ

तो मैं महान् अपराध कर बैठूँगा। यद्यपि आपकी दृष्टि में द्वैत का अभाव है, फिर भी लोकशिक्षा के लिए आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।"

"पहले अनेक अवसरों पर मैं आपकी निन्दा कर चुका हूँ", श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती ने उत्तर दिया। "अब अपने को पापमुक्त करने के लिए मैं आपके चरणारविन्द में दण्डवत् प्रणाम करता हूँ।" तदुपरान्त उन्होंने वैदिक शास्त्रों से एक श्लोक उद्धृत किया जिसके अनुसार परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का अपराध करने से मुक्त जीव भी माया के बन्धन में आ जाता है। श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती ने श्रीमद्भागवत से एक अन्य श्लोक पढ़ा (१०.३४.९) जो पूर्वजन्म के विद्याधरार्चित नामक गन्धर्व के सर्प रूप में नन्द महाराज पर आक्रमण से सम्बन्धित है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के स्पर्श से उस सर्प को अपना पूर्व शरीर पुनः प्राप्त हो गया, वह अपने पापकर्म के फल से भी मुक्त हो गया। इस प्रकार यह सुनने पर कि वे भगवान् श्रीकृष्ण के समान हैं, श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने मृदु विरोध किया। उनका अभिप्राय साधारण जनता को परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण तथा जीवात्मा की तुलना न करने की चेतावनी देना था, अतः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण होते हुए भी श्रीमन्महाप्रभु ने इस तुलना का विरोध किया। उन्होंने कहा कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से किसी अन्य की तुलना करना सर्वोपरि अपराध है। श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु का यह नित्य उपदेश था कि भगवान् श्रीविष्णु सबसे महान् हैं और महान् से महान् होने पर भी जीव नगण्य हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने वैष्णवतन्त्र (हरिभक्तिविलास—१.७३) में उपलब्ध पद्मपुराण के इस श्लोक का उद्धरण दिया: "जो ब्रह्मा, शिवादि महान् देवताओं तक से भगवान् श्रीकृष्ण की तुलना करता है उसे सर्वोपरि नास्तिक जानना चाहिए।"

"मैं जान गया हूँ कि आप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं", श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती ने आगे कहा, "आपने भक्तरूप धारण किया है, फिर भी विद्या और अनुभूति में हम सबसे महान् होने के कारण आप परम पूज्य हैं। अतः आपकी निन्दा करने से हम घोर अपराध कर बैठे हैं। कृपया हमें क्षमा कीजिए।"

श्रीमद्भागवत (६.१४.५) में सब योगी मुक्तों में भक्त के उत्कर्ष का वर्णन है:—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

"मुक्त और सिद्ध जीव बहुत से हैं, किन्तु उनमें भी भगवान् श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) का भक्त सर्वोत्तम है। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त सदा शान्त एवं गम्भीर रहते हैं। उनकी प्राप्ति कोटि-कोटि मनुष्यों में भी दुर्लभ है।"

श्रीप्रकाशानन्द ने एक अन्य श्लोक सुनाया (श्रीमद्भागवत १०.४.४६) जिसमें कहा गया है कि भक्तापराध से जीव की आयु, ऐश्वर्य यश, धर्म तथा महत्कृपा की भी समाप्ति हो जाती है। श्रीप्रकाशानन्द ने श्रीमद्भागवत से ही एक अन्य श्लोक उद्धृत किया (७.५.३२)। उसके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के स्पर्शमात्र से बद्ध जीव के सब क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। किन्तु शुद्ध कृष्णभक्त के चरणारविन्द के रज-प्रसाद की प्राप्ति बिना परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का स्पर्श नहीं प्राप्त हो सकता। भाव यह है कि श्रीकृष्ण के किसी शुद्ध भक्त की कृपा के बिना कोई भी जीव कभी भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त नहीं बन सकता।

"अब मैं आपके चरणारविन्द की शरण हूँ।" प्रकाशानन्द सरस्वती ने कहा, "क्योंकि मैं भी श्रीश्यामसुन्दर का भक्त बनने का अभिलाषी हूँ।"

इस वार्तालाप के बाद श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती तथा श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु साथ-साथ बैठ गए। "मायावादी दर्शन में आपने जिन असंगतियों का निर्देश किया है, वे सब हम जानते हैं," श्रीप्रकाशानन्द ने कहा। "वस्तुत:, हमें पता है कि वैदिक शास्त्रों पर लिखित सारे मायावादी, विशेषत: शंकराचार्य कृत भाष्य भ्रांतिमूलक हैं। वेदान्तसूत्र पर शंकराचार्य की व्याख्या उनका मनोधर्ममात्र है। आपने वेदान्तसूत्र तथा उपनिषद् के सूत्रों की व्याख्या अपनी कल्पना के अनुसार न करके उनकी यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत की है। अत: आपकी व्याख्या के श्रवण का अवसर प्राप्त होने की हमें प्रसन्नता है। वेदान्तसूत्र तथा उपनिषदों की ऐसी व्याख्या भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता। प्रभो! आप परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के समान सर्वशक्तिमान् हैं, अत: मेरे कल्याण हेतु वेदान्तसूत्र की आगे व्याख्या करें।"

भगवान् कहे जाने का श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु ने विरोध किया। उन्होंने कहा, "श्रीपाद! मैं तो सामान्य जीव हूँ! वेदान्तसूत्र का गम्भीर अर्थ जानना मेरे लिए सम्भव नहीं, किन्तु नारायणावतार श्रील व्यासदेव उसका वास्तविक अर्थ जानते हैं। कोई भी सामान्य जीव अपनी प्राकृत

धारणा से वेदान्तसूत्र की व्याख्या नहीं कर सकता। वेदान्तसूत्र पर अप्रामाणिक लोगों के भाष्यों को रोकने के लिए रचयिता वेदव्यास ने स्वयं श्रीमद्भागवत के रूप में वेदान्तसूत्र का महाभाष्य पहले ही लिख दिया है।" किसी भी ग्रन्थ की सर्वोत्तम व्याख्या स्वयं उसके लेखक द्वारा ही लिखी जा सकती है। जब तक लेखक स्वयं ही अपने लिखने के उद्देश्य को प्रकट न करे, तब तक कोई भी उसके मनोभाव को नहीं जान सकता। इस कारण वेदान्तसूत्र के लेखक द्वारा उसके महाभाष्य के रूप में रचित श्रीमद्भागवत द्वारा ही वेदान्तसूत्र को समझना चाहिए।

प्रणव अथवा ओंकार सम्पूर्ण वेद का अप्राकृत सारतत्त्व है। श्रीमद्-भागवत के ही अनुरूप गायत्री मन्त्र में भी ओंकार की व्याख्या है। इस सम्बन्ध में चार श्लोक हैं, जिनका उपदेश ब्रह्मा को स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया था। ब्रह्मा द्वारा श्रीनारद मुनि ने उन्हें प्राप्त किया तथा नारद मुनि उन्हीं को व्यासदेव को प्रदान किया। इस प्रकार श्रीमद्भागवत के श्लोकों का तात्पर्य गुरु परम्परा द्वारा अवतरित हुआ। किसी को भी वेदान्तसूत्र पर स्वयं मूढ़तापूर्ण व्याख्याएँ रच कर श्रोताओं को मार्गभ्रष्ट करने का अधिकार नहीं है। वेदान्तसूत्र को समझने के लिए श्रीमद्भागवत का गम्भीर अध्ययन अनिवार्य है। नारद मुनि के उपदेशानुसार, वेदान्तसूत्र की व्याख्या करने के प्रयोजन से व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत का प्रणयन किया। श्रीमद्-भागवत लिखने में श्रीव्यासदेव ने वेदान्तसूत्र में वर्णित उपनिषदों के सम्पूर्ण सारतत्त्व को एकत्र किया। अतः श्रीमद्भागवत समस्त वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व है। उपनिषदों में जो कुछ अभिव्यक्त है तथा वेदान्त सूत्र में पुनर्व्यक्त है, वही श्रीमद्भागवत में अतिशय सुन्दरता से वर्णित है।

श्रीमद्भागवत के एक श्लोक (८.१.१०) जैसा ईशोपनिषद् में एक अंश है। उसके अनुसार प्राकृत सृष्टि प्रकाश में जो कुछ दिखता है, वह सब भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति होने से उनसे अभिन्न है। अतएव श्रीकृष्ण सब जीवों के ईश्वर, मित्र तथा भर्त्ता हैं। हमें श्रीकृष्ण की कृपा के आश्रय में रहकर उन्हीं वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए जो हमें प्रदान की जाएँ। इस प्रकार किसी दूसरे के पदार्थ का अपहरण किए बिना जीवन-धारण किया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, उपनिषद्, वेदान्त सूत्र तथा श्रीमद्भागवत का लक्ष्य एक ही है। श्रीमद्भागवत के गम्भीर अध्ययन से ज्ञात होगा कि सब उपनिषदों तथा वेदान्त सूत्र का उसमें अत्यन्त मनोहर वर्णन है। श्रीमद्भागवत हमें

परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को फिर स्थापित करने (सम्बन्ध-तत्त्व), उस सम्बन्ध में क्रियाशील होने (अभिधेय तत्त्व) तथा अन्त में उससे परम लाभ, कृष्णप्रेम (प्रयोजन तत्त्व) प्राप्त करने की शिक्षा प्रदान करता है।

'अहं एव' से प्रारम्भ चार श्लोक सम्पूर्ण भागवत के परम सार निष्कर्ष-स्वरूप हैं। वे इस प्रकार हैं: "सारे जीवों के सम्बन्धों का मैं परम केन्द्र हूँ तथा मेरा ज्ञान ही परम ज्ञान है। जीव द्वारा मेरी प्राप्ति की पद्धति को अभिधेय कहते हैं। उसके द्वारा जीवन की सर्वोपरि संसिद्धि, कृष्णप्रेम की प्राप्ति हो सकती है। कृष्णप्रेमी का जीवन पूर्ण हो जाता है।" इन चार श्लोकों की व्याख्या श्रीमद्भागवत में विद्यमान है; श्रीगौरसुन्दर चैतन्य-महाप्रभु ने इनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन किया। उन्होंने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप, उनकी स्थिति, अप्राकृत गुणावली, लीला-विलास तथा षडैश्वर्य को कोई जान नहीं सकता। इनका ज्ञान मनोधर्म अथवा बौद्धिक विद्या से नहीं होता। भगवद्गीता के उल्लेखानुसार भगवत्कृपा-प्राप्त परम सौभाग्यशाली जीव ही इन व्याख्याओं को समझ सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण प्राकृत सृष्टि से पूर्व विद्यमान थे; अतः प्राकृत तत्त्व, प्रकृति तथा जीवात्माओं का उन्हीं से उद्गम हुआ और प्रलय के बाद श्रीकृष्ण ही उनके आश्रय होंगे। सृष्टि-प्रकाश के समय वे ही इसका पोषण करते हैं; वस्तुतः हमारी दृष्टि में आने वाली सब अभिव्यक्तियाँ उनकी बहिरंगा शक्ति का कार्य है। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा इस बहिरंगा शक्ति का आकर्षण करने पर सब तत्त्व उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं। चतुःश्लोकी के प्रथम श्लोक में 'अहम्' शब्द की तीन बार आवृत्ति की गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगा, बहिरंगा, तटस्था तथा सम्बन्धित शक्तियों, प्राकृत जगत् तथा जीवात्माओं के स्वामी हैं। बहिरंगा शक्ति माया के गुणों के रूप में प्रकाशित होती है। वैकुण्ठ-जगत् में जीवात्मा के स्वरूप को जानने वाला ही वास्तव में 'वेद्यम्' अर्थात् पूर्ण ज्ञान को समझ सकता है। केवल माया तथा बद्धजीव को देखने से कोई परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं जान सकता, किन्तु पूर्ण ज्ञान होने पर वह मायामुक्त हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि चन्द्रमा सूर्य-प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है, सूर्य बिना चन्द्रमा कुछ भी प्रकाशित नहीं कर सकता। इसी प्रकार यह प्राकृत जगत् प्रकाश परव्योम का प्रतिबिम्बमात्र है। बहिरंगा शक्ति से यथार्थ में मुक्त होने पर ही जीव भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप जान सकता है।

श्रीकृष्ण की प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति है। इस भक्ति को जीव किसी भी देश-काल या परिस्थिति में ग्रहण कर सकता है। भक्ति का स्थान धर्म के चार पुरुषार्थों तथा मुक्ति से होने वाले ज्ञान से भी उच्च है। भक्ति के प्रारम्भिक साधन भी मुक्तिजनित बड़े से बड़े ज्ञान तथा सामान्य धर्म ज्ञान से उत्कृष्ट हैं।

अतएव मनुष्य मात्र को जाति, मत, वर्ण, देशादि की चिन्ता किए बिना प्रामाणिक गुरु के निकट जाकर भक्ति के सर्वांग वर्णन का श्रवण करना चाहिए। जीवन का यथार्थ उद्देश्य है—अपने सोए कृष्णप्रेम को जाग्रत करना। वस्तुतः यही हमारी परम आवश्यकता है। कृष्णप्रेम प्राप्ति की पद्धति का श्रीमद्भागवत में वर्णन है। एक ज्ञान होता है और दूसरा विज्ञान होता है। गुरु से प्राप्त शिक्षा की अनुभूति होने पर पूर्ण विज्ञान की प्राप्ति होती है।

अध्याय २३

वेदान्तसूत्र के अध्ययन का प्रयोजन

शास्त्रों से प्राप्त जानकारी को ज्ञान कहते हैं तथा ज्ञान के साक्षात्कार को विज्ञान कहा जाता है। सद्गुरु के माध्यम से शास्त्रों से अर्जित ज्ञान वैज्ञानिक होता है, किन्तु मनोधर्म से व्याख्या करने पर उसे मनोकल्पित कहते हैं। प्रामाणिक सद्गुरु के माध्यम से शास्त्रीय जानकारी को वैज्ञानिक रीति से समझने पर मनुष्य स्वयं अपनी अनुभूति द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की यथार्थ स्थिति जान जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण का अप्राकृत स्वरूप प्राकृत प्रकाश से सर्वथा भिन्न तथा जड़ पदार्थ की प्रतिक्रिया से अतीत है। श्रीभगवान् के दिव्य स्वरूप को वैज्ञानिक दृष्टि से समझे बिना मनुष्य निराकारवादी बन जाता है। सूर्य स्वयंप्रकाश है, किन्तु प्रकाश सूर्य से भिन्न है। फिर भी सूर्य और सूर्य-प्रकाश की स्थिति भिन्न नहीं है, क्योंकि सूर्य के अभाव में सूर्य-प्रकाश सम्भव नहीं तथा सूर्य-प्रकाश बिना 'सूर्य' शब्द का कोई अर्थ नहीं।

माया के प्रभाव से मुक्त हुए बिना परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनकी विविध शक्तियों को नहीं समझा जा सकता। भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के दिव्य स्वरूप को भी माया के वशीभूत व्यक्ति नहीं समझ सकता। भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप की अनुभूति के अभाव में कृष्णप्रेम का तो प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के दिव्य वपु की अनुभूति हुए बिना कृष्णप्रेम की यथार्थ में प्राप्ति नहीं हो सकती और कृष्णप्रेम के बिना जीवन अपूर्ण रहता है। इस प्रकृति के पाँच स्थूल तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश सब जीवों के बाहर—भीतर हैं। उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण इस सृष्टि के अन्दर-बाहर हैं। भक्त इसका अनुभव कर सकते हैं।

शुद्धभक्त जानते हैं कि उनका एकमात्र प्रयोजन भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करना है तथा सब वस्तुओं को परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में लगाया जा सकता है। भक्त जहाँ देखता है, वहीं उसे भगवान् श्रीकृष्ण

के दर्शन होते हैं, क्योंकि उसे हृदयवासी श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त है। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त, उसे कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। श्रीमद्भागवत (११.२.५५) में भक्त और भगवान् के सम्बन्ध की पुष्टि है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाश।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतंप्रधान उक्तः।

"श्रीहरि के चरणारविन्द से जिसका हृदय प्रेमरज्जु द्वारा सदा बँधा रहता है, श्रीभगवान् उसका कभी परित्याग नहीं करते। उसका स्मरण सिद्ध न होने पर भी उसे भागवत प्रधान कहा जाता है।"

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध (१०.३०.४) में इसका एक उदाहरण है। अपने साथ रास-नृत्य के लिए गोपियों के आने पर भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए। इस पर गोपियाँ उच्चस्वर से उनका नाम-गान करने तथा उन्मत्तता-वश श्रीधाम वृन्दावन की पुष्प-लताओं से श्रीकृष्ण की वार्ता पूछने लगीं, क्योंकि श्रीकृष्ण आकाश के समान सर्वत्र वर्त्तमान हैं।

श्रीमद्भागवत के अध्ययन से हम परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध, श्रीकृष्ण-प्राप्ति की पद्धति तथा परम प्रयोजन कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। श्रीप्रकाशानंन्द को भक्ति द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति का वर्णन सुनाते हुए श्रीमहाप्रभु ने श्रीमद्भागवत से एक श्लोक (११.१४.२१) उद्धृत किया। श्रीकृष्ण ने कहा है कि अनन्य विश्वास और प्रेमपूर्ण भक्ति से ही उनकी प्राप्ति होती है। वस्तुतः यह भक्ति ही है जो भक्त के हृदय को पवित्र करके उस उच्चतम अनुभूति के स्तर पर आरूढ़ कर देती है जहाँ वह दृढ़ निष्ठापूर्वक भगवत्सेवा करता है। चाण्डाल आदि नीचकुल में उत्पन्न होने पर भी कृष्णप्रेम की परमावस्था की अनुभूति से वह दिव्य प्रेम-लक्षणों से परिपूरित हो सकता है। श्रीमद्भागवत (११.३.३१) में इन दिव्य प्रेम-लक्षणों का वर्णन है—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥

"अपने भक्तों के हृदय को सब पापकृत्यों से शुद्ध करने में समर्थ श्रीहरि की चर्चा करने से भक्त भाव-विभोर हो जाते हैं; तब उनमें भक्ति के नाना लक्षण प्रकट होते हैं।"

श्रीमद्भागवत (११.२.४०) में पुनः कहा है— "श्रीकृष्ण में रागासक्ति से भक्तगण उनका नाम-कीर्त्तन करते समय कभी रुदन करते हैं, तो कभी मर्यादा शून्य होकर हँसते, नाचते, गाते हैं।"

हमें समझना चाहिए कि श्रीमद्भागवत ब्रह्म सूत्र का यथार्थ भाष्य है, क्योंकि उसके प्रणेता स्वयं वेदव्यास हैं। गरुड़पुराण में उल्लेख है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥
ग्रन्थोऽष्टादशसहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः॥

"श्रीमद्भागवत ब्रह्म सूत्र का प्रामाणिक अर्थ तथा महाभारत की व्याख्या है। यह गायत्रीमन्त्र का भाष्यरूप तथा सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का सार है। अठारह हजार श्लोकों के श्रीमद्भागवत में सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों की व्याख्या है।"

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में ही नैमिषारण्य के ऋषियों ने श्रीसूत गोस्वामी से वैदिक ज्ञान का सार जानने की विधि पूछी है। उत्तर में श्रीसूत गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत को अखिल वेदशास्त्र, इतिहासादि के सार के रूप में प्रस्तुत किया। श्रीमद्भागवत में अन्यत्र भी (१२.१३.१५) स्पष्ट उल्लेख है कि श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदान्त-ज्ञान का सार है। इस श्रीमद्भागवत का आस्वादन करने पर अन्य ग्रन्थों के अध्ययन में रुचि नहीं रहती। श्रीमद्भागवत के पहले ही श्लोक में गायत्रीमन्त्र का अर्थ और प्रयोजन भी वर्णित है— "मैं परम सत्य को प्रणाम करता हूँ।" परम सत्य के सम्बन्ध में यह आरम्भिक श्लोक है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत में प्राकृत सृष्टि के स्रष्टा, पालक और संहारक के रूप में है। भगवान् श्रीवासुदेव को प्रणाम (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) से स्वयं देवकी-वसुदेव के दिव्य पुत्र श्रीकृष्ण का निर्देश है। श्रीमद्भागवत में आगे यही सत्य और अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। व्यासदेव की घोषणा है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं तथा अन्य सभी उनके अंश-कला हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने 'कृष्णसन्दर्भ' में इस तत्त्व को अधिक स्पष्ट किया है। आदिजीव ब्रह्मा ने भी अपनी ब्रह्मसंहिता में भगवान् श्रीकृष्ण का वर्णन किया। सामवेद इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भगवान् श्रीकृष्ण देवकी के दिव्य पुत्र हैं।

अपनी प्रार्थना में श्रीमद्भागवत के रचयिता सर्वप्रथम निवेदन करते हैं कि श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं तथा यदि परम सत्य श्रीभगवान् का कोई अप्राकृत नाम हो सकता है तो वह सर्वाकर्षक 'कृष्ण' नाम ही होगा। भगवद्-गीता में श्रीकृष्ण ने अनेक श्लोकों में स्वीकार किया है कि वे स्वयं भगवान् हैं। इसकी पुष्टि श्रीनारद, व्यासादि ऋषियों का प्रमाण देकर अर्जुन ने भी की है। पद्मपुराण में उल्लेख है कि अनन्त भगवन्नामों में श्रीकृष्णनाम

सर्वप्रधान है। वासुदेव नाम श्रीकृष्ण के अंश का संकेत करता है और वैसे भी विविध भगवत् विग्रहों में अभेद है, परन्तु इस सन्दर्भ में 'वासुदेव' से प्रधानतः देवकी-वसुदेव के दिव्य पुत्र निर्दिष्ट हैं। भगवान् श्रीकृष्ण परमहंसों के नित्य-ध्येय हैं। श्रीवासुदेव अथवा श्रीकृष्ण सर्वकारणों के कारण हैं: सारे विद्यमान तत्त्व उन्हीं से निकले हैं। श्रीमद्भागवत के अगले अध्यायों में इसका विवरण है।

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को अमल पुराण कहा, क्योंकि उसमें केवल भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं का वर्णन है। श्रीमद्भागवत का इतिहास भी अतिशय यशोमय है। इसकी रचना व्यासदेव ने की थी। गुरु नारद मुनि की शिक्षानुसार उन्होंने अप्राकृत ज्ञान के अपने परिपक्व अनुभव का प्रयोग किया। व्यासदेव ने चारों वेद, वेदान्तसूत्र, पुराणों तथा महाभारत का प्रणयन कर लिया था, परन्तु श्रीमद्भागवत रचने से पूर्व उनको सन्तोष नहीं हुआ। उनके गुरु नारद जी ने उनके असन्तोष को देखते हुए उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं का वर्णन करने की आज्ञा दी। भगवान् श्रीकृष्ण की अप्राकृत लीलाओं का विशेष वर्णन श्रीमद्-भागवत के दशम स्कन्ध में हुआ है, अतः उसी को पूरी रचना का सार-सर्वस्व समझा जाता है। किन्तु सीधे दसवें स्कन्ध पर न जाकर, पहले वर्णित ज्ञान को प्राप्त करके फिर शनैः शनैः दसवें स्कन्ध का अध्ययन करना चाहिए।

प्रायः दार्शनिक मन सम्पूर्ण सृष्टि के उद्गम की जानकारी का जिज्ञासु होता है। जब कोई दार्शनिक रात्रि में आकाश देखता है तो स्वभावतः उसके मन में नक्षत्रगण, उनकी स्थिति, उनके निवासी आदि के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। मनुष्य के लिए ये जिज्ञासाएँ बिल्कुल स्वाभाविक हैं, क्योंकि पशुओं की तुलना में मनुष्य में बुद्धि का कहीं अधिक विकास है। ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में श्रीमद्भागवत का कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण सारी सृष्टि के उद्गम हैं। स्रष्टा ही नहीं, अपितु इसके पालक और संहारकारक भी वही हैं। श्रीकृष्ण की इच्छानुसार प्रकाशित प्राकृत-सृष्टि की समय पर रचना होती है, कुछ काल तक पालन होता है और फिर श्रीकृष्ण की इच्छा-नुसार उसका विनाश हो जाता है। अतः सब क्रियाओं के पीछे उनका परम संकल्प है।

अवश्य ही नाना प्रकार के नास्तिक, स्रष्टा में विश्वास नहीं रखते। इसका कारण उनका अज्ञान ही है। आधुनिक वैज्ञानिक अन्तरिक्ष यान

(स्पुतनिक) बनाकर किसी विधि से उन्हें वैज्ञानिक नियन्त्रण में बाह्य अंतरिक्ष में उड़ने को छोड़ता है। सारे ब्रह्माण्ड तथा उनमें स्थित लोकों की इन यानों से तुलना हो सकती है? वास्तव में वे सभी श्रीभगवान् द्वारा नियन्त्रित हैं।

वैदिक साहित्य में उल्लेख है कि परतत्त्व श्रीभगवान् सब जीवधारी चेतनों में अग्रगण्य हैं। आदि जीव ब्रह्मा से लेकर छोटी चींटी तक सब जीवधारी पृथक्-पृथक् जीवात्मा हैं। ब्रह्मा से श्रेष्ठ निजी स्वरूप वाले भी जीव हैं। श्रीभगवान् भी जीवधारी हैं, अन्य जीवों की भाँति उनका भी निजी स्वरूप है। किन्तु भगवान् परमात्मा हैं, महानतम मन-बुद्धि तथा विविध अचिन्त्य शक्तियों के स्वामी हैं। यदि एक मनुष्य का मन अन्तरिक्ष यानों का निर्माण कर सकता है तो यह विचारणीय है कि मनुष्य के मन से श्रेष्ठ मन कहीं उत्तम पदार्थ बना सकता है। विवेकबुद्धि वाला इस तर्क को स्वीकार करेगा, पर दृढ़ हठधर्मी नहीं।

श्रील व्यासदेव परम चैतन्य को तुरन्त भगवान् स्वीकार करते हैं। भगवद्‌गीता तथा व्यास-रचित सब शास्त्रों के उल्लेखानुसार परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं। श्रीमद्‌भागवत में यह विशेष रूप से प्रमाणित है। भगवद्‌गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि उनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई परतत्त्व नहीं है। अतएव ग्रन्थकार अविलम्ब परतत्त्व स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम करते हैं, जिनकी अप्राकृत लीलाओं का दशम-स्कन्ध में वर्णन है।

विवेकशून्य लोग तुरन्त दसवें स्कन्ध, विशेषतः रास-पंचाध्यायी पर जा पहुँचते हैं, किन्तु श्रीमद्‌भागवत का यह अंश उस महान् ग्रन्थ का सर्वाधिक गोपनीय अंश है। जब तक कोई श्रीकृष्ण के अप्राकृत ज्ञान में पूर्ण निष्णात् नहीं हो जाता, तब तक रासलीला में भगवान् श्रीकृष्ण की आराध्या अलौकिक लीलाओं तथा श्रीकृष्ण-गोपियों के प्रेम में वह अवश्य भ्रमित हो जाएगा। यह विषय अतिशय दिव्य तथा विशिष्ट रूप से सैद्धान्तिक है। परमहंस जीवन्मुक्त ही आराध्या रासलीला का दिव्य आस्वादन करने के पात्र हैं।

अतः श्रील व्यासदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अप्राकृत लीला-सार के यथार्थ आस्वादन से पूर्व श्रोता को दिव्य ज्ञान में क्रमशः प्रगति करने का अवसर प्रदान करते हैं। इसी कारण व्यासदेव ने आशय-पूर्वक गायत्रीमन्त्र की प्रार्थना की है: 'धीमहि'। यह गायत्रीमन्त्र विशेषतः आत्मोन्नत मनुष्यों के लिए है। गायत्रीमन्त्र की जप-सिद्धि होने पर

भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य स्थिति में प्रवेश हो सकता है। किन्तु सर्वप्रथम गायत्रीमन्त्र के सफल जप के लिए ब्रह्म गुणों के अर्जन से सत्त्वगुण में स्थिति होना आवश्यक है। उस स्थिति से श्रीकृष्ण, कृष्णनाम, कृष्णरूप, यश, गुणादि की चिन्मय अनुभूति होती है। श्रीमद्भागवत में अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रकाशित भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन है। यह शक्ति हमारी अनुभवगम्य प्राकृत सृष्टि की प्रकाशक बहिरंगा शक्ति से भिन्न है। श्रील व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में ही अन्तरंगा-बहिरंगा शक्तियों में स्पष्ट भेद किया है। उस श्लोक में उन्होंने कहा है कि अन्तरंगा शक्ति वास्तविक सत्य है, जबकि प्राकृत सृष्टि रूपी बहिरंगा शक्ति अनित्य और मायिक है। उसकी सत्यता मृगतृष्णा जैसी है। मृगतृष्णा में जल प्रतीत होता है, किन्तु यथार्थ जल तो कहीं अन्यत्र है। इसी प्रकार प्रकट सृष्टि सत्य प्रतीत होती है, पर वास्तव में तो वह परव्योमस्थ यथार्थ सत्य की छाया मात्र है। परव्योम में मृगतृष्णा जैसा भ्रम नहीं होता। वहाँ परतत्त्व है, इस प्राकृत जगत् में वह नहीं है। यहाँ सब कुछ द्वैतात्मक (सापेक्ष्य) है, एक सत्य अन्य पर निर्भर है। यह सांसारिक सृष्टि माया के तीन गुणों की परस्पर प्रक्रिया का कार्य है। अनित्य सृष्टि का सृजन बद्ध जीव के मोहित मन के प्रति सत्य का भ्रम प्रस्तुत करने के लिए हुआ है। इस कारण ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि उच्च देवों सहित जीवन की कितनी ही योनियाँ दिखाई देती हैं। वास्तव में प्राकृत जगत् में कोई सत्यता नहीं है, सत्यता की प्रतीति होती है, यथार्थ सत्य तो वैकुण्ठ जगत् में है, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने अप्राकृत वैशिष्ट्य के साथ नित्य विराजमान हैं।

किसी जटिल निर्माण का मुख्य इंजीनियर उस में स्वयं भाग नहीं लेता। फिर भी एक वही है जो निर्माण के कोने-कोने को जानता है, क्योंकि सब कुछ उसके आदेशानुसार होता है अर्थात्, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसे निर्माण की पूरी जानकारी रहती है। इसी प्रकार, इस सांसारिक सृष्टि के उच्चतम इंजीनियर भगवान् श्रीकृष्ण सृष्टि के प्रत्येक अंश की घटनाओं से चिरपरिचित हैं, यद्यपि क्रियाएँ किसी अन्य द्वारा सम्पादित प्रतीत होती हैं। यथार्थ में प्राकृत सृष्टि में कोई भी स्वतन्त्र नहीं है; परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का हाथ सर्वत्र है। सब प्राकृत तत्त्वों तथा चिन्मय स्फुलिंगों (आत्माओं) के वे ही उद्गम हैं। प्राकृत जगत् की सारी सृष्टि प्राकृत एवं अप्राकृत शक्तियों की परस्पर प्रक्रिया से होती है। इन शक्तियों के स्वामी परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

हाइड्रोजन-आक्सीजन को मिलाकर रसायनशास्त्री प्रयोगशाला में

जल बना सकता है, किन्तु यथार्थ में जीवात्मा परम-ईश्वर श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार ही कार्य कर सकता है। वास्तव में रसायनशास्त्री जितने भी तत्त्वों का उपयोग करते हैं, वे सब श्रीकृष्ण देते हैं। श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सब कुछ जानते हैं तथा प्रत्येक वस्तु की सारी सूक्ष्मताओं के भी पूर्ण ज्ञाता हैं। साथ ही, वे **'स्वराट्'** (पूर्ण स्वतन्त्र) हैं। उनकी तुलना स्वर्ण की खान से की जा सकती है, जबकि प्राकृत सृष्टि स्वर्ण निर्मित अंगूठी, हारादि आभूषणों के तुल्य है। स्वरूप में स्वर्ण-आभूषण तथा स्वर्णकार के स्वर्ण में अभेद है, किन्तु परिमाण में (तत्त्व में) स्वर्ण की खान तथा आभूषणों के स्वर्ण में भेद है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का परतत्त्व का दर्शन भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी सृष्टि में अचिन्त्य भेदाभेद पर केन्द्रित है। परम सत्य के तुल्य कुछ नहीं है; किन्तु साथ-साथ, कोई उससे स्वतन्त्र भी नहीं है।

इस ब्रह्माण्ड के इंजीनियर ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक सबके सब बद्ध जीव कुछ न कुछ निर्माण कर रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई भी भगवान् श्रीकृष्ण से स्वतन्त्र नहीं है। जड़वादी अनुचित रूप से सोचते हैं कि उनके अतिरिक्त कोई दूसरा स्रष्टा नहीं है। इसका नाम माया है। ज्ञान के अभाव के फलस्वरूप जड़वादी अपनी अपूर्ण, दोषयुक्त इन्द्रियों की सीमा से बाहर नहीं देख सकता; अतः वह समझता है कि जड़-तत्त्व चेतन-मूल से स्वतन्त्र अपने आप आकार ग्रहण करता है। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में श्रील व्यासदेव ने इसका खण्डन किया है। पूर्व वर्णनानुसार, व्यासदेव जीवन्मुक्त महापुरुष हैं तथा अप्राकृत संसिद्धि के उपरान्त ही उन्होंने अपने प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। परम सत्य सबका उद्गम है, उससे कुछ भी स्वतन्त्र नहीं है। सब कुछ परतत्त्व के वपु में विद्यमान है। शरीर के किसी भी अंग की क्रिया अथवा प्रक्रिया को शरीर का अंगी जानता है। इसी प्रकार, यदि सृष्टि परतत्त्व के वपु में स्थित है तो प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से परतत्त्व को कुछ भी अज्ञात नहीं।

श्रुतिमन्त्र में उल्लेख है कि ब्रह्म सबका परम कारण है। सब कुछ उससे प्रकट होता है; उसी से पालित होकर अन्त में उसी में पुनः प्रविष्ट हो जाता है। यह प्रकृति का नियम है। श्रुतिमन्त्र में इसकी भी पुष्टि है। वहाँ उल्लेख है कि ब्रह्मकल्प के प्रारम्भ में ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न होता है तथा उस कल्प के अन्त में वही सबका आश्रय होता है। जड़वादी वैज्ञानिक असंगत रूप से मान बैठते हैं कि इस लोक-व्यवस्था का परम कारण सूर्य है, किन्तु सूर्य का कारण वे नहीं बता सकते। वैदिक साहित्य में परम कारण

का वर्णन है; ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, किन्तु वे परम स्रष्टा नहीं हैं; इस सृष्टि की प्रेरणा के लिए उन्हें ध्यान करना पड़ा था। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोकानुसार, भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान प्रदान किया। वहाँ यह भी उल्लेख है कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उपस्रष्टा ब्रह्मा को प्रेरित किया तथा सृजन-कार्य के लिए ब्रह्मा को समर्थ किया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अधीक्षण इंजीनियर हैं; सारे सृजन-साधनों के पीछे यथार्थ प्रेरक वे ही हैं। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे प्रकृति के अध्यक्ष हैं। अतः व्यासदेव ब्रह्मा अथवा सूर्य की वन्दना न करके ब्रह्मा तथा सूर्य को उनके सृजन-कार्यों में प्रेरित करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना करते हैं।

श्रीमद्भागवत के आरम्भिक श्लोक में 'अभिज्ञ' तथा **'स्वराट्'** शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। ये अन्य सब जीवों से भगवान् श्रीकृष्ण की विशेषता व्यक्त करते हैं। परमात्मा परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई भी जीव 'अभिज्ञ' तथा 'स्वराट्' नहीं है; उनमें कोई पूर्णतः सर्वज्ञ अथवा पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक जीव को अपने से श्रेष्ठ जीव से ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है; इस प्राकृत जगत् के प्रथम जीव ब्रह्मा को भी सृष्टि के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान कर उनसे सहायता लेनी पड़ी। यदि ब्रह्मा अथवा सूर्य अपने से श्रेष्ठ से ज्ञान ग्रहण किए बिना कुछ सृजन नहीं कर सकते, तो नाना वस्तुओं पर पूर्णतः निर्भर रहने वाले प्राकृत वैज्ञानिकों की क्या स्थिति है? जगदीशचन्द्र बोस, आइजॅक न्यूटन, ऐल्बर्ट आइन्सटीन जैसे आधुनिक वैज्ञानिक भले ही अपनी सृजन शक्तियों पर गर्व करें; किन्तु वास्तव में वे सब के सब कितनी ही वस्तुओं के लिए परम ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण पर निर्भर थे। और तो और, इन वैज्ञानिकों की उच्च बुद्धि निश्चित रूप से किसी मनुष्य ने नहीं बनाई थी। बुद्धि की रचना कोई और करता है। यदि आईन्सटीन अथवा न्यूटन के-से मस्तिष्क की रचना मानव कर सकता तो उनकी स्तुति करने के स्थान पर मानवसमाज ऐसे अनेक मस्तिष्क बना लेता। यदि वैज्ञानिक भी ऐसे मस्तिष्क निर्मित नहीं कर सकते तो उन नास्तिकों का क्या कहना, जो भगवान् श्रीकृष्ण की अवज्ञा करते हैं।

अपने को ईश्वर मानने वाले आत्म-प्रशंसक मायावादी भी 'अभिज्ञ' अथवा 'स्वराट्' नहीं हैं। मायावादी अद्वैती भगवान् से एक होने के ज्ञान के लिए त्याग-तपश्चर्या की कठोर पद्धति का अनुशीलन करते हैं; किन्तु अन्त में

वे महान् मठ तथा मन्दिर बनाने के लिए आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाले किसी न किसी धनाढ्य शिष्य के ही आश्रित हो जाते हैं। भगवान् की अवज्ञा करने से पूर्व रावण, हिरण्यकशिपु आदि नास्तिकों को तीव्र तपश्चर्या करनी पड़ी थी। परन्तु वे भी इतने असमर्थ हो गए कि क्रूर कालरूपी श्रीभगवान् से अपनी रक्षा भी नहीं कर सके। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभुत्त्व की अवज्ञा करने वाले आधुनिक नास्तिकों के लिए भी यही उचित है। ऐसे नास्तिकों को वही पुरस्कार मिलेगा जो पूर्व में रावण, हिरण्यकशिपु आदि महान् नास्तिकों को प्राप्त हुआ था। इतिहास अपने को दोहराता है, जो पूर्व में हो चुका है, आवश्यकता होने पर भविष्य में बारम्बार उसकी आवृत्ति होगी। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभुत्त्व की कभी भी अवहेलना हो, प्राकृतिक नियमों के दण्ड अवश्य उपस्थित होते हैं।

सब श्रुति मन्त्रों का प्रमाण है कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण सर्वविध परिपूर्णतम हैं। श्रुतिमन्त्रों में उल्लेख है कि सर्वविध परिपूर्णतम श्रीकृष्ण ने प्रकृति पर दृष्टि डालकर उसमें सब जीवों का गर्भाधान किया। जीवात्मा श्रीभगवान् के विभिन्न अंश हैं और श्रीभगवान् ही प्रकृति को अप्राकृत स्फुलिंग-बीजों से गर्भधारण कराते हैं। इस प्रकार सृजन शक्तियाँ अनेक अद्भुत सृजन करने के लिए क्रियान्वित हो जाती हैं। जब एक नास्तिक ने तर्क किया कि ईश्वर की निपुणता अनेक जटिल अंगों वाली घड़ी के निर्माता से अधिक नहीं है तो हमें कहना पड़ा कि ईश्वर घड़ी-निर्माता से श्रेष्ठ शिल्पी है, क्योंकि वह स्त्री-पुरुष रूप में केवल एक यन्त्र बनाता है। इसके बाद वे नर-नारी ईश्वर के ध्यान के बिना उसी प्रकार के असंख्य यन्त्र बनाते रहते हैं। मनुष्य को ईश्वर के समान बुद्धिमान् तभी माना जा सकता है जब वह ऐसे यन्त्र बना ले जो मनुष्य के निरीक्षण बिना अन्य यन्त्र बना सकें। अवश्य ही यह सम्भव नहीं। मनुष्य-निर्मित किसी भी अपूर्ण यन्त्र के लिए चालक की आवश्यकता है। श्रीभगवान् के समान बुद्धिमान् कोई नहीं हो सकता। अतः उनका एक नाम **'असमोर्ध्व'** है। प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि के बराबर तथा उससे श्रेष्ठा बुद्धि है। कोई यह नहीं कह सकता कि उसकी बुद्धि के समान अथवा उससे श्रेष्ठ बुद्धि नहीं है। किन्तु श्रीभगवान् के विषय में ऐसा नहीं है। श्रुति मन्त्रों में उल्लेख है कि प्राकृत ब्रह्माण्ड की सृष्टि से पूर्व श्रीभगवान् विद्यमान थे तथा वही सर्वेश्वर हैं। श्रीभगवान् ने ही ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान की शिक्षा प्रदान की। उनकी आज्ञा का पूर्ण पालन आवश्यक है। प्राकृत बन्धन से मुक्ति के इच्छुक को भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में अवश्य चले जाना चाहिए। भगवद्गीता में इसकी पुष्टि है।

श्रीकृष्ण-चरणारविन्द में शरणागत हुए बिना ज्ञानी भी निश्चित रूप से भ्रमित होगा। भगवद्‌गीता (७.१९) के अनुसार श्रीवासुदेव के शरणागत होकर उन्हें सब कारणों का कारण जान कर ही ज्ञानवान्, महात्मा बन सकते हैं। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं। केवल वही परम-ईश्वर श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण सृष्टि के आदिकारण परतत्त्व भगवान् के रूप में जान सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण परम सत्य हैं, क्योंकि अन्य सभी सत्य उन पर आधारित हैं। सम्पूर्ण ज्ञान के उद्‌गम होने से वे सर्वज्ञ हैं; आंशिक ज्ञानी के समान उनके लिए मोह नहीं है।

अनेक मायावादी विद्वान् तर्क करते हैं कि श्रीमद्‌भागवत व्यासदेव-रचित नहीं है। कुछ कहते हैं कि यह ग्रन्थ आधुनिक काल में किसी 'बोपदेव' की रचना है। इस निरर्थक तर्क का खण्डन करते हुए श्रील श्रीधर स्वामी का निर्देश है कि प्राचीन से प्राचीन पुराणों में श्रीमद्‌भागवत का उल्लेख है। श्रीमद्‌भागवत का प्रथम श्लोक गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ होता है। मत्स्यपुराण (प्राचीनतम पुराण) में इसका उल्लेख है। श्रीमद्‌भागवत में आए गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में मत्स्यपुराण में उल्लेख है: "जिसके आदि में गायत्री मन्त्र है, अनेक दिव्य शिक्षाओं से युक्त तथा वृत्रासुर के इतिहास वाले पुराण को श्रीमद्‌भागवत कहते हैं। जो पूर्णिमा को इस महान् ग्रन्थ का दान करता है, वह जीवन की सर्वोच्च संसिद्धि तथा कृष्णलोक प्राप्त करता है।" अन्य पुराणों में श्रीमद्‌भागवत के विषय में यहाँ तक उल्लेख है कि इस ग्रन्थ में बारह स्कन्ध तथा अठारह हजार श्लोक हैं। पद्मपुराण में भी गौतम तथा महाराज अम्बरीष के सम्वाद में श्रीमद्‌भागवत का उल्लेख हुआ है। महाराज अम्बरीष को मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रीमद्‌भागवत का नित्य परायण करने का उपदेश दिया गया। इस स्थिति में श्रीमद्‌भागवत की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं रहती। पिछली पाँच शताब्दियों में अनेक विद्वानों ने श्रीमद्‌भागवत पर विस्तृत भाष्यों की रचना कर अद्वितीय विद्वत्ता का परिचय दिया है। श्रीमद्‌भागवत की अलौकिक कथाओं का अधिक सुखद आस्वादन करने वाले गम्भीर विद्यार्थी के लिए उनके अध्ययन का प्रयास श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने विशेष रूप से सब प्राकृत दूषणों से रहित 'आदिरस' का वर्णन किया है। काम के मूल सिद्धान्त के आधार पर ही सारा प्राकृत जगत् घूम रहा है। आधुनिक मानवीय सभ्यता में काम सारी क्रियाओं का केन्द्र है। हम जहाँ देखते हैं, वहीं काम छाया हुआ है। अतः काम असत्य नहीं है; उसकी वास्तविक यथार्थता का अनुभव वैकुण्ठ जगत्

में होता है। प्राकृत काम आदिरस की उल्टी छाया है, आदिरस की प्राप्ति परम सत्य में है। यह प्रमाणित करता है कि परम सत्य साकार है, क्योंकि निराकार में आदिरस का भाव नहीं हो सकता। परम सत्य के निराकारत्व को अत्यधिक महत्त्व देकर अद्वैत दर्शन घृणित प्राकृत काम को एक प्रकार से बढ़ावा देता है। यथार्थ दिव्य काम का ज्ञान न होने से अज्ञानी मनुष्य उसके विकृत रूप को ही सर्वोपरि मान बैठे हैं:, भवरोग और मुक्तावस्था के काम में अन्तर है। श्रीमद्भागवत पक्षपात रहित पाठक को क्रमशः त्रिगुणमयी प्राकृत क्रियाओं, सकाम कर्म, मनोधर्म तथा वेद-वर्णित-देवोपासना से परे परम संसिद्धि के दिव्य स्तर पर आरूढ़ कर देता है। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति का मूर्तरूप श्रीमद्भागवत अन्य सब वैदिक ग्रन्थों से श्रेष्ठ है।

धर्म के चार प्रधान विषय हैं:— १) पुण्यकर्म, २) अर्थ, ३) काम तथा ४) मोक्ष। धार्मिक जीवन बर्बरतापूर्ण अधार्मिक जीवन से भिन्न हैं। वस्तुतः कहा जा सकता है कि मानव जीवन यथार्थ में धर्म से ही प्रारम्भ होता है। पशु जीवन के चार आधार— खाना, सोना, भय तथा मैथुन—ये सब पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। धर्म मनुष्यों की विशेषता है। अतएव धर्मविहीन मानव जीवन पशु जीवन से बिल्कुल भी श्रेष्ठ नहीं। इसलिए सच्चे मानव समाज में किसी न किसी रूप में ऐसा धर्म अवश्य रहता है, जो आत्म-साक्षात्कार और भगवान् से जीव के सम्बन्ध का लक्ष्य करता है।

मानव सभ्यता के अधम स्तर पर प्रकृति पर प्रभुत्त्व के लिए मनुष्यों में निरन्तर स्पर्धा लगी रहती है, इन्द्रियतृप्ति के लिए निरन्तर विरोध रहता है। इन्द्रियतृप्ति की अभिलाषी मति से प्रेरित होकर मनुष्य कर्मकाण्ड करता है। इस प्रकार पुण्यकर्म तथा धार्मिक कृत्य किसी प्राकृत लाभ के लिए किए जाते हैं। यदि ऐसा लाभ किसी अन्य विधि से हो सकता हो तो इस तथाकथित धर्म की भी उपेक्षा कर दी जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आधुनिक मानव सभ्यता में देखा जा सकता है। इस समय कोई धर्म में रुचि नहीं रखता, क्योंकि लोगों को अपनी आर्थिक वांछा धर्म के बिना ही पूरी होती दिखती है। चर्च, मस्जिद तथा मन्दिर प्रायः शून्य रहते हैं, क्योंकि लोगों की अभिरुचि कारखानों, दुकानों तथा चलचित्रों (सिनेमा) में अधिक है। उन्होंने अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित धर्म-स्थानों को त्याग दिया है। यह सिद्ध करता है कि सामान्यतः धर्म का अनुष्ठान धन के लिए होता है और धन आवश्यक है इन्द्रियतृप्ति के लिए। इन्द्रियतृप्ति के प्रयत्न में निराश होने पर मनुष्य परम सत्य से एक होने के लिए मोक्ष का प्रयत्न करता है। इन सारी क्रियाओं का एकमात्र प्रेरक उद्देश्य है—इन्द्रियसुख।

वेदों में उपरोक्त चारों प्राथमिक विषयों की नियमित व्यवस्था है जिससे इन्द्रियतृप्ति के लिए अनावश्यक प्रतिस्पर्धा न हो। किन्तु श्रीमद्-भागवत प्राकृत जगत् की सारी इन्द्रियतृप्ति प्रदायक क्रियाओं से अतीत है। यह विशुद्ध दिव्य ग्रन्थ है तथा इन्द्रियतृप्ति में प्रतिस्पर्द्धा से ऊपर उठे कृष्णभक्त ही इसे समझ सकते हैं। प्राकृत जगत् में इन्द्रियतृप्ति के लिए पशु, मनुष्य तथा समाज और राष्ट्रों में भी तीव्र स्पर्द्धा है, किन्तु कृष्णभक्त इस सबसे ऊपर हैं। भक्तों को योगियों के साथ स्पर्द्धा की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे तो अपने यथार्थ घर, उस भगवद्धाम की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हैं, जहाँ सब कुछ सच्चिदानन्दमय है। ऐसे जीव पूर्ण निर्मत्सर तथा शुद्ध हृदय होते हैं। प्राकृत जगत् में सभी ईर्ष्या-द्वेष से भरे हैं, इसलिए यहाँ स्पर्द्धा है। कृष्ण-भक्त लौकिक ईर्ष्या मत्सर से पूर्ण मुक्त ही नहीं होते, श्रीभगवान् पर केन्द्रित स्पर्द्धारहित समाज के निर्माण का प्रयत्न करके सब पर कृपा भी करते हैं।

समाजवादियों का स्पर्द्धारहित समाज विषयक विचार मिथ्या ही है, क्योंकि समाजवादी राज्यों में भी सत्ता की स्पर्द्धा चलती रहती है। यह तथ्य है कि इन्द्रियतृप्ति संसार का मूल सिद्धान्त है। इसका अनुभव वेदाध्ययन अथवा मनुष्य की सामान्य क्रियाओं का निरीक्षण करने से हो सकता है। वेद उच्च लोकों की प्राप्ति कराने वाले सकाम कर्मों की स्तुति करते हैं। उनमें देवलोक प्राप्ति के लिए देवोपासना की भी प्रशंसा है। फिर वे परतत्त्व की प्राप्ति तथा उसके निर्गुणरूप की अनुभूति एवं उससे ऐक्य कराने वाली क्रियाओं की स्तुति करते हैं, किन्तु परतत्त्व का निराकार रूप सर्वोपरि नहीं है। निराकार रूप से ऊपर परमात्मा स्वरूप है तथा उस से भी उच्च हैं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। श्रीमद्भागवत निर्विशेष से परे परम सत्य के साकार चिद्गुणों का वर्णन करता है। इन गुणों की कथा निराकार मनोधर्म के विषय से अति श्रेष्ठ है। अत: श्रीमद्भागवत का स्थान वेद के ज्ञानकाण्ड से उच्च है। श्रीमद्भागवत कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड से भी उच्च है, क्योंकि उसमें वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना का गान हुआ है। वेदों का कर्मकाण्ड इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वर्ग के लोकों की प्राप्ति की प्रतिस्पर्द्धा से परिपूर्ण है। यही स्पर्द्धा ज्ञानकाण्ड तथा उपासना-काण्ड में भी लक्षित होती है। श्रीमद्भागवत के एकमात्र प्रयोजन सर्वकारण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं; अत: श्रीमद्भागवत इन सबसे श्रेष्ठ है।

भाव यह है कि श्रीमद्भागवत से हम सार स्वरूप परतत्त्व तथा उसके आश्रित तत्त्वों को वास्तविक अर्थ और परिप्रेक्ष्य में जान सकते हैं। सार-स्वरूप परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा उनसे निस्सृत शक्ति के नाना रूप

आश्रित तत्त्व हैं। वास्तव में उस सार तत्त्व से भिन्न कुछ भी नहीं है, क्योंकि जीव का सम्बन्ध भी उनकी शक्तियों से ही है। साथ ही, शक्तियाँ तत्त्व से भिन्न हैं। प्राकृत दृष्टि से, यह मत परस्पर असंगत लग सकता है, किन्तु श्रीमद्भागवत में इस अचिन्त्य भेदाभेद का स्पष्ट विवरण है। **'जन्माद्यस्य यतः'** से प्रारम्भ वेदान्तसूत्र में भी यह दर्शन प्राप्त होता है। परम सत्य में अचिन्त्य भेदाभेद का ज्ञान जन-जन का कल्याण करने को दिया गया है। मनोधर्मी भगवत्शक्ति को परात्पर बता कर लोगों को मोहित करते हैं किन्तु अचिन्त्य भेदाभेद का सत्य समझने पर अद्वैत और द्वैत के अपूर्ण मत सन्तुष्ट नहीं कर सकते। भगवान् और उनकी सृष्टि में अचिन्त्य भेदाभेद के ज्ञान से जीव त्रिविध (आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक) तापों से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

परम पुरुष श्रीकृष्ण के चरणों में जीव की शरणागति से श्रीमद्भागवत का शुभारम्भ होता है। यह शरणागति चिद्गुणों में ब्रह्म से भक्त की एकता और साथ-साथ नित्य दास के स्वरूप की चेतना के साथ होती है। देहात्मबुद्धि में जीव अपने को प्रकृति का स्वामी समझता है। इसीलिए वह जीवन के त्रिविध तापों से सदा पीड़ित रहता है। भक्ति में अपने स्वरूप को पाते ही उसके सब पाप-ताप दूर हो जाते हैं। देहात्मबुद्धि में कृष्ण-दास-स्वरूप आवृत्त रहता है। प्रकृति पर प्रभुत्त्व के प्रयास में जीव प्रकृति की सेवा के लिए बाध्य हो जाता है। आत्मस्वरूप की शुद्ध चेतना में जब इस सेवा को भगवान् श्रीकृष्ण में लगा दिया जाता है तो जीवात्मा उसी क्षण प्राकृत आसक्ति के विघ्नों और कष्टों से मुक्त हो जाती है।

इसके अतिरिक्त, श्रीमद्भागवत वेदान्तसूत्र पर व्यासदेव का भगवत्-प्राप्ति के बाद स्वयंरचित भाष्य है। श्रीनारद की कृपा से वे इसे लिखने में समर्थ हुए। व्यासदेव भगवान् श्रीनारायण के अवतार हैं; उनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध है। वे सारे वैदिक साहित्य के प्रणेता हैं, पर फिर भी उन्होंने श्रीमद्भागवत-श्रवण का विशेष परामर्श दिया है। अन्य पुराणों में देवोपासना की विविध विधियों का भी वर्णन है; श्रीमद्भागवत में केवल स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का उल्लेख है। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण रूपी पूर्ण वपु के देवता अंगमात्र हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना करने पर देवोपासना अनावश्यक हो जाती है, परम-ईश्वर श्रीकृष्ण सब देवताओं के हृदय में हैं। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को अमल पुराण बताकर अन्य पुराणों से उसकी श्रेष्ठता प्रकट की।

भगवत्कथा के ग्रहण की विधि है विनम्र श्रवण। विरोधात्मक मनोवृत्ति दिव्य भगवत्कथा को ग्रहण अथवा अनुभव करने में सहायक नहीं हो सकती। अत: श्रीमद्भागवत के द्वितीय श्लोक में 'शुश्रूषु' शब्द है। इसका अभिप्राय है कि शब्द ब्रह्म सुनने के लिए उत्कण्ठा होनी चाहिए। रुचिपूर्वक श्रवण की उत्कण्ठा ही दिव्य ज्ञान धारण करने की प्रमुख योग्यता है। दुर्भाग्यवश अनेक लोग श्रीमद्भागवत-कथा के धैर्ययुक्त श्रवण में रुचि नहीं रखते। पद्धति सरल है, किन्तु पालन कठिन है। अभागे लोगों को साधारण सामाजिक अथवा राजनैतिक विषयों के श्रवण के लिए तो समय मिल जाता है, किन्तु श्रीमद्भागवत सुनने के लिए जाने में वे अनिच्छुक रहते हैं। कभी-कभी लोग श्रीमद्भागवत के उन अंशों का श्रवण करते हैं जिनके श्रवण के लिए वे योग्य नहीं हैं। भागवत के व्यावसायिक वाचक परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के लीला-विलास सम्बन्धी परम गोपनीय अंशों को पढ़ने लगते हैं। उनके पाठ में वे अंश कामशास्त्र जैसे लगते हैं। श्रीमद्भागवत का श्रवण प्रारम्भ से करना चाहिए; भागवत-कथा के यथार्थ ग्राहकों का प्रारम्भ में ही उल्लेख है (१.१.२) नाना पुण्योपार्जन के बाद श्रोता श्रीमद्भागवत-श्रवण के अधिकारी बन पाते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य महान् ऋषि व्यासदेव के आश्वासन में विश्वास कर भगवान् श्रीकृष्ण की साक्षात् अनुभूति के लिए धैर्यपूर्वक श्रीमद्भागवत-कथा सुन सकता है। भगवत्प्राप्ति के लिए विविध वैदिक स्तरों पर परिश्रम की आवश्यकता नहीं, क्योंकि धैर्यपूर्वक श्रीमद्-भागवत को श्रवण करने का निश्चयमात्र करने से परमहंस श्रेणी की प्राप्ति हो सकती है। नैमिषारण्य के ऋषियों ने सूत गोस्वामी से कहा था कि वे श्रीमद्भागवत सुनने को अतीव लालायित हैं। सूत गोस्वामी से भगवान् श्रीकृष्ण की कथा सुनते हुए इन वार्ताओं से वे कभी भी तृप्त नहीं होते थे। वस्तुत: जो भगवान् श्रीकृष्ण में यथार्थ आसक्त हैं, वे कृष्णकथा का श्रवण कभी नहीं छोड़ते।

अतएव भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती को परामर्श दिया: "एक-एक श्लोक का मनन करते हुए सदा श्रीमद्भागवत का पाठ करना चाहिए। ऐसा करने से आप ब्रह्मसूत्र का वास्तविक अर्थ जान जाइएगा। आपका कहना है कि आप वेदान्तसूत्र को समझने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हैं, पर श्रीमद्भागवत को समझे बिना ब्रह्मसूत्र का ज्ञान असम्भव है।" उन्होंने श्रीप्रकाशानन्द को **'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे'** महामन्त्र के निरन्तर कीर्त्तन का परामर्श

भी दिया। "ऐसा करने से आप सहज ही मुक्त होकर जीवन के परम लक्ष्य—कृष्णप्रेम की प्राप्ति के योग्य बन जाइएगा।"

तदुपरान्त श्रीगौरसुन्दर ने श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, नृसिंहतापनी जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों से अनेक श्लोकों का उच्चारण किया। विशेष रूप से उन्होंने भगवद्गीता (१८.५४) का यह श्लोक पढ़ा—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

ब्रह्मभूत पुरुष सब जीवों में समभाव रखता है तथा भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्धभक्त बन जाता है। 'नृसिंहतापनी' (२.५.१६) में कथन है कि यथार्थ मुक्त परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य लीला-विलास को समझने में समर्थ हो जाता है तथा उनकी भक्ति में नियुक्त रहता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत (२.१.९) से भी श्लोक उद्धृत किया। उसमें शुकदेव गोस्वामी ने स्वीकार किया है कि माया से परे मुक्तावस्था में स्थित होने पर भी वे भगवान् श्रीकृष्ण की अप्राकृत लीलाओं से आकृष्ट हो गए। इसी कारण उन्होंने अपने महान् पिता व्यासदेव से श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया।

श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत से (३.१५.४३) सनकादि कुमारों से सम्बन्धित एक अन्य श्लोक का प्रमाण दिया। श्रीभगवत्-मन्दिर में प्रविष्ट होने पर चन्दनसहित श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में अर्पित पुष्प और तुलसी की सुगन्ध से वे आकृष्ट हो गए थे। चारों कुमार जीवन्मुक्त थे, किन्तु अर्पित की हुई तुलसी की सुगन्ध मात्र से उनका चित्त भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में रम गया। भागवत में अन्यत्र (१.७.१०) उल्लेख है कि माया-दोष से मुक्त जीव भी बिना किसी कारण श्रीकृष्ण-सेवा में आकृष्ट हो सकते हैं। अतः श्रीभगवान् अतिशय आकर्षक हैं; उनके इस आकर्षण के कारण ही उन्हें 'कृष्ण' कहा जाता है।

इस प्रकार श्री श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने प्रकाशानन्द सरस्वती को श्रीमद्भागवत के 'आत्माराम' श्लोक का वर्णन सुनाया। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के भक्त महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के अनुसार श्रीमन्महाप्रभु ने इस श्लोक की इकसठ व्याख्याएँ की थीं। सभी उपस्थित जन 'आत्माराम' श्लोक के विविध अर्थों को सुनने को उत्सुक थे। उनकी उत्कट उत्सुकता को देखते हुए श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु ने 'आत्माराम' श्लोक की वही व्याख्या सुनाई जो पूर्व में वे श्रील सनातन गोस्वामी को सुना चुके थे। 'आत्माराम' श्लोक की व्याख्या सुन कर सब चकित रह गए। वे सभी श्रीगौरसुन्दर को साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण मानने लगे।

अध्याय २४

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से वार्तालाप

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य अपने समय के सर्वोपरि नैयायिक थे। इसलिए जगन्नाथपुरी में जब श्रीचैतन्य महाप्रभु की उनसे भेंट हुई तो श्रीभट्टाचार्य ने उन्हें भी वेदान्त पढ़ाने की इच्छा व्यक्त की। श्रीभट्टाचार्य श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के पितृ-तुल्य वयोवृद्ध थे। अत: युवा संन्यासी श्रीचैतन्य पर दया करके उन्होंने श्रीमहाप्रभु से अनुरोध किया कि वे उनसे वेदान्त का अध्ययन करें। श्रीभट्टाचार्य की दृढ़ धारणा थी कि श्रीचैतन्य महाप्रभु के लिए इसके बिना अपने संन्यास की रक्षा कठिन होगी। अन्त में श्रीमहाप्रभु के सहमत हो जाने पर श्रीभट्टाचार्य उन्हें जगन्नाथ मन्दिर में पढ़ाने लगे। निरन्तर सात दिवस तक भट्टाचार्य ने वेदान्त पर प्रवचन किया और श्रीमहाप्रभु बिना एक शब्द बोले सुनते गए। आठवें दिन, श्रीभट्टाचार्य ने कहा, "एक सप्ताह से आप मुझसे वेदान्तसूत्र का श्रवण कर रहे हैं, पर आपने एक भी प्रश्न नहीं किया और न यह निर्देश किया कि मैं भली-भाँति व्याख्या कर रहा हूँ। न जाने आप मेरी व्याख्या समझ भी रहे हैं, या नहीं।"

"मैं तो मूर्ख हूँ," श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने उत्तर दिया। "वेदान्तसूत्र के अध्ययन के लिए सर्वथा अयोग्य हूँ। फिर भी आपने मुझे श्रवण का आदेश दिया है, इसलिए सुनने का प्रयत्न कर रहा हूँ, क्योंकि आपके मत में वेदान्तसूत्र सुनना प्रत्येक संन्यासी का कर्त्तव्य है। परन्तु जहाँ तक आपके द्वारा प्रतिपादित अर्थ का सम्बन्ध है— मैं उसे नहीं समझ सकता।" इस प्रकार भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने संकेत किया कि मायावादी सम्प्रदाय में ऐसे अनेक नामधारी संन्यासी हैं जो अशिक्षित तथा बुद्धिहीन होने पर भी केवल औपचारिकता के रूप में गुरु से वेदान्तसूत्र सुनते हैं। यद्यपि वे सुनते हैं, किन्तु कुछ समझते नहीं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने सम्बन्ध में कहा कि वे श्रीभट्टाचार्य की व्याख्या समझ नहीं सके— इसलिए नहीं कि उनकी

बुद्धि के लिए वह दुर्बोध थी, अपितु इसलिए कि उन्हें मायावादी व्याख्या स्वीकार नहीं थी।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जब यह कहा कि अशिक्षित मूर्ख होने के कारण वे उनका प्रतिपादन नहीं समझ सके तो भट्टाचार्य ने उत्तर दिया— "यदि आपको मेरा कथन समझ में नहीं आ रहा तो आप प्रश्न क्यों नहीं करते? आप चुप क्यों बैठे हैं? प्रतीत होता है कि मेरी व्याख्या के विषय में आप कुछ कहना चाहते हैं।"

"श्रीपाद!," श्रीगौरसुन्दर ने उत्तर दिया, "जहाँ तक वेदान्तसूत्र का सम्बन्ध है, उनका अर्थ मैं भली प्रकार से समझता हूँ, किन्तु आपकी व्याख्या मैं नहीं समझ सकता। मूल वेदान्तसूत्र का अर्थ तनिक भी कठिन नहीं है; किन्तु वेदान्तसूत्र पर आपकी व्याख्या असली अर्थ का आच्छादन करती प्रतीत होती है। आप मुख्य अर्थ का प्रकाश न कर, कल्पना द्वारा वास्तविक अर्थ का आच्छादन कर रहे हैं। मेरे विचार से आपका कोई मत-विशेष है, जिसकी स्थापना आप वेदान्तसूत्र द्वारा करना चाहते हैं।"

मुक्तिक उपनिषद् के अनुसार एक सौ आठ उपनिषद् हैं। इनमें मुख्य-मुख्य ये हैं—१) ईश, २) केन, ३) कठ, ४) प्रश्न, ५) मुण्डक, ६) माण्डुक्य, ७) तैत्तिरीय, ८) ऐतरेय, ९) छान्दोग्य, १०) बृहदारण्यक, ११) ब्रह्म, १२) कैवल्य, १३) जावाल, १४) श्वेताश्व, १५) हंस, १६) आरुणी, १७) गर्ग तथा १८) नारायण। परम सत्य श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान १०८ उपनिषदों में विद्यमान है। वैष्णव जप में जिस माला का प्रयोग करते हैं, उसकी १०८ मणियाँ परतत्त्व के पूर्ण ज्ञान से युक्त १०८ उपनिषदों की प्रतीक हैं। कुछ वैष्णव यह भी मानते हैं कि १०८ मणियाँ रास में श्रीकृष्ण की सखियों की प्रतीक हैं।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने उपनिषदों के अर्थ का अनर्थ करने का विरोध किया। इस प्रकार उपनिषदों का मुख्यार्थ न करने वाली सब व्याख्याओं को उन्होंने अस्वीकार किया। मुख्यार्थ को अभिधावृत्ति तथा गौणार्थ को लक्षणावृत्ति कहते हैं। लक्षणावृत्ति निरर्थक है। ज्ञान की चार विधियाँ हैं—१) प्रत्यक्ष, २) अनुमान, ३) ऐतिह्य, ४) शब्द। इन चारों में, वैदिक शास्त्रों का शब्द प्रमाण सर्वश्रेष्ठ है। परम्परागत वैदिक शिष्य श्रुतिप्रमाण को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

वैदिक शास्त्रों के अनुसार किसी भी जीव के मल-अस्थि अपवित्र हैं, साथ ही वैदिक साहित्य का उद्घोष है कि गोबर तथा शंख पवित्र हैं। बाह्यरूप

में ये कथन विरोधात्मक प्रतीत होते हैं, किन्तु क्योंकि गोबर और शंख वेदों में पवित्र कहे गए हैं, इसलिए वे वेदानुगामियों द्वारा पवित्र मान्य हैं। यदि हम लक्षणावृत्ति से उल्लेखों को समझना चाहें तो हमें वैदिक कथनों का विरोध करना होगा। कहने का भाव है, वेदवाक्य हमारी अपूर्ण इन्द्रियों द्वारा नहीं समझे जा सकते, उन्हें तो यथानुरूप स्वीकार करना होगा। यदि ऐसा न किया जाय तो वैदिक वाक्यों की प्रामाणिकता नष्ट हो जाएगी।

श्री श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुसार, जो वैदिक वाक्यों की निजी व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं वे बिलकुल ही ज्ञानी नहीं हैं। स्वयं व्याख्याओं का निर्माण करके वे अपने अनुगामियों को पथभ्रष्ट कर देते हैं। उदाहरण के लिए, आर्यसमाजी कहते हैं कि वे केवल मूल वेदों को मानते हैं। अन्य सारा वैदिक साहित्य उन्हें स्वीकार नहीं है, किन्तु इन लोगों का वास्तविक अभिप्राय स्वनिर्मित अर्थ करना है। भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के अनुसार ऐसे अर्थ त्याग के योग्य हैं। वे स्पष्ट रूप से अवैदिक हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा कि उपनिषदों के वेद-वाक्य सूर्यकिरण जैसे हैं। सूर्यप्रकाश में देखने पर सब कुछ अत्यन्त स्पष्ट दिखता है; इसी प्रकार वेद-वाक्य पूर्णतः स्पष्ट एवं निश्चित हैं, किन्तु मायावादी मनोधर्मी उस सूर्य-प्रकाश को अनर्थ भाष्यरूपी मेघ से आच्छादित कर देते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने आगे कहा कि उपनिषदों के सब के सब वेदवाक्य परम सत्य ब्रह्म का निरूपण करते हैं। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है सबसे बड़ा तत्व। जब भी हम सबसे बड़े का वर्णन करते हैं, हमारा निर्देश सब के कारण भगवान् श्रीकृष्ण से होता है। जो सबसे बड़ा है वह यदि छः ऐश्वर्यों से पूर्ण नहीं होगा तो कैसे सबसे बड़ा है? षडैश्वर्य पूर्ण बृहत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भाव यह है परम ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भगवद्गीता (१०.१२) में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को परम ब्रह्म माना है। निराकार ब्रह्म तथा परमात्मा की धारणाएँ भगवान् के ज्ञान के अन्तर्गत हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण का वर्णन करते हुए हम सदा 'श्री' शब्द जोड़ते हैं, यह संकेत करने के लिए कि वे षडैश्वर्य से परिपूर्ण हैं अर्थात् वे नित्य साकार हैं, क्योंकि यदि वे साकार नहीं होते तो उनमें षडैश्वर्य की परिपूर्णता नहीं रहती। परम सत्य को निराकार कहने का अभिप्राय यह है कि उनका आकार प्राकृत नहीं है। साधारण प्राकृत देहों से उनके दिव्य विग्रह की विशिष्टता दिखाने के लिए कुछ दार्शनिकों ने प्राकृत दृष्टिकोण से उन्हें निराकार बताया है। दूसरे शब्दों में, उनके प्राकृत होने का निराकरण और उनके दिव्य श्रीविग्रह

के वैशिष्ट्य का स्थापन किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.१९) में स्पष्ट वर्णन है कि भगवान् के प्राकृत हाथ-पाँव नहीं हैं, किन्तु उस ग्रन्थ में यह भी है कि उनके दिव्य हाथ है, जिनसे वे सब समर्पणों को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार, उनके प्राकृत नेत्र नहीं हैं, पर निश्चय ही उनके अप्राकृत नेत्र हैं जिनसे वे सर्वदा-सर्वत्र देख सकते हैं। यद्यपि उनके प्राकृत कर्ण नहीं हैं, फिर भी वे सब कुछ सुनने में समर्थ हैं। पूर्ण इन्द्रियों वाले होने के कारण वे भूत-भविष्य-वर्त्तमान के पूर्ण ज्ञाता हैं। वस्तुतः वे स्वयं सर्वज्ञ हैं; किन्तु उन्हे कोई नहीं समझ सकता, क्योंकि प्राकृत इन्द्रियों से उनका ज्ञान नहीं होता। सब कारणों के कारण वे परतत्त्व, बृहत्तम, भगवान् हैं।

अन्य अनेक वैदिक मन्त्र असंदिग्ध रूप से स्थापित करते हैं कि परम सत्य दिव्य पुरुष विशेष हैं। उदाहरण स्वरूप 'हयशीर्ष' पांचरात्र' में वर्णन है कि यद्यपि प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में निर्विशेष वर्णन है, पर अन्त में परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के साकार विग्रह को स्वीकार किया गया है। श्रीईशोपनिषद् (१५) में ऐसा ही श्लोक है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे जीवन के पालक प्रभो! आपका मुख आपकी देदीप्यमान ज्योति से ढका हुआ है। कृपया उस आवरण को हटाकर अपने शुद्ध भक्तों के सम्मुख स्वयं को प्रकट कीजिए।"

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि जीवमात्र को इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालक भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। सभी उनकी कृपा के आश्रित हैं। अतएव उनकी भक्ति करना ही यथार्थ धर्म का स्वरूप है। भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दविग्रह हैं तथा उनकी ज्योति अखिल सृष्टि में व्याप्त है, उसी प्रकार जैसे सौर-मंडल में सूर्यप्रकाश। जिस प्रकार सूर्य-चक्र सूर्य-प्रकाश की दुर्बोध ज्योति से आवृत है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य विग्रह ब्रह्मज्योति के देदीप्यमान प्रकाश से ढका हुआ है। वस्तुतः स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण का सच्चिदानन्द श्रीविग्रह उनसे निकली ब्रह्मज्योति के देदीप्यमान प्रकाश के भीतर है। भगवद्गीता (१४.२७) का प्रमाण भी है कि भगवान् श्रीकृष्ण का विग्रह ब्रह्मज्योति का उद्गम है। 'हयशीर्ष पांचरात्र' तथा अन्य उपनिषदों अथवा वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है कि निर्विशेष ब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है। वस्तुतः जब भी प्रारम्भ में निर्विशेष ब्रह्म की चर्चा होती है, अन्त में सर्वदा भगवान् श्रीकृष्ण

ही सिद्ध होते हैं। ईशोपनिषद् के कथन में परम सत्य शाश्वत रूप से निराकार भी है और साकार भी है, किन्तु साकार स्वरूप निराकार से श्रेष्ठ है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के मन्त्र **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** के अनुसार यह सांसारिक सृष्टि परतत्त्व का एक उद्भवमात्र है तथा वही इसका आश्रय है। परतत्त्व को उपादान, निमित्त तथा अधिकारणात्मक कर्ता कहते हैं। अतः कर्ता रूप से वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि ये किसी पुरुष के ही लक्षण हैं। इस सांसारिक सृष्टि के उपादानकर्ता के रूप में सब विचार, अनुभव तथा संकल्प उनसे ही उत्पन्न होते हैं। विचार, अनुभव तथा संकल्प के अभाव में सांसारिक सृष्टि की व्याख्या तथा रूपरेखा-विधान की कोई सम्भावना नहीं। पुनः, वे कारणात्मक हैं, क्योंकि वे ही संसार के मूल विधाता हैं। वे अधिकरण भी हैं, अर्थात् सब कुछ उनकी शक्ति में स्थित है। ये गुण स्पष्ट रूप से साकार स्वरूप के हैं।

छान्दोग्योपनिषद् (५.२.३) में कथन है कि एक से अधिक हो जाने की इच्छा होने पर परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति का रूपान्तर करते हैं। जैसा ऐतरेयोपनिषद् से प्रमाणित है (१.१)— **'स एक्षत'**— "भगवान् ने प्रकृति पर दृष्टिपात किया।" उनके दृष्टिपात से पूर्व सांसारिक सृष्टि नहीं थी। अतः उनका दृष्टिपात प्राकृत दोष से मुक्त है। उनकी दर्शन-शक्ति प्राकृत सृष्टि से पूर्व भी थी; अतः उनका श्रीविग्रह प्राकृत नहीं है। उनका चिन्तन, अनुभव और संकल्प सभी अप्राकृत है। वे जिस मन से चिन्तन, अनुभव तथा संकल्प करते हैं, वह अप्राकृत है तथा जिन नेत्रों से प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं वे भी अप्राकृत हैं। उनका अप्राकृत श्रीविग्रह तथा सब इन्द्रियाँ प्राकृत सृष्टि से पूर्व विद्यमान थीं, अतः श्रीभगवान् का मन तथा चिन्तन, अनुभव और संकल्प भी अप्राकृत हैं। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का यह निर्णय है।

उपनिषदों में सर्वत्र 'ब्रह्म' शब्द प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्म, परमात्मा तथा स्वयं भगवान् को एक अद्वय तत्त्व कहा गया है। ब्रह्म तथा परमात्मा की अनुभूति को परम संसिद्धिरूपी भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति से पूर्व की अवस्था माना गया है। सारे वैदिक शास्त्रों का यह यथार्थ निष्कर्ष है।

इस प्रकार विभिन्न वैदिक शास्त्रों से प्राप्त प्रमाणों के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मानुभूति के परमोच्च लक्ष्य हैं। भगवद्गीता (७.७) भी प्रमाणित करती है कि श्रीकृष्ण से परे अन्य कुछ भी नहीं है। ब्रह्म सम्प्रदाय की गुरु परम्परा के महान् आचार्य श्रीमध्वाचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र भाष्य में कहा

है कि श्रुति-प्रमाण से सम्पूर्ण तत्त्व-ज्ञान हो सकता है। उन्होंने स्कन्द-पुराण से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार ऋक, साम, अथर्व वेद तथा महाभारत, पांचरात्र तथा वाल्मीकि रामायण यथार्थ श्रुति-प्रमाण हैं। वैष्णवों द्वारा स्वीकृत पुराण भी श्रुतिप्रमाण माने जाते हैं। वास्तव में इन शास्त्रों में जो कुछ तत्त्व का वर्णन है उसे तर्क किये बिना परम निष्कर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए। ये सब शास्त्र श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् घोषित करते हैं।

अध्याय २५

भगवत्प्राप्ति तथा ब्रह्मानुभूति

पुराणों को वैदिक शास्त्रों का परिशिष्ट कहा जाता है। मूल वेदों का विषय सामान्य मनुष्य की समझ के लिए कहीं-कहीं अत्यन्त दुर्बोध है। पुराण-कथा तथा ऐतिहासिक कथानकों के माध्यम से इन विषयों का सुबोध वर्णन करते हैं। श्रीमद्‌भागवत (१०.१४.३२) में उल्लेख है कि नन्द महाराज तथा वृन्दावन के गोप निवासी अतिशय सौभाग्यशाली हैं। कारण आनन्दस्वरूप परम **ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण उनके सखा** के रूप में अपना नित्य लीला-विलास कर रहे हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार, **'अपाणि पादो जवनोग्रहीता'** मन्त्र प्रमाणित करता है कि यद्यपि ब्रह्म के प्राकृत हाथ-पैर नहीं हैं, फिर भी वे अत्यन्त गौरवपूर्वक गमन करते हैं तथा सारे समर्पण ग्रहण करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके अप्राकृत हाथ-पाँव हैं, अत: वे निराकार नहीं हैं। वैदिक सिद्धान्तों को न जानने वाला परम सत्य के केवल निर्विशेष प्राकृत लक्षणों को महत्त्व देता है और परिणामत: भ्रमपूर्वक उन्हें निराकार कहता है। मायावादी मनोधर्मी स्थापित करना चाहते हैं कि परम सत्य निराकार है, किन्तु यह वैदिक साहित्य के विरुद्ध है। वेद प्रमाणित करते हैं कि परतत्त्व की विविध शक्तियाँ हैं; पर मायावादी यही स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि परतत्त्व शक्तिहीन है। परन्तु वास्तव में तो परम सत्य शक्तियों से परिपूर्ण पुरुष-विशेष हैं। उन्हें निराकार सिद्ध नहीं किया जा सकता।

विष्णुपुराण (६.७.६१-६३) के अनुसार जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ शक्ति कहते हैं। जीवात्मा परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का विभिन्न-अंश तथा पूर्ण ज्ञानी है, फिर वह भी प्राकृत-विकार में बँध कर क्लेशों से भरे संसार का दु:ख भोगता है। ऐसे जीवात्मा माया-बन्धन के अनुपात में विभिन्न प्रकार से जीवनधारण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की आदिशक्ति अप्राकृत है

तथा उन परम सत्य भगवान् से अभिन्न है। जीवात्मा को भगवान् श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति तथा प्राकृत माया-शक्ति को अपरा कहते हैं। प्राकृत-उन्मत्तता के कारण तटस्थ जीवात्मा जड़ माया-शक्ति में बँधती है। ऐसा होने पर उसे अपना अप्राकृत महत्त्व विस्मृत हो जाता है, माया से अपने को एक समझता है और इस कारण त्रिविध ताप भोगती है। ऐसे प्राकृत दोष से मुक्त होने पर ही वह अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित हो सकती है।

वैदिक शिक्षा है कि जीवात्मा तथा भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध में माया की स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। सर्वप्रथम, परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप जानना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है, उनकी अप्राकृत शक्ति का भी सच्चिदानन्दमय विभाजन है। आनन्दमय स्वरूप में उनकी ह्लादिनी शक्ति स्थिति है तथा चित् स्वरूप से सर्वकारण-कारण परम ज्ञानस्वरूप हैं। यथार्थ में 'कृष्ण' शब्द उसी परम ज्ञान का द्योतक है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण सारे ज्ञान, आनन्द एवं नित्यत्त्व के भण्डार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का परम ज्ञान त्रिविध शक्तियों में प्रकाशित है— अन्तरंगा, तटस्था तथा बहिरंगा। अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा वे दिव्य उपकरणों सहित अपने में स्थित हैं; तटस्था शक्ति द्वारा जीवात्मा रूप से प्रकट हैं तथा अपनी बहिरंगा-शक्ति द्वारा माया के रूप में प्रकाशित होते हैं। प्रत्येक शक्तियुक्त प्रकाश का आधार हैं नित्यत्त्व, आनन्द, शक्ति तथा पूर्ण ज्ञान।

बद्धजीव बहिरंगा शक्ति के अधीन हुई तटस्था शक्ति हैं। किन्तु अन्तरंगा शक्ति के प्रभुत्त्व में आने पर तटस्था शक्ति कृष्णप्रेम के योग्य हो जाती है। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण षडैश्वर्य परिपूर्ण हैं, कोई भी उन्हें निर्गुण-निराकार अथवा शक्तिहीन नहीं सिद्ध कर सकता। ऐसा कहना भी बिलकुल वैदिक उपदेश के विरुद्ध है। वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण सब शक्तियों के स्वामी हैं। उनका सूक्ष्म विभिन्न-अंश जीव ही मायाबद्ध होता है; वे स्वयं नहीं।

मुण्डक-उपनिषद् में कथन है कि दो पक्षी हैं, जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें एक तो इस वृक्ष के फल खा रहा है, पर दूसरा उसकी क्रियाओं को केवल देख रहा है। दूसरे पक्षी की ओर देखने पर ही फलभोगी पक्षी पूर्ण उद्वेगरहित हो सकता है। अणु-जीव की यह स्थिति है। जब तक उसे अपनी क्रियाओं के द्रष्टा भगवान् श्रीकृष्ण का विस्मरण रहता है, तब तक वह त्रिविध ताप पाता है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की ओर देखने और उनका

भक्त बन जाते ही उसके सब उद्वेग और ताप मिट जाते हैं। जीवात्मा भगवान् श्रीकृष्ण का नित्यदास है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण शक्तियों के नित्य स्वामी हैं, जबकि जीवात्मा सदा उनकी शक्तियों के अधीन है। चिद्‌गुणों में भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्न होने पर भी जीवात्मा में माया पर प्रभुत्त्व की प्रवृत्ति रहती है। इसीलिए जीव को श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति कहा है।

जीव पर माया अधिकार कर सकती है, इसलिए वह किसी भी अवस्था में भगवान् श्रीकृष्ण से एक नहीं हो सकता। यदि जीव और भगवान् श्रीकृष्ण में अभेद होता, तो उसका मायावश होना सम्भव नहीं हो सकता था। भगवद्‌गीता में जीव को भगवान् श्रीकृष्ण की एक शक्ति कहा है। शक्तिमान् से अभिन्न होने पर भी शक्ति, शक्ति ही है; वह शक्तिमान् के बराबर नहीं हो सकती अर्थात् जीव तथा भगवान् में अचिन्त्य भेदाभेद है। भगवद्‌गीता (७.४-५) में स्पष्ट उल्लेख है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार भगवान् की अष्टधा अपरा प्रकृति हैं तथा जीवात्मा परा प्रकृति है। वैदिक साहित्य प्रमाणित करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण का विग्रह सच्चिदानन्दमय है।

परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का रूप प्राकृत गुणों से परे तथा प्राकृत द्रव्यों से बिलकुल भिन्न है। उनका श्रीविग्रह पूर्णतः अप्राकृत है और किसी भी प्राकृत रूप से उसकी तुलना नहीं की जा सकती है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप को न जानने वाला नास्तिक है। श्रीबुद्धदेव को ये वैष्णव सिद्धान्त स्वीकार नहीं थे, अतः वैदिक आचार्य उन्हें नास्तिक समझते हैं। मायावादी मनोधर्मी वैदिक सिद्धान्त मानने का कपट तो करते हैं, पर परोक्ष रूप से वे नास्तिक बौद्ध-मत के ही प्रचारक हैं, क्योंकि वे **भी भगवान्** श्रीकृष्ण **को नहीं मानते**। इस दृष्टि से तो मायावादी मत वैदिक प्रमाण का प्रत्यक्ष खण्डन करने वाले बौद्ध-मत से भी निकृष्ट है। वेदान्त-दर्शन का कपटरूपाधारी मायावादी मत नास्तिक बौद्ध मत से अधिक हानिकारक है।

श्रीव्यासदेव ने सम्पूर्ण जीवों के कल्याण के लिए ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया है। भक्ति-योग के दर्शन का ज्ञान वेदान्तसूत्र के ही द्वारा हो सकता है। दुर्भाग्यवश मायावादी शारीरक भाष्य ने वेदान्तसूत्र के प्रयोजन को ही प्रायः विनष्ट कर दिया है। मायावादी भाष्य में भगवान् श्रीकृष्ण के अप्राकृत श्रीविग्रह का निराकरण करके परम ब्रह्म श्रीकृष्ण को जीव स्वरूप ब्रह्म के स्तर पर उतारा गया है। परमब्रह्म तथा ब्रह्म दोनों के ही भिन्न-भिन्न

दिव्य विग्रहों का निराकरण है, यद्यपि शास्त्र का स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् श्रीकृष्ण परम चेतन हैं और अन्य जीव उनके अधीन हैं। अत: वेदान्तसूत्र के मायावादी भाष्यों को सुनना नितान्त हानिकर है। प्रमुख भय तो इस बात का है कि कहीं इन भाष्यों को सुनने से श्रोता जीव और भगवान् को एक ही न मान बैठे। बद्ध जीव के लिए इस प्रकार मार्ग-भ्रष्ट हो जाना बहुत ही सहज है और एक बार मार्ग से भ्रष्ट हो जाने पर वह कदापि अपने यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् अपनी नित्य क्रिया भक्ति का आस्वादन नहीं कर सकेगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् श्रीकृष्ण के निराकार पक्ष का प्रचार कर मायावाद ने मानव का सबसे बड़ा अपकार किया है। इस प्रकार मायावादी मनोधर्मी मानव समाज को वेदान्त सूत्र के यथार्थ सन्देश से वंचित करते हैं।

वेदान्त-सूत्र में प्रारम्भ से ही माना गया है कि यह प्राकृत सृष्टि भगवान् श्रीकृष्ण की एक शक्ति-विलास है। पहला सूत्र (जन्माद्यस्य) परब्रह्म भगवान् को सबके उद्गम के रूप में वर्णन करता है। सब कुछ भगवान् में स्थित है और उन्हीं में विलीन हो जाता है। इस प्रकार परम सत्य सृष्टि, पालन तथा संहार का कारण है। फल का कारण वृक्ष है; फल उत्पन्न करने वाले वृक्ष को निराकार नहीं कहा जा सकता। सहस्रों फलों की उत्पत्ति करके भी वृक्ष एकरस रहता है। फल आता है, कुछ काल बढ़ता और वृक्ष पर रहता है; फिर वह क्रमश: नष्ट हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वृक्ष भी लुप्त हो जाता है। अत: प्रारम्भ से ही वेदान्तसूत्र में परिणामवाद का वर्णन है। सृष्टि, पालन तथा संहार आदि क्रियाओं का सम्पादन परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्ति करती है। यद्यपि भगवान् की शक्ति तथा भगवान् श्रीकृष्ण अभिन्न तथा एकरूप हैं, फिर भी भौतिक सृष्टि भगवद्शक्ति की ही परिणति मानी जाती है। बड़ी मात्रा में लोहे को छू कर सोना बना देने पर भी पारसमणि अविकारी रहती है। इसी प्रकार बृहत् प्राकृत सृष्टियाँ करने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण अपने दिव्य श्रीविग्रह में नित्य अविकारी हैं।

मायावाद की यह धृष्टता ही है कि वेदान्तसूत्र में वर्णित व्यासदेव के प्रयोजन का खण्डन कर वह बिलकुल काल्पनिक विवर्तवाद के स्थापन का प्रयत्न करता है। मायावाद के अनुसार प्राकृत सृष्टि परतत्त्व की परिणति मात्र है और इस सृष्टि के अतिरिक्त परतत्त्व का कोई अस्तित्त्व नहीं है। वेदान्तसूत्र का यह तात्पर्य नहीं है। मायावादियों ने परिणामवाद को मिथ्या

कहा है, किन्तु वस्तुतः वह मिथ्या नहीं है, नश्वर है। मायावादी कहते हैं कि परतत्त्व ही एकमात्र सत्य है तथा प्राकृत सृष्टि नामक यह जगत् मिथ्या है। वास्तव में ऐसा नहीं है। प्राकृत जगत् तत्त्व से मिथ्या नहीं है, द्वैतात्मक (सापेक्ष्य) सत्य होने के कारण नश्वर अवश्य है। नश्वरता और मिथ्यापन में अन्तर है।

प्रणव अथवा ओंकार वैदिक मन्त्रों का महावाक्य और भगवान् श्रीकृष्ण की नाद-मूर्ति है। ओंकार से सब वैदिक मन्त्रों का उद्‌गम हुआ है, जगत् की उत्पत्ति भी ओंकार से ही हुई है। वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध 'तत्त्वमसि' महावाक्य नहीं है, अपितु जीव के यथार्थ स्वरूप का द्योतक है। 'तत्त्वमसि' का अर्थ है कि जीवात्मा भगवान् श्रीकृष्ण का चिदंश है, किन्तु यह वेदान्त अथवा वैदिक साहित्य का मुख्य अभिप्राय नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की मुख्य नाद-मूर्ति ओंकार है।

वेदान्तसूत्र के ये सभी अशुद्ध भाष्य नास्तिक हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य अप्राकृत श्रीविग्रह को न मानने के फलस्वरूप मायावादी मनोधर्मी यथार्थ भक्ति में नियुक्त नहीं हो पाते। इस कारण वे श्रीकृष्णभावनामृत और कृष्णभक्ति से सदा वंचित रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्ध-भक्त दिव्य अनुभूति के यथार्थ पथ के रूप में मायावाद को कभी स्वीकार नहीं करता। मायावादी मनोधर्मी संसार के धार्मिक तथा अधार्मिक प्राकृत वातावरण में परिभ्रमण करते हुए प्राकृत सुखोपभोग के ग्रहण-त्याग में ही सदा संलग्न रहते हैं। उन्होंने मिथ्या रूप से अनात्मा को आत्मा मान लिया है और इसलिए वे भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य अप्राकृत श्रीविग्रह, नाम, गुण तथा परिकर को भूल बैठे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अप्राकृत लीला-विलास, नाम, रूप, गुण आदि को भी वे माया के कार्य समझते हैं। प्राकृत सुख-दुःख का ग्रहण-त्याग करते हुए ये मायावादी प्राकृत क्लेशों से सदा पीड़ित रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के सच्चे भक्तों का मायावादियों से सदा विरोध रहता है। सच्चिदानन्द का प्रतिनिधित्त्व करने के लिए निराकारवाद के पास कोई साधन नहीं है। मुक्ति के अपूर्ण ज्ञान में स्थित होने के कारण मायावादी सच्चिदानन्द को भी प्राकृत कहकर उसकी निन्दा करते हैं। श्रीकृष्ण भक्ति का खण्डन करने के कारण वे बुद्धिहीन तथा भक्ति के प्रभाव को समझने में असमर्थ हैं। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान को एक करने के प्रयत्न में वे केवल बुद्धिहीन ही सिद्ध होते हैं। वेदान्तसूत्र का यथार्थ तात्पर्य आरम्भ

से ही परिणामवाद है। भगवान् श्रीकृष्ण असंख्य अनन्त शक्तियों से युक्त हैं। इन शक्तियों की परिणति का वे विविध प्रकार से प्रदर्शन करते हैं। वे सर्वेश्वर हैं। परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण परम नियन्ता भी हैं तथा असंख्य शक्तियों एवं अंश स्वरूपों में उनका प्रकाश होता है।

अध्याय २६

श्रीभट्टाचार्य भक्त बने

निर्विशेष तथा शून्यवादी मनोधर्मियों के लिए परलोक चेतनारहित नित्य आनन्दमय है। शून्यवादी स्थापित करना चाहते हैं कि अन्तत: सब कुछ अचेतन है तथा निर्गुणवादी कहते हैं कि परलोक में ज्ञान क्रियारहित है। इस प्रकार अल्पज्ञ मोक्षाकांक्षी अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण अप्राकृत क्रिया की परिधि में ले जाने का प्रयास करते हैं। प्राकृत क्रिया को दु:खदायी अनुभव करके मायावादी मुक्त जीवन को निष्क्रिय सिद्ध करना चाहता है। उसे भक्ति की क्रियाओं की कोई जानकारी नहीं है। वस्तुत: शून्यवादियों तथा निर्गुण-वादियों को भक्ति की दिव्य क्रियाएँ बुद्धिहीन प्रतीत होती हैं। वैष्णव दार्शनिक ठीक-ठीक जानते हैं कि असंख्य शक्तियुक्त होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण कदापि निर्विशेष अथवा शून्य नहीं हो सकते। अपनी असंख्य शक्तियों से अपने को बहुरूपों में प्रस्तुत करने पर भी वे स्वयं अद्वय भगवान् रहते हैं। विविध रूप धारण करके तथा अपनी असंख्य शक्तियों का विविध प्रकाश करके भी वे अपने अप्राकृत स्वरूप में स्थित हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मायावाद के अनेक दोषों को प्रकाशित किया। श्रीभट्टाचार्य ने वितण्डा (अन्य के मत को दोष देना) तथा वाक् चातुरी द्वारा अपना मत स्थापित करने का पूरा प्रयास किया, किन्तु श्रीगौरसुन्दर उस आक्रमण में भी अपना मत स्थापित करने में सफल रहे। श्रीगौरसुन्दर ने स्थापित किया कि वैदिक साहित्य के तीन उद्देश्य हैं। परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का ज्ञान (सम्बन्ध), उस ज्ञान के अनुसार भक्ति करना (अभिधेय) तथा जीवन के चरम लक्ष्य-प्रेम की प्राप्ति (प्रयोजन)। इनके अतिरिक्त वेदों का कुछ अन्य लक्ष्य कहने वाला निश्चित रूप से अपनी कामना द्वारा ठगा गया है।

श्रीगौरसुन्दर ने अनेक पुराण-श्लोकों से सिद्ध किया कि भगवान्

श्रीकृष्ण के आदेश को लेकर ही शंकराचार्य मायावाद के प्रचार में नियुक्त हुए थे। उन्होंने पद्मपुराण (६२.३१) का एक श्लोक उद्धृत किया। उसमें उल्लेख है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने जीवों को वेदों के यथार्थ तात्पर्य से भ्रष्ट करने के लिए वेद की कल्पित व्याख्या प्रस्तुत करने का शिवजी को आदेश दिया। श्रीभगवान् ने कहा, "ऐसा करने से तुम उन्हें नास्तिक बना सकोगे। उससे सृष्टि की उत्तरोत्तर वृद्धि होगी" पद्मपुराण (२५.६) में यह भी उल्लेख है कि श्रीशिव ने पार्वती को समझाया कि कलियुग में ब्राह्मण-रूप धारण कर वे मायावाद नामक वेदों की असत् व्याख्या का प्रचार करेंगे, जो वास्तव में नास्तिक बौद्ध मत का ही प्रच्छन्न रूप है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर की इन व्याख्याओं से श्रीभट्टाचार्य परम विस्मित हो गए। श्रीगौरसुन्दर से मायावाद की व्याख्या सुनने पर वे कुछ भी न बोल सके। उन्हें चुप देखकर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "भट्टाचार्य! आपको इस व्याख्या से विस्मित नहीं होना चाहिए। मुझसे यह समझ लीजिए कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति मानव-ज्ञान की उच्चतम सिद्धावस्था है। वास्तव में यह इतनी आकर्षक है कि जीवन्मुक्त 'आत्माराम' जन भी भगवान् श्रीकृष्ण की अचित्य शक्ति से उनके भक्त बन जाते हैं।" वैदिक शास्त्रों में ऐसे भ..ों के अनेक उदाहरण हैं। उदाहरणस्वरूप, श्रीमद् भागवत (१.७.१०) का "आत्माराम" श्लोक सब प्रकार की प्राकृत आसक्तियों से छुटे हुए मुक्त जनों के लिए हैं। ऐसे जीवन्मुक्त निर्विशेषवादी भी भगवान् श्रीकृष्ण के लीला विलास से भक्ति के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्यगुण वस्तुतः ऐसे ही हैं।

यथार्थ शुद्धबोधावस्था में जीव समझ जाता है कि वह भगवान् श्रीश्याम-सुन्दर का नित्य दास है, किन्तु माया-बद्ध होने पर स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को वह अपना मान बैठता है। यही धारणा देहान्तर का आधार है। वास्तव में भगवान् के अंश जीव का सूक्ष्म-स्थूल दैहिक जीवन का बन्धन नित्य नहीं है। स्थूल और सूक्ष्म आवरण जीव के नित्य स्वरूप नहीं हैं। वे परिवर्तन-शील हैं। मूल रूप में शुद्ध आत्मा होने पर भी वह स्थूल-सूक्ष्म देह में बँध जाता है। पर अपने को इन सूक्ष्म-स्थूल बन्धनों से मुक्त करने के लिए फिर अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर सकता है। मायावादी इस सिद्धान्त का दुरुपयोग करते हुए कहते हैं कि अपने को भगवान् का अंश समझना जीव की भूल है। उनके मत में जीव स्वयं भगवान् है। यह मत कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके अनन्तर श्रीभट्टाचार्य ने श्रीगौरसुन्दर से सुप्रसिद्ध 'आत्माराम' श्लोक की व्याख्या करने की प्रार्थना की, क्योंकि श्रीमहाप्रभु के मुखारविन्द से उसे सुनने के लिए वे अत्यन्त लालायित थे। श्रीगौरसुन्दर ने उत्तर में कहा कि सर्वप्रथम श्रीभट्टाचार्य ही अपनी बुद्धि से उस श्लोक की व्याख्या करें, तब वे व्याख्या करेंगे। श्रीभट्टाचार्य ने तर्क एवं व्याकरण के आधार पर 'आत्माराम' श्लोक की नौ प्रकार से व्याख्या की। श्रीगौरसुन्दर ने श्लोक-व्याख्या में प्रदर्शित उनकी अतुलनीय विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए कहा, "भट्टाचार्य! मुझे ज्ञात है कि परम विद्वान् वृहस्पति के अंश होने के कारण आप शास्त्र के किसी भी अंश की सुन्दर व्याख्या कर सकते हैं। तथापि आपकी व्याख्या मुख्य रूप से अध्ययन से प्राप्त पाण्डित्य पर आधारित है। इस पाण्डित्य एवं विद्वत्तापूर्ण दृष्टिकोण के अतिरिक्त श्लोक की अन्य व्याख्या है।"

श्रीभट्टाचार्य के अनुरोध से भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने 'आत्माराम' श्लोक की व्याख्या की। उन्होंने श्लोक के शब्दों का अन्वय किया: १) आत्मा-रामा:, २) च, ३) मुनय:, ४) निर्ग्रन्था:, ५) अपि, ६) उरुक्रमे, ७) कुर्वन्ति, ८) अहैतुकीम्, ९) भक्तिम्, १०) इत्थमभूतगुण:, ११) हरि:। श्रीसनातन को श्रीमहाप्रभु की शिक्षा में इस श्लोक की व्याख्या हो चुकी है। श्रीगौरसुन्दर ने श्रीभट्टाचार्य के नौ अर्थों की आवृत्ति नहीं की; इन ग्यारह शब्दों के विश्लेषण से उन्होंने श्लोक की अपनी व्याख्या की। इस विधि से उन्होंने श्लोक के अठारह अर्थों को प्रकाशित किया। उनके कहने का सार यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण असंख्य शक्ति-सम्पन्न हैं, उनके अप्राकृत गुणों की गणना नहीं हो सकती। उनके गुण सदा अचिन्त्य हैं। स्वरूप-साक्षात्कार के सारे पथ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की शक्तियों एवं गुणों के विवेचन में लगे हुए हैं। परन्तु भगवद्भक्त उनके अप्राकृत स्वरूप को अविलम्ब स्वीकार कर लेते हैं। श्रीगौरसुन्दर ने स्पष्ट किया कि सनकादि कुमार तथा शुकदेव गोस्वामी जैसे जीवन्मुक्त महापुरुष भी परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य गुणावली से आकृष्ट हो गए थे। श्रीभट्टाचार्य ने श्रीगौरसुन्दर की व्याख्या की स्तुति की। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रीगौरसुन्दर स्वयं श्रीकृष्ण हैं। श्रीभट्टाचार्य अपने को धिक्कारने लगे, क्योंकि पूर्व में श्रीमहाप्रभु को साधारण मनुष्य समझ कर उन्होंने महापराध किया था। आत्मनिन्दा करते हुए वे श्रीगौरसुन्दर के चरणारविन्द में गिर पड़े और श्रीमहाप्रभु की अहैतुकी कृपा की याचना करने लगे। महान् विद्वान् के दैन्य पर प्रसन्न

होकर श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीभट्टाचार्य को अपने चतुर्भुज और षड्भुज रूपों का दर्शन कराया। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य महाप्रभु के चरणारविन्द में पुनः-पुनः दण्डवत् प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति करने लगे। वे पहले से महान् विद्वान् थे। अब श्रीमहाप्रभु की अहैतुकी कृपा होने पर वे उनकी लीलाओं का नाना प्रकार से वर्णन करने में समर्थ हो गए। वस्तुतः, **हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे—** मन्त्र के कीर्त्तन की पद्धति उनमें अपने आप स्फुरित हो गई।

कहा जाता है कि श्रीभट्टाचार्य ने श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु के लीला-विलास की स्तुति में एक सौ श्लोकों की रचना की थी। वे श्लोक इतने उत्तम थे कि देवलोक के महान् विद्वान् बृहस्पति भी उनका पार नहीं पा सकते। श्रीगौरसुन्दर इन श्लोकों को श्रवण कर अतिशय प्रसन्न हुए और श्रीभट्टाचार्य का आलिंगन किया। श्रीगौरसुन्दर के स्पर्श से श्रीभट्टाचार्य प्रेमावेश में मूर्च्छित हो गए। उनमें अश्रु, स्तम्भ, पुलक, कम्प, स्वेद आदि प्रेम के विकार फूट पड़े। वे कभी नाचते-गाते तो कभी श्रीमहाप्रभु के चरणारविन्द में गिर जाते। श्रीभट्टाचार्य के बहनोई श्रीगोपीनाथाचार्य तथा अन्य सब गौरभक्त श्रीभट्टाचार्य को महाभागवत हुआ देखकर अतीव हर्षित हुए।

श्रीगोपीनाथाचार्य भगवान् श्रीगौरसुन्दर की स्तुति करने लगेः "प्रभो! आपकी ही कृपा से भट्टाचार्य अपनी पाषाणवत् स्थिति को छोड़कर भक्त बन गए हैं।" श्रीगौरसुन्दर ने उत्तर दिया कि भक्त की कृपा से वज्र-सदृश मनुष्य भी पुष्पतुल्य भक्त बन सकता है। वास्तव में यह श्रीगोपीनाथाचार्य की ऐकान्तिक अभिलाषा थी कि श्रीभट्टाचार्य गौरभक्त बन जाएँ। उनकी निष्कपट इच्छा थी कि श्रीगौरसुन्दर श्रीभट्टाचार्य पर कृपा करें। अब श्रीमहाप्रभु द्वारा अपनी वांछा पूर्ण हुई देख वे अत्यन्त हर्षित हुए। इस रीति से भगवद्भक्त स्वयं भगवान् से भी अधिक दयामय होता है। जब भक्त किसी पर कृपा करना चाहता है तो भगवान् ऐसी कृपा करते हैं कि वह जीव भी भक्त बन जाता है।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीभट्टाचार्य को शान्त करके घर जाने की आज्ञा दी। पुनः श्रीमन्महाप्रभु की स्तुति करते हुए श्रीभट्टाचार्य ने कहा, "प्रभो! इस संसार के सब पतित जीवों के निस्तार हेतु आप अवतीर्ण हुए हैं। आपके लिए यह कठिन नहीं है, पर आपने जो मुझ जैसे वज्र हृदय को भी भक्त बना दिया— यह अवश्य बड़ा आश्चर्य है। तर्क तथा व्याकरण से वेद की व्याख्या में दक्ष होकर भी मैं लौहपिण्ड जैसा कठोर था। आपके प्रचण्ड प्रताप ने मुझे भी द्रवित कर दिया है।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर अपने वास पर चले आए तथा श्रीभट्टाचार्य ने श्रीजगन्नाथ मन्दिर के प्रसाद के साथ श्रीगोपीनाथाचार्य को उनके पास भेजा। अगले दिन श्रीगौरसुन्दर मंगल आरती के लिए प्रातः जगन्नाथ मन्दिर में गए। पुजारी ने उन्हें प्रसाद और माला का अर्पण किया। उन्हें ग्रहण कर श्रीमन्महाप्रभु अत्यधिक प्रसन्न हुए तथा प्रसाद-माला देने अविलम्ब श्रीभट्टाचार्य के घर गए। वह अरुणोदय काल था, पर श्रीभट्टाचार्य समझ गए कि श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु आए हैं। वे तत्क्षण उठ बैठे और 'कृष्ण! कृष्ण!' कहने लगे। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु यह सब सुन रहे थे। द्वार खोलने पर श्रीभट्टाचार्य ने श्रीगौरसुन्दर को वहाँ उपस्थित पाया। प्रातः काल श्रीमहाप्रभु का दर्शन करके वे अतिशय आनन्दित हुए और पूर्ण सावधानी से उनका स्वागत किया। श्रीगौरसुन्दर ने जगन्नाथजी का प्रसाद दिया। श्रीभट्टाचार्य को स्वयं महाप्रभु के हस्तकमल से प्रसाद पा कर अतिशय उल्लास हुआ। स्नान, सन्ध्या, दन्तधावन आदि किए बिना ही वे तुरन्त प्रसाद खाने लगे। इस प्रकार वे सब प्राकृत दोषों और आसक्ति से मुक्त हो गए। प्रसाद ग्रहण करते हुए उन्होंने पद्मपुराण से प्रमाण प्रस्तुत किया। पद्मपुराण में उल्लेख है कि शुष्क, पर्युषित (बासी), अथवा दूर से लाए हुए प्रसाद को सन्ध्या-वन्दन किए बिना भी तुरन्त ग्रहण करना चाहिए। शास्त्र का आदेश है कि प्रसाद अविलम्ब खा लेना चाहिए, अतः इसमें देश काल का बन्धन नहीं है। श्रीहरि की आज्ञा सदा पालनीय है। विभिन्न लोगों से भोजन-ग्रहण का निषेध है, पर किसी भी व्यक्ति से प्रसाद ग्रहण पर कोई निषेध नहीं है। प्रसाद सदा दिव्य रहता है, इसलिए उसे किसी भी अवस्था में ग्रहण किया जा सकता है। नियम-विधि का पूर्ण पालन करने वाले श्रीभट्टाचार्य को प्राकृत नियम की अवज्ञा कर के प्रसाद ग्रहण करते देख भगवान् श्रीगौरसुन्दर अत्यन्त आनन्दित हुए। प्रेमाविष्ट महाप्रभु ने उनका आलिंगन किया, फिर दोनों ही दिव्य प्रेमोन्माद में नृत्य करने लगे। उसी प्रेमाविष्टता में श्रीगौरसुन्दर कहने लगे, "आज मेरा जगन्नाथ पुरी आना सफल हो गया। मैंने सार्वभौम भट्टाचार्य को भक्त बना दिया। अब मैं निःसन्देह वैकुण्ठ लाभ कर सकूँगा।"

कृष्णभक्त का एकमात्र उद्देश्य किसी एक प्राणी को शुद्ध भक्त बना देना होता है। इससे उसे वैकुण्ठ-प्राप्ति निश्चित हो जाती है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु श्रीभट्टाचार्य पर इतने प्रसन्न हुए कि बारम्बार आशीर्वाद देने लगे भट्टाचार्य! आज तुम शुद्ध कृष्णभक्त बन गए। श्रीकृष्ण तुम पर अतिशय प्रसन्न हैं। आज से तुम देह और मायाबन्धन से मुक्त हो गए। आज तुम कृष्णधाम

की प्राप्ति के योग्य हो गए।" श्रीगौरसुन्दर ने श्रीमद्भागवत (२.७.४२) से एक श्लोक प्रमाण-स्वरूप सुनाया:

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वश्रृगालभक्ष्ये॥

"जो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की सर्वात्मभाव से शरण ग्रहण करते हैं उन पर वे अनन्त परम-ईश्वर कृपा करते हैं। ऐसा मनुष्य मायासागर को पार कर जाता है, किन्तु इस प्राकृत शरीर को ही अपना स्वरूप समझने वाला भगवान् श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा नहीं पा सकता।"

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने स्थान पर चले आए। इस प्रकार श्रीभट्टाचार्य दोषरहित शुद्धभक्त बन गए। पूर्व में वे महान् विद्वान् थे; अतः श्रीगौरसुन्दर की अहैतुकी कृपा बिना उनका भक्त बनना असम्भव था। उस दिन से श्रीभट्टाचार्य ने वैदिक शास्त्रों की भक्तिरहित व्याख्या कभी नहीं की। उनके बहनोई श्रीगोपीनाथाचार्य उनकी यह स्थिति देखकर इतने प्रसन्न हुए कि प्रेमाविष्ट हो कर नाचने और कीर्त्तन करने लगे— 'हरे **कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।**

अगले दिन प्रातः काल श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके श्रीभट्टाचार्य श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के दर्शनार्थ पधारे। उन्होंने दण्डवत्पूर्वक श्रीमहाप्रभु को प्रणाम किया। फिर वे अपनी पूर्व दुर्गति का वर्णन करने लगे। जब भक्ति के वर्णन के लिए उन्होंने श्रीमहाप्रभु से प्रार्थना की तो श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु बृहन्नारदीय पुराण के श्लोकों की स्पष्ट व्याख्या करने लगे, जिनमें उल्लेख है: 'हरेर्नाम हरेर्नाम' इस व्याख्या के श्रवण से श्रीभट्टाचार्य अधिकाधिक भावाविष्ट हो गए। उनकी स्थिति देखकर श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा: "भट्टाचार्य! एक बार मैंने कहा था कि जिस पर भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा होती है वह भक्ति के साधन समझ जाता है। आज मैं उसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।"

उनका यथोचित् सम्मान करते हुए श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"गोपीनाथ! तुम्हारी कृपा के द्वारा ही मुझे परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त हुई है।" भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा शुद्धभक्त की कृपा से मिलती है। श्रीगोपीनाथाचार्य के प्रयत्न से ही श्रीभट्टाचार्य श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की कृपा प्राप्त कर सके। श्रीभट्टाचार्य ने पुनः कहा, "तुम महाभागवत हो, जबकि मैं तो तर्क से अन्धा हुआ जा रहा था। तुम्हारे सम्बन्ध से ही मुझे गौरकृपा प्राप्त हुई है।" श्रीमहाप्रभु भट्टाचार्य के मुख से यह सुन कर प्रसन्न हुए कि

भक्त के माध्यम से ही भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त हो सकती है। इस वाक्य की प्रशंसा तथा पुष्टि करते हुए उन्होंने श्रीभट्टाचार्य का फिर आलिंगन किया।

तदुपरान्त श्रीमहाप्रभु ने श्रीभट्टाचार्य को श्रीजगन्नाथ के फिर दर्शन करने जाने को कहा। श्रीमन्महाप्रभु के दो प्रधान सेवकों— श्रीजगदानन्द तथा श्रीदामोदर के साथ श्रीभट्टाचार्य मन्दिर की ओर चले गए। श्रीजगन्नाथ के दर्शन कर के भट्टाचार्य अपने घर चले आए; साथ ही प्रचुर प्रसाद भी लाए। ब्राह्मण सेवक के हाथों उन्होंने वह सब श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के लिए भिजवाया।

उन्होंने तालपत्र पर लिखे दो श्लोक भी भेजे और विशेष रूप से श्रीजगदानन्द से उन्हें पहुँचाने की प्रार्थना की। भगवान् श्रीगौरसुन्दर को प्रसाद तथा ताल-पत्र पर लिखित दोनों श्लोक समर्पित किए गए। श्रीमहाप्रभु के पास ले जाने से पूर्व, श्रीमुकुन्द दत्त ने उन्हें लिख लिया था। ताल-पत्र पर उन श्लोकों को पढ़ते ही श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु ने उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए, क्योंकि उन्हें आत्म-प्रशंसा अप्रिय थी। श्रीमुकुन्द दत्त के लिख लेने के कारण ही वे श्लोक आज तक प्राप्त हैं। इन श्लोकों में श्रीगौर-सुन्दर चैतन्य महाप्रभु के रूप में जन साधारण में वैराग्य, दिव्य विद्या तथा भक्ति-योग को प्रचारित करने के लिए अवतरित भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति है। श्रीगौरसुन्दर को अवतारी स्वयं भगवान् तथा कृपाम्बुद्धि कहा है। श्लोकों में उल्लेख है: "मैं भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की शरण लेता हूँ। भक्ति का अभाव देखकर, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं श्रीगौरसुन्दर के रूप में भक्ति का प्रचार करने को अवतीर्ण हुए हैं। भक्ति की शिक्षा ग्रहणार्थ हम सब उनकी शरण ग्रहण करते हैं।" श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की शिष्य परम्परा के भक्तगण इन श्लोकों को सर्वोत्तम रत्नहार समझते हैं। इनकी प्रसिद्धि के कारण श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य भक्तों में अग्रगण्य हैं।

इस प्रकार श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के एकान्त भक्त हो गए; श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की सेवा के अतिरिक्त उनकी कोई अन्य अभिलाषा न रही। श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु का स्मरण, ध्यान, जप ही उनके जीवन का अनन्य प्रयोजन बन गया।

एक दिन श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के निकट आए और प्रणाम कर के श्रीमद्भागवत से एक श्लोक पढ़ने लगे (१०.१४.८)। यह श्लोक ब्रह्मा के श्रीकृष्ण-स्तवन से सम्बन्धित है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

"पूर्व पापकर्मों के फलस्वरूप मिल रहे क्लेश भोगते हुए भी जो मन, शरीर एवं वाणी से भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहता है, उसकी मुक्ति निश्चित है।" श्रीभट्टाचार्य ने 'मुक्ति' शब्द के स्थान पर 'भक्ति' शब्द पढ़ा।

"आपने मूल पाठ में परिवर्तन क्यों किया?" श्रीमहाप्रभु ने भट्टाचार्य से पूछा। "वास्तव में शब्द 'मुक्ति' है, पर आप उसे 'भक्ति' पढ़ रहे हैं।" श्रीभट्टाचार्य ने उत्तर दिया कि मुक्ति भक्ति के समान मूल्यवान् नहीं है; शुद्ध भक्त की दृष्टि में मुक्ति तो एक प्रकार का दण्ड ही है। अतः उन्होंने 'मुक्ति' के स्थान पर 'भक्ति' का प्रयोग किया। श्रीभट्टाचार्य भक्ति पर अपनी अनुभूति का वर्णन करने लगे। "सच्चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके अप्राकृत श्रीविग्रह को स्वीकार न करने वाले परतत्त्व को नहीं जान सकते।"

भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह की दिव्यता को न जानने वाला शत्रु बनकर उनकी निन्दा अथवा उनसे युद्ध करता है। ऐसे शत्रुभावापन्न भी अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण की ब्रह्मज्योति में लीन हो जाते हैं। कृष्णभक्त ऐसी ब्रह्मसायुज्य मुक्ति की इच्छा कभी नहीं करते। मुक्ति पाँच है—१) सालोक्य, २) सामीप्य, ३) सारूप्य, ४) सार्ष्टि, तथा ५) सायुज्य। भक्त इनमें से किसी में भी विशेष रुचि नहीं रखता। भक्त भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने में ही सन्तुष्ट रहता है। ब्रह्म सायुज्य से अपना स्वरूप खोने में भक्त को विशेष घृणा होती है। वस्तुतः ब्रह्मैक्य को तो वह नरक-तुल्य समझता है; किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमयी सेवा में सहायक होने पर अन्य चार मुक्तियों को स्वीकार कर लेता है। सायुज्य के दो भेद हैं—ब्रह्म-सायुज्य तथा ईश्वर-सायुज्य। भक्त के लिए ईश्वर-सायुज्य ब्रह्म-सायुज्य से भी अधिक धिक्कार योग्य है। भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य सेवा के अतिरिक्त भक्त में कोई अन्य अभिलाषा नहीं रहती।

यह सुनने पर, भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीभट्टाचार्य को सूचित किया कि 'मुक्ति' शब्द का एक दूसरा तात्पर्य भी है। 'मुक्तिपदे' शब्द से साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण निर्दिष्ट हैं। असंख्य जीवन्मुक्त जीव श्रीकृष्ण की प्रेम-सेवा में संलग्न हैं; वही मुक्ति के परमाश्रय हैं। सदा भगवान् श्रीकृष्ण ही परमाश्रय हैं।

श्रीभट्टाचार्य ने कहा, "यह अर्थ होते हुए भी 'मुक्ति' के स्थान पर मुझे 'भक्ति' पाठ ही अच्छा लगता है। आपका कहना है कि 'मुक्ति' शब्द के दो अर्थ हैं, फिर इसका संदिग्ध अर्थ होने के कारण मुझे 'भक्ति' शब्द अधिक श्रेष्ठ लगता है, क्योंकि मुक्ति शब्द सुनने पर सदा भगवान् से एक हो जाने के अर्थ की प्रतीति होती है। अतः मुझे मुक्ति शब्द के उच्चारण से ही घृणा सी हो गयी है। 'भक्ति' शब्द कहते हुए मन उल्लसित होता है।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु इस पर हँसने लगे। उन्होंने प्रेमपूर्वक श्रीभट्टाचार्य का आलिगन किया।

जो श्रीभट्टाचार्य पहले आनन्दपूर्वक मायावाद का अध्यापन करते थे, वही ऐसे दृढ़ भक्त बन गए कि मुक्ति शब्द के उच्चारण तक से उन्हें घृणा हो गई। ऐसा केवल श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की अहैतुकी कृपा से ही हो सकता है। श्रीमन्महाप्रभु स्पर्शमणि हैं, अपनी कृपा से वे लोहे को भी स्वर्ण बना सकते हैं। श्रीभट्टाचार्य के भक्त बन जाने पर उनमें महान् परिवर्तन हुआ देखकर सबने यही निर्णय किया कि उनमें यह परिवर्तन एकमात्र भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की अचिन्त्य कृपा-शक्ति से ही हुआ है। इस प्रकार वे समझ गए कि श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

अध्याय २७

श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा श्रील रामानन्दराय

श्रीचैतन्यचरितामृत के रचयिता ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को दिव्य भक्ति-विज्ञान का समुद्र तथा श्रील रामानन्दराय को उस समुद्र से उत्पन्न मेघ कहा है। श्रील रामानन्दराय भक्ति के महान् विद्वान् थे। भगवान् श्रीगौरसुन्दर की कृपा से उन्होंने भक्ति-सिद्धान्तामृत का उसी प्रकार संचय किया, जैसे मेघ सागर से जल का संचय करता है। समुद्र से उत्पन्न होकर और सब संसार में जल बरसा कर मेघ पुनः समुद्र में विलीन हो जाता है; उसी प्रकार श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की कृपा से श्रील रामानन्दराय ने भक्ति के उच्च सिद्धान्त प्राप्त किए और फिर कार्य से निवृत्त होकर श्रीपुरीधाम में पुनः श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के दर्शन करते रहने का संकल्प किया।

दक्षिण भारत की यात्रा में श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु पहले जियड़-नृसिंह-क्षेत्र नामक महान् मन्दिर में गए। यह मन्दिर विशाखापट्टन् नामक नगर से पाँच मील दूर सिंहावलम् स्थान में हैं। मन्दिर एक पर्वत पर स्थित है। उस क्षेत्र के सब मन्दिरों में जियड़-नृसिंह क्षेत्र मन्दिर सबसे बड़ा है। विद्यार्थियों के लिए रुचिकर सुन्दर वास्तुकला से परिपूर्ण होने के कारण यह अत्यधिक प्रसिद्ध एवं अत्यन्त समृद्ध भी है। मन्दिर के एक शिलालेख के अनुसार पूर्वकाल में विजयनगर के शासक ने इस मन्दिर को स्वर्ण से सुसज्जित तथा विग्रह को स्वर्णसिक्त किया था। सेवा सुविधा के लिए यात्रियों का निःशुल्क स्थान है। मन्दिर की व्यवस्था रामानुजी पुजारी करते हैं।

मन्दिर में जाने पर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत के श्रीधर भाष्य (७.९.१) के एक श्लोक से श्रीविग्रह की स्तुति की—

उग्रोऽप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानां नृकेशरी।
केशरीव स्वपोतानामन्येषामुग्र विक्रमः॥

"दानवों और अभक्तों के लिए अत्यन्त उग्र होते हुए भी भगवान् नृसिंह प्रह्लाद जैसे अपने विनम्र भक्तों पर अत्यन्त कृपालु हैं।"

आसुरी पिता हिरण्यकशिपु के अत्याचार से भक्त बालक प्रह्लाद के पीड़ित होने पर भगवान् श्रीकृष्ण के आधे मनुष्य, आधे सिंह के अवतार रूप में श्रीनृसिंह देव प्रकट हुए थे। अन्य पशुओं के प्रति अत्यन्त भयदायक होने पर भी सिंह अपने शावकों पर अत्यधिक दयालु और क्षमाशील रहता है; वैसे ही श्रीनृसिंहदेव हिरण्यकशिपु को भयानक और भक्त प्रह्लाद को कृपालु लगे।

जियड़-नृसिंह मन्दिर में दर्शन करके श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु दक्षिण में आगे चले तथा गोदावरी नदी के तट पर जा पहुँचे। गोदावरी को देखकर उन्हें श्रीधाम वृन्दावन की यमुना का स्मरण हो आया तथा तट के वृक्षों से वृन्दावन की प्रतीति हुई। इस प्रकार वे वहाँ प्रेमाविष्ट हो गए। गोदावरी में स्नान कर श्रीमहाप्रभु तट पर बैठकर कीर्त्तन करने लगे—'**हरे, कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।**' इस प्रकार विराजित होकर कीर्त्तन करते हुए उन्होंने देखा उस प्रान्त के शासक श्रील रायरामानन्द अपने परिकर सहित, जिसमें अनेक ब्राह्मण भी थे, गोदावरी तट पर पहुँच गए। पूर्व में श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीमन्महाप्रभु से कबुर की यात्रा में रायरामानन्द नामक महाभागवत से भेंट करने को कहा था। श्रीगौरसुन्दर जान गए कि गोदावरी की ओर बढ़ने वाले श्रील रामानन्द-राय ही हैं। अतः वे तुरन्त उनसे मिलने को उत्कण्ठित हो गए। किन्तु संन्यासी के रूप में एक राजनीतिज्ञ से मिलने में उन्होंने अपना संयम किया। महा-भागवत रायरामानन्द भी संन्यास वेशधारी भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के श्रीविग्रह-लक्षणों से आकृष्ट हो गए, वे स्वयं श्रीमहाप्रभु से मिलने आए। श्रीमहाप्रभु के निकट आने पर, श्रील रायरामानन्द ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने '**हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे**' उच्चारण करके उनका स्वागत किया।

जब श्रील रायरामानन्द ने अपना परिचय दिया, तो श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने उन्हें गले से लगा लिया और वे दोनों प्रेमाविष्ट हो गए। राय रामानन्द के साथी ब्राह्मण उनके प्रेममय आलिंगन को देखकर चमत्कृत हो गए। वे सबके सब कर्मकाण्डी थे। अतः इन प्रेमलक्षणों को वे समझ नहीं सके। वस्तुतः ऐसे महान् संन्यासी को शूद्र का स्पर्श करते देख उन्हें आश्चर्य हुआ। साथ ही, उन्हें यह भी विस्मय हुआ कि रायरामानन्द एक संन्यासी के स्पर्श से क्रन्दन करने लगे। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ब्राह्मणों के विचार को समझ गये तथा विजातीय स्थिति को देखते हुए उन्होंने अपने भाव का संवरण कर लिया।

तदुपरान्त श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु तथा श्रील रायरामानन्द एक स्थान पर बैठ गए। श्रील महाप्रभु ने उन्हें सूचित किया, "श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने तुम्हारा गुणगान किया था। इसलिए मैं तुम्हारे दर्शन करने आया हूँ।"

श्रील रायरामानन्द ने उत्तर दिया, "श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य मुझे अपना दास मानते हैं। अत: उन्होंने आपसे मुझसे मिलने का अनुरोध किया होगा।"

श्रील रामानन्दराय ने अपने जैसे धनवान् का निस्संकोच स्पर्श करने के लिए श्रीमहाप्रभु के प्रति कृतज्ञता अनुभव की। राजा, राज्यपाल अथवा राजनेता निरन्तर राजनीति अथवा धन के विषय में ही विचारमग्न रहता है। अत: संन्यासी ऐसे लोगों से बचा करते हैं। ऐसा होने पर भी श्री श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रील रायरामानन्द को महाभागवत जानकर उनका निस्संकोच स्पर्श एवं आलिंगन किया। श्रीमहाप्रभु के व्यवहार से विस्मित होकर श्रील रामानन्दराय ने श्रीमद्भागवत से एक श्लोक (१०.८.४) सुनाया—"महापुरुष और ऋषि गृहस्थों के घर उन पर कृपा करने के लिए ही पधारते हैं।"

श्रील रामानन्दराय के प्रति श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के विशिष्ट सत्कार से स्पष्ट है कि चाहे राय का जन्म ब्राह्मण कुल में नहीं हुआ, पर भक्ति के ज्ञान एवं क्रिया में वे बहुत अधिक प्रगति कर चुके थे। इस कारण वे केवल जन्म के ब्राह्मणों से अधिक आदरणीय थे। यद्यपि अपने विनम्र-कोमल स्वभाव के कारण उन्होंने अपने को शूद्र कुल में जन्मा बताया, पर भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु उन्हें भक्ति के चरम दिव्य स्तर पर आरूढ़ मानते थे। भक्त अपनी महानता का कभी बखान नहीं करते; पर भगवान् अपने भक्तों की कीर्ति को प्रचारित करने को सदा उत्कण्ठित रहते हैं। गोदावरी तट पर उस दिन प्रात: काल पहले-पहल भेंट करके श्रील रामानन्दराय श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु की इस सहमति के साथ वापस चले गए कि वे सन्ध्या को श्रीमहाप्रभु से मिलेंगे।

सन्ध्या समय, स्नान करके श्रीमहाप्रभु विराजमान थे। तभी श्रील रामानन्द एक सेवक के साथ उनके दर्शन को आए। श्रीमहाप्रभु को प्रणाम करके वे सामने बैठ गए। श्रील रामानन्दराय भगवत्प्राप्ति के लिए दिव्य ज्ञान में उन्नति सम्बन्धी कुछ जिज्ञासा करें, इससे पूर्व ही श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु कहने लगे, "साध्य-निर्णय के लिए शास्त्र से कुछ श्लोक सुनाइए।"

श्रील रामानन्दराय ने अविलम्ब उत्तर दिया, "स्वधर्म का आचरण

करने से शनैः शनैः कृष्णभक्ति जागृत होती है।" उन्होंने 'विष्णुपुराण' से एक श्लोक पढ़ा (३.८.९)। उसके अनुसार स्वधर्माचरण से परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण आराधित होते हैं; उनकी प्रसन्नता का कोई अन्य मार्ग नहीं है। तात्पर्य यह है कि मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण से अपना सम्बन्ध समझना है तथा इसके अनुरूप क्रिया करने से प्रत्येक मनुष्य स्वधर्माचरण द्वारा अपने को भगवत्सेवा में लगा सकता है। इसी उद्देश्य से मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त है। सब वर्णों के लिए नियम-कर्त्तव्य का विधान है। भगवद्गीता (१८.४१-४४) में चारों वर्ण के कर्त्तव्य एवं गुणों का वर्णन है। सभ्य व्यवस्थित समाज को वर्णानुसार नियम पालन करना चाहिए। साथ ही, भगवत्प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—इन चारों आश्रमों का पालन भी अनिवार्य है।

श्रील रामानन्दराय ने कहा कि जो वर्णाश्रम का दृढ़तापूर्वक पालन करता है, वह वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करता है; उसका पालन न करने वाला निस्सन्देह अपने वर्त्तमान मनुष्य शरीर को व्यर्थ खो कर नरकगामी होता है। अपने लिए निर्धारित विधि-नियमों के पालन मात्र से सरलतापूर्वक जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव जन्म, संग एवं विद्यानुसार नियम-पालन के द्वारा बना करता है। समाज का इस प्रकार विभाजन किया जाता है कि विभिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों को संयमित किया जा सके जिससे समाज में शान्तिपूर्ण व्यवस्था के साथ ही साथ परमार्थिक विकास भी हो। सामाजिक वर्णों (श्रेणियों) का विवरण इस प्रकार हैः १) परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को जानने के लिए वेदाध्ययन में संलग्न मनुष्य ब्राह्मण हैं। (२) वीरता का प्रदर्शन तथा प्रशासन में कार्य करने वाले क्षत्रिय हैं। (३) कृषि, गोपालन और व्यापार करने वाले वैश्य हैं। (४) जो विशेष ज्ञान-शून्य होने के कारण अन्य तीन वर्णों की सेवा में तत्पर रहते हैं, वे शूद्र हैं। निष्ठापूर्वक स्वधर्माचरण करने से सिद्धि निश्चित है। इस प्रकार का संयमित जीवन सभी के लिए सिद्धि देने वाला है। जब स्वधर्माचरण की भक्ति में समाप्ति हो तभी हमें संसिद्धि प्राप्त होती है, नहीं तो स्वधर्माचरण में समय नष्ट ही हुआ समझना चाहिए। स्वधर्म के भली-भाँति आचरण के सम्बन्ध में श्रील रामानन्दराय की व्याख्या को सुनकर भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा कि ऐसा धर्माचरण बाह्य (बाहरी) है। ऐसा कहकर उन्होंने श्रील

रामानन्दराय को इस बाह्याचरण से श्रेष्ठ वस्तु की व्याख्या करने की प्रेरणा दी। यदि धर्म के कर्मकाण्ड के परिणाम से भक्ति न प्राप्त हो तो वह सब व्यर्थ ही है। भगवान् श्रीविष्णु वैदिक शिक्षा के कर्मकाण्डीय पालन से प्रसन्न नहीं होते। वे तो केवल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं।

श्रील रामानन्दराय द्वारा पढ़े श्लोक के अनुसार, कर्मकाण्ड से भक्ति तक पहुँचा जा सकता है। सभी श्रेणियों के उद्धार के लिए अवतार ग्रहण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता (१८.४५-४६) में कहा है कि स्वधर्म का आचरण करके आदि कारण परम-ईश्वर उन भगवान् (श्रीकृष्ण) की आराधना करने से मनुष्य चरम संसिद्धि पा सकता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा निन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

"जिस विधि से अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होता है उसकोतुम मुझसे सुनो। सबके कारण सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्ण का अपने कर्म द्वारा आराधन करने से परम सिद्धि प्राप्त होती है।"

इस संसिद्धि की पद्धति का बोधायन, टंक, द्रमिड़, गुहदेव कपर्दि, भारूचि आदि महाभागवतों ने पालन किया है। इन सब महापुरुषों ने संसिद्धि के इसी मार्ग का अनुसरण किया। वैदिक निर्देश भी इसी दिशा में संकेत करते हैं। श्रील रामानन्दराय इन तथ्यों को श्रीमहाप्रभु के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते थे, परन्तु स्पष्ट रूप से स्वकर्माचरण पर्याप्त नहीं था; भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने उसे बाह्य कहा। उनका संकेत था कि जिसकी देह में आत्मबुद्धि है, वह मनुष्य सब प्रकार के कर्मकाण्ड के द्वारा भी परम संसिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

अध्याय २८

भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्ध

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु कर्म-मीमांसा का खण्डन करना चाहते थे। अतः उन्होंने श्रीरामानन्दराय द्वारा उद्धृत विष्णुपुराण के वाक्य को अस्वीकार किया। कर्म मीमांसक ईश्वर को जीव के कर्माधीन समझते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार पुण्यकर्म करने पर ईश्वर पुण्य का फल देने के लिए बाध्य है। इस प्रकार विष्णुपुराण के वाक्य से प्रतीत होता है कि परमेश्वर भगवान् श्रीविष्णु स्वतन्त्र नहीं हैं, अपितु कर्त्ता को निश्चित फल देने के लिए वे बाध्य हैं। ऐसा परतन्त्र लक्ष्य आराधक के परवश सिद्ध होता है एवं आराधक अपने इच्छानुसार भगवान् को निर्गुण-निराकार या साकार मान सकता है। वास्तव में यह दर्शन परम सत्य के निराकार पक्ष को अधिक महत्त्व देता है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु को यह अप्रिय था। अतः उन्होंने इसका खण्डन किया।

अन्त में श्रीमहाप्रभु ने कहा, "आप को परतत्त्व की इस धारणा से श्रेष्ठ यदि कुछ आता हो तो कहिए।"

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का अभिप्राय समझकर भगवान् श्रीकृष्ण के लिए कर्मार्पण को श्रेष्ठ बताते हुए श्रील रामानन्द ने गीता (९.२७) से एक श्लोक पढ़ा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन, जो दान करते हो और जो भी तपस्या करते हो इन सबको मुझे अर्पण करो।"

श्रीमद्भागवत (११.२.३६) में ऐसा ही श्लोक है, जिसके अनुसार अपने कर्म, शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, आत्मा तथा प्रकृति आदि सब कुछ का भगवान् श्रीनारायण को समर्पण कर देना चाहिए।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने इस वाक्य को भी स्वीकार नहीं किया, वे बोले, "इससे श्रेष्ठ कुछ और कहिए।"

भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत में कहे भगवान् श्रीकृष्ण को सर्व-समर्पण करना उन्हें अपने कर्म का निराकार विषय बनाने से श्रेष्ठ है। किन्तु यह भी भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कर्मत्याग से नीचे है। योग्य मार्ग निर्देश के बिना कर्त्ता की संसार से आसक्ति नहीं मिटाई जा सकती। ऐसे सकाम कर्म से भवरोग बना रहेगा। यहाँ कर्त्ता को अपने कर्मफल का भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पण करने का निर्देश तो किया गया है, किन्तु प्राकृत बन्धन से मुक्ति के लिए कोई जानकारी नहीं दी गई है। अत: भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने इस प्रस्ताव को भी नहीं माना।

दो सुझावों के अस्वीकार होने पर श्रीरामानन्दराय ने निवेदन किया कि स्वधर्म को त्यागकर वैराग्य (अनासक्ति) द्वारा शुद्ध सत्त्व में स्थित हो जाना चाहिए। उन्होंने सांसारिक जीवन के पूर्ण त्याग के समर्थन के प्रमाण स्वरूप श्रीमद्भागवत (११.११.३२) में भगवान् श्रीकृष्ण के वचन कहे, "मैंने शास्त्रों में कर्मकाण्ड के सिद्धान्त और भक्ति की प्राप्ति की विधि का वर्णन किया है। यह धर्म की परम सिद्धि है।" श्रीरामानन्दराय ने गीता (१८.६६) में भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश का उल्लेख किया:

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

"अन्य सब धर्मों को त्यागकर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम भय मत करो।"

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस तीसरे प्रस्ताव को भी नहीं माना। वे दिखाना चाहते थे कि केवल त्याग करना ही पर्याप्त नहीं है। अनुकूल क्रिया भी आवश्यक है। अनुकूल क्रिया के अभाव में चरम सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। सामान्यत: संन्यासाश्रम में दो प्रकार की विचार-धारा वाले होते हैं। एक का लक्ष्य निर्वाण है तथा दूसरे का निर्गुण ब्रह्मज्योति। वे निर्वाण एवं ब्रह्मज्योति से परे परव्योम में स्थित वैकुण्ठ जगत् में पहुँचने की कल्पना भी नहीं कर सकते। साधारण वैराग्य में परव्योम के लोकों तथा अप्राकृत क्रियाओं के ज्ञान का अभाव है, इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस प्रस्ताव को भी अस्वीकार कर दिया।

श्रीरामानन्द राय ने गीता (१८.५४) से और प्रमाण प्रस्तुत किया—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।

"इस प्रकार जो मायातीत दिव्य स्तर में स्थित है, वह तुरन्त परम ब्रह्म का साक्षात्कार करता है और पूर्णतः प्रसन्न हो जाता है। वह न तो शोक करता है और न ही इच्छा करता है। वह सभी जीवों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरी विशुद्ध अर्थात् परा भक्ति प्राप्त होती है।"

श्रीरामानन्दराय ने पहले निष्काम भक्ति का वर्णन किया था, किन्तु यहाँ वे कह रहे हैं कि ज्ञानमिश्रा भक्ति उससे श्रेष्ठ है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने इस कथन को भी स्वीकार नहीं किया। ब्रह्मानुभुति होने पर भौतिक फलों का त्याग करने मात्र से परव्योम (वैकुण्ठ-जगत्) का और अप्राकृत क्रियाओं का ज्ञान नहीं होता। यद्यपि ब्रह्मभूत अवस्था प्राकृत दोषों से रहित है, किन्तु अनुकूल क्रिया के न रहने के कारण वह भी अपूर्ण है।

मन के स्तर पर होने के कारण वह बाह्य है। अप्राकृत क्रिया में पूर्णतः नियोजित हुए बिना शुद्ध जीवात्मा की मुक्ति नहीं होती। जब तक जीव का निर्विशेष अथवा शून्यवादी विचारधारा पर ध्यान केन्द्रित है, तब तक नित्य सच्चिदानन्दमय जीवन में उसका पूर्ण प्रवेश नहीं होता। ज्ञान की अपूर्णता में प्राकृत विविधताओं से मन की शुद्धि में कठिनाई होगी। इसी कारण कृत्रिम ध्यान द्वारा मन को शून्य करने के प्रयत्न में निर्विशेषवादी निराश होते हैं। मन को सब के सब प्राकृत विचारों से शून्य करना अत्यन्त कठिन है। भगवद्-गीता (१२.५) के अनुसार—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।

"जिनका चित्त परम सत्य के अव्यक्त, निर्विशेष स्वरूप में आसक्त है, उनके लिए पारमार्थिक उन्नति में विशेष कष्ट है। देहाभिमानी के लिए इस प्रकार के मार्ग में उन्नति करना सदा ही बड़ा कठिन है।"

ऐसे निर्विशेष ध्यान से प्राप्त मुक्ति भी पूर्ण नहीं होती। अतः श्रीगौर-सुन्दर चैतन्य महाप्रभु ने उसे अस्वीकार किया।

चौथा प्रस्ताव अस्वीकार हो जाने पर श्रील-रामानन्दरायने कहा कि ज्ञान शून्या भक्ति साध्यसार है। इसके समर्थन में उन्होंने श्रीमद्भागवत (१०.१४.३) से प्रमाण प्रस्तुत किया। ब्रह्माजी भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि
तैस्त्रिलोक्याम् ॥

"प्रभो! अद्वैतवादी मनोधर्म तथा ज्ञान के प्रयास को बिल्कुल त्याग देना चाहिए। सिद्ध भक्त से आप के लीला-विलास की कथा को सुनते हुए भक्ति में अपना दिव्य जीवन प्रारम्भ करे। जो इन सिद्धान्तों के अनुसार साधन करता तथा सत्यपूर्वक जीवन यापन करता है, उसकी इस पद्धति से प्रसन्न होकर सदा अजित होने पर भी आप उसके वशीभूत हो जाते हैं।"

श्रीरामानन्द के इस निवेदन को सुनकर भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने अविलम्ब कहा, "हाँ, यह ठीक है।" इस युग में त्याग, कर्ममिश्रा-भक्ति अथवा ज्ञानमिश्रा-भक्ति से दिव्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अधिकांश लोग पतित हो चुके हैं तथा क्रमबद्ध पद्धति से उनके उत्थान के लिए पर्याप्त समय भी नहीं है। अस्तु भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के मत में सर्वोत्तम विधि यही है कि उन्हें यथास्थिति रहने देकर गीता एवं श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथा के श्रवण में लगाया जाय। शास्त्रों की कथा का श्रवण सिद्ध भक्तों के मुखारविन्द से ही करना चाहिए। इस प्रकार, अपनी वर्त्तमान स्थिति में रहते हुए भी जीवमात्र प्रगति कर सकता है और ऐसी उन्नति करने से भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति निश्चित है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेने पर भी श्रीरामानन्द राय से भक्ति के अधिक श्रेष्ठ स्तर का वर्णन करने का अनुरोध किया। इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीरामानन्दराय को वर्णाश्रम-धर्म से क्रमिक विकास के वर्णन का अवसर प्रदान किया। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने वर्णाश्रम-धर्म तथा सकाम कर्म समर्पण को अस्वीकार किया, क्योंकि शुद्ध भक्ति में इन सिद्धान्तों का उपयोग नहीं के बराबर है। आत्म-साक्षात्कार के बिना, भक्ति की कृत्रिम विधियों को शुद्ध भक्ति नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध भक्ति अन्य सब प्रकार की अप्राकृत क्रियाओं से सर्वथा भिन्न है। अप्राकृत क्रिया की चरमावस्था लौकिक कामना, सकाम कर्म और ज्ञान विषयक मनोधर्म से सदा मुक्त होती है। इस परमावस्था का एक-मात्र ध्येय सरल तथा अनुकूल शुद्ध भक्ति का अभ्यास है।

श्रीरामानन्दराय श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का अभिप्राय समझ गए; उन्होंने कहा कि विशुद्ध कृष्णप्रेम की प्राप्ति ही सर्वसाध्य-सार है। पद्यावली में श्रीरामानन्दराय द्वारा रचित एक अतिशय मधुर श्लोक है। उसका तात्पर्य यह है: "जब तक उदर में भूख है, खान-पान की इच्छा है, तब तक

कोई भी पदार्थ सुखद प्रतीत होता है। इसी प्रकार परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा के नाना उपचार शुद्ध कृष्णप्रेम के मिश्रण से ही वास्तव में दिव्य आनन्द के स्रोत बनते हैं।" श्रीरामानन्दराय ने एक अन्य श्लोक की रचना की, जिसके अनुसार लाखों जन्मों के बाद भी भक्ति की प्राप्ति दुर्लभ है; पर यदि किसी प्रकार भक्ति की लालसा उदित हो जाय, तो भक्त-संग से यह सुलभ हो जाती है। अत: भक्तियोग की तीव्रतम लालसा होनी चाहिए। इन दो श्लोकों में श्रीरामानन्दराय ने विधि-सिद्धान्तों एवं विकसित कृष्णप्रेम का भी वर्णन किया है। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु भी उन्हें विकसित कृष्णप्रेम के स्तर पर लाकर वार्त्तालाप करना चाहते थे। इस प्रकार रामानन्दराय तथा श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का वार्त्तालाप कृष्णप्रेम के आधार पर उत्तरोत्तर प्रगति करता है।

साकार स्तर पर भगवद्प्रेम को प्रेमभक्ति कहते हैं। प्रारम्भ में, भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त में कोई विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, किन्तु प्रेमभक्ति की वृद्धि होने पर भगवान् श्रीकृष्ण से विविध दिव्य रसों में से कोई एक विशेष सम्बन्ध प्रकाशित होता है। पहली स्थिति दास्य है। इसमें भगवान् स्वामी तथा भक्त नित्यदास माने जाते हैं। भगवान् श्रीगौरसुन्दर द्वारा इस पद्धति को स्वीकार करने पर श्रीरामानन्दराय ने सेवक-स्वामी के सम्बन्ध का वर्णन किया। श्रीमद्भागवत (९.५.१६) के अनुसार, अहंकारी दुर्वासा योगी उस काल के सर्वोत्तम भक्त महाराज अम्बरीष से ईर्ष्या कर बैठे। महाराज अम्बरीष को कष्ट देने के प्रयत्न में दुर्वासा मुनि की बहुत दुर्गति हुई, वे साक्षात् भगवान् के सुदर्शन चक्र से परास्त हुए। अपनी भूल स्वीकार करते हुए दुर्वासा मुनि ने कहा, "निरन्तर भगवान् की भक्ति-सेवा में संलग्न शुद्ध भक्तों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, क्योंकि वे उन भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अभिरत हैं, जिनका नाम भी मुक्तिदायक है।"

स्तोत्ररत्न (४६) में श्रीयामुनाचार्य ने लिखा है: "हे प्रभो! जो आपकी सेवा से अपने को वंचित रखते हैं, वे अनाथ हैं। केवल अपने लिए ही कर्म करने से उन्हें किसी श्रेष्ठ शक्ति का आश्रय नहीं है। अत: मैं उस समय के लिए आतुर हूँ जब प्राकृत कामना तथा मन के बन्धन से मुक्त होकर पूर्ण रूप से आपकी दिव्य प्रेममयी सेवा में लगूँगा। ऐसी विशुद्ध भक्ति से युक्त होने पर ही मैं यथार्थ दिव्य जीवन का आस्वादन कर सकूँगा।"

इस वाक्य को सुन कर भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने श्रीरामानन्दराय से और आगे वर्णन करने का अनुरोध किया।

अध्याय २९

विशुद्ध कृष्णप्रेम

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु से प्रोत्साहन पाकर श्रीरामानन्दराय ने कहा कि श्रीकृष्ण से सख्य प्रेम सर्वसाध्यसार है। इस प्रकार श्रीरामानन्दराय निर्देश करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण से स्नेह-सम्बन्ध के बढ़ने पर उनमें सम्भ्रम-भाव तथा गौरव-बुद्धि घट जाते हैं। इस स्थिति को, जब विश्वास का भाव प्रबल रहता है, सख्य कहते हैं। सख्यभाव में श्रीकृष्ण तथा उनके सखाओं में समानता का भाव है।

इस सन्दर्भ में, श्रीरामानन्दराय ने श्रीमद्भागवत से वह श्लोक पढ़ा (१०.१२.११), जिसमें शुकदेव गोस्वामी ने सखाओं के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की वनभोजन-लीला का वर्णन किया है। भगवान् श्रीकृष्ण सखाओं सहित गोचारण को वन में गए। सखाओं ने भगवान् के साथ अलौकिक सख्य का आस्वादन किया। श्रीकृष्ण को महर्षिगण निर्गुण, भक्त भगवान् तथा साधारणजन अपने समान साधारण मनुष्य समझते हैं।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने इस वाक्य को अत्युत्तम बताया; किन्तु फिर कहने लगे, "और आगे कहो।" इस प्रार्थना पर श्रीरामानन्दराय ने कहा कि श्रीकृष्ण से वात्सल्य प्रेम सख्य से भी श्रेष्ठ दिव्य स्थिति है। सख्य प्रेम बढ़ कर पिता-पुत्र में होने वाले वात्सल्य प्रेम में विकसित हो जाता है। इस सन्दर्भ में श्रीरामानन्दराय ने श्रीमद्भागवत (१०.८.४६) से वह श्लोक उद्धृत किया, जिसमें महाराज परीक्षित् ने शुकदेवजी से पूछा है कि यशोदा मैया ने कौन से पुण्यकर्म किए थे, जो वे श्रीकृष्ण की माँ कहलाईं और भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका स्तनपान किया। श्रीमद्भागवत से ही एक अन्य श्लोक (१०.९.२०) उद्धृत किया, जिसमें उल्लेख है कि यशोदाजी को भगवान् श्रीकृष्ण की ऐसी अतुलनीय कृपा प्राप्त हुई कि उनकी तुलना विरंचि

ब्रह्मा, शिव अथवा श्रीविष्णु वक्षविलासिनी लक्ष्मी को मिली कृपा से भी नहीं हो सकती।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने माधुर्यप्रेम पर पहुँचने के लिए श्रीरामानन्द राय से और आगे कहने का अनुरोध किया। श्रीगौरसुन्दर के मनोभाव को जानकर श्रीरामानन्द राय ने तुरन्त कह दिया कि श्रीकृष्ण से कान्ता प्रेम ही वस्तुत: सर्वसाध्यसार है। भगवान् श्रीकृष्ण से अन्तरंग सम्बन्ध इस प्रकार बढ़ता है—भगवान् श्रीकृष्ण की साधारण धारणा से दास्यभाव होता है। दास्यभाव के अन्तरंग होने पर यह सख्यभाव में विकसित हो जाता है तथा सख्यभाव की अभिवृद्धि से वात्सल्य भाव होता है। प्रेम के सर्वोच्च स्तर पर पहुँचने पर इसे श्रीकृष्ण से कान्ता प्रेम कहते हैं। श्रीरामानन्द राय ने श्रीमद्भागवत से एक अन्य श्लोक उद्धृत किया (१०.४७.६०), जिसमें उल्लेख है कि रास-लीला के समय भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियों में परस्पर प्रदर्शित अप्राकृत प्रेमभाव का परव्योम में श्रीभगवान् की वक्ष-विलासिनी लक्ष्मी ने भी कभी आस्वादन नहीं किया। फिर साधारण स्त्रियों का तो कहना ही क्या?

श्रीरामानन्दराय ने आगे कृष्णप्रेम की वृद्धि के सोपानों का वर्णन सुनाया। उन्होने निर्देश किया कि जीवात्मा का भगवान् श्रीकृष्ण से अपने लिए उपयुक्त विशेष सम्बन्ध है। वास्तव में परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्ध दास्य भाव से प्रारम्भ होकर, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव में परिपुष्ट होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के साथ जिस को जो विशेष सम्बन्ध प्राप्त है, उसके लिए वही सर्वोत्तम है। फिर भी इन सम्बन्धों के तटस्थ विचार से समझा जाता है कि ब्रह्मभूतावस्था पहली है। श्रीकृष्ण को स्वामी और अपने को सेवक समझने पर सम्बन्ध का विकास होता है। श्रीकृष्ण को सखा और पुत्र मानने पर सम्बन्ध और आगे बढ़ता है। इस प्रकार यह सम्बन्ध सख्य से वात्सल्य में पुष्ट होकर अन्त में माधुर्य भाव के रूप में विकसित होता है, जो भगवान् श्रीकृष्ण से जीव का परम सम्बन्ध है।

दास्य भाव में स्वरूप-साक्षात्कार निस्संदेह अप्राकृत है तथा सख्य भाव के जुड़ने पर सम्बन्ध बढ़ता है। प्रेम की अभिवृद्धि के साथ यह सम्बन्ध वात्सल्य एवं माधुर्य में विकसित हुआ करता है। श्रीरामानन्दराय ने भक्तिरसामृतसिन्धु से एक श्लोक उद्धृत किया जिसके अनुसार श्रीकृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम सब स्तरों पर अप्राकृत है; किन्तु किसी भी भक्त की

किसी विशेष सम्बन्ध में अभिरुचि रहती है, जिससे वह सम्बन्ध अन्य सम्बन्धों की तुलना में उसके लिए अधिक आस्वाद्य है।

भगवान् श्रीकृष्ण के साथ ऐसे अप्राकृत सम्बन्धों का निर्माण कपटी भक्तों के मनोधर्म से नहीं होता। भक्तिरसामृतसिन्धु (१.२.१०१) में श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि वैदिक शास्त्रों से अप्रमाणित तथा वैदिक सिद्धान्तों का अनुसरण न करने वाली भक्ति का कभी अनुमोदन नहीं किया जा सकता। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी का कथन है कि व्यावसायिक गुरु, भागवत-वाचक, कीर्त्तन तथा काल्पनिक भक्ति करने वाले मान्य नहीं हो सकते। आउल, बाउल, कर्ताभजा, नेड़ा, दरवेश, साँई, अतिवाड़ी, चूड़ाधारी तथा गौरांगनगरी नामक बहुत से व्यावसायिक सम्प्रदाय हैं। केवल जन्म से अपने को गोस्वामी बताने वाले को श्रील सनातन, श्रीजीव श्रीरूप आदि छः गोस्वामियों का वंशज नहीं स्वीकार किया जा सकता। श्रीचैतन्य महाप्रभु सम्बन्धी गीत बनाने वाले नामधारी भक्त, व्यावसायिक पुजारी और कथावाचक भी मान्य नहीं हैं। पंचरात्र में आस्थाहीन, निर्गुणवादी अथवा कामी की तुलना कृष्णसेवा में जीवन का समर्पण करने वालों से नहीं की जा सकती। सदा श्रीकृष्णभावनामृत में संलग्न शुद्ध कृष्ण भक्त भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अपना सर्वस्व त्याग सकता है। श्रीगौरसुन्दर, श्रीकृष्ण तथा गुरुदेव की सेवा में जीवन समर्पित करने वाले गृहस्थ अथवा श्रीमहाप्रभु की परम्परा के संन्यासी, भक्त हैं—व्यावसायिक मनुष्य उनके तुल्य कभी नहीं हो सकता।

जो सम्पूर्ण प्राकृत दोषों से मुक्त हैं, उनके लिए भगवान् श्रीकृष्ण से कोई भी सम्बन्ध दिव्य रसमय है। दुर्भाग्यवश, दिव्य विद्या में अनुभवहीन लोग भगवान् श्रीकृष्ण के साथ विविध सम्बन्धों का मूल्य नहीं समझ सकते। वे समझते हैं कि ये सब सम्बन्ध माया की उत्पत्ति हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में उल्लेख है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश (पंच महाभूत) सूक्ष्म तत्त्वों से स्थूल रूप ग्रहण करते हैं। उदाहरणस्वरूप, शब्द आकाश में होता है, किन्तु वायु में शब्द और स्पर्श दोनों हैं। अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप भी है। जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस है तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध भी है। जिस प्रकार विभिन्न गुण क्रमशः आकाश से पृथ्वी तक बढ़ते हैं, वैसे ही भक्ति के पाँचों लक्षण अभिवृद्धित होते हैं, माधुर्य भाव में ये सभी परिपूर्ण रहते हैं। अतएव माधुर्य भाव में श्रीकृष्ण का सम्बन्ध कृष्ण-प्रेम की परमावस्था मानी जाती है।

श्रीमद्भागवत (१०.८२.४५) में उल्लेख है— "भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति जीव का जीवन-सर्वस्व है।" श्रीकृष्ण ने व्रजगोपियों से कहा कि उन गोपियों का उन (श्रीकृष्ण) के लिए प्रेम ही उन्हें कृष्णसंग प्राप्ति का हेतु है। कहा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण भक्त की अभिरुचि के अनुसार सब प्रकार की भक्ति स्वीकार करके भक्त की इच्छा पूर्ण करते हैं। यदि कोई भगवान् श्रीकृष्ण से दास्य भाव का इच्छुक हो तो श्रीकृष्ण पूर्ण स्वामी का अभिनय करते हैं। श्रीकृष्ण को पुत्र रूप में चाहने वाले के लिए श्रीकृष्ण पुत्र बन जाते हैं। इसी प्रकार, माधुर्य भाव में श्रीकृष्ण की आराधना के अभिलाषी के लिए श्रीकृष्ण कान्त अथवा प्रेमी बनते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं माना है कि व्रजगोपियों से उनका माधुर्य प्रेममय सम्बन्ध सर्वोपरि संसिद्धि है। श्रीमद्भागवत में (१०.३२.२२) श्रीकृष्ण गोपियों से कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

"हे व्रजगोपियो! मेरे साथ तुम्हारा माधुर्य प्रेममय सम्बन्ध पूर्ण दिव्य है, तुम्हारे इस प्रेम का बदला मैं अनेक जन्मों में भी नहीं चुका सकता। सब प्राकृत सुखोपभोग को त्याग कर तुमने मेरा अन्वेषण किया है। तुम्हारा ऋण चुकाने में मैं असमर्थ हूँ, इसलिए अब तुम्हें अपने साधुत्व से ही सन्तुष्ट होना होगा।"

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के अनुसार एक श्रेणी के साधारण मनुष्यों का मत है कि कोई भी परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अपनी मनोकल्पना से पूजा कर श्रीकृष्ण को प्राप्त कर सकता है। उन लोगों के मतानुसार भगवान् की प्राप्ति सकाम कर्म, मनोधर्म, ध्यान, तप आदि किसी भी साधन से हो जाती है, अर्थात् ये सभी साधन सफल होंगे। उनकी धारणा में विभिन्न मार्गों पर चलने से भी एक ही स्थान की प्राप्ति हो सकती है। वे कहते हैं कि परतत्त्व की आराधना 'काली', 'दुर्गा', 'शिव', 'गणेश', 'राम', 'हरि' अथवा 'ब्रह्मा' आदि किसी भी रूप में की जा सकती है। संक्षेप में, उनके अनुसार परतत्त्व को कैसे पुकारा जाता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सभी नाम एक हैं। वे उस मनुष्य का उदाहरण देते हैं, जिसके अनेक नाम हों, किसी नाम से पुकारे जाने पर वह उत्तर देगा ही।

ऐसे विचार भले ही साधारणजन को रुचिकर हों, पर वे अशुद्ध धारणाओं से पूर्ण हैं। जो प्राकृत कामनाओं से प्रेरित होकर देवताओं को भजता है वह भगवान् श्रीकृष्ण को कैसे प्राप्त हो सकता है? देवोपासना करने पर

भगवान् की बहिरंगा शक्ति कुछ फल दे सकती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसी उपासना से भगवत्प्राप्ति भी होगी। वस्तुतः भगवद्गीता (७.२३) में देवोपासना का विरोध है—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

"अल्पबुद्धि मनुष्य देवोपासना करते हैं, परन्तु उनका फल अल्प और नाशवान् होता है। देवोपासक देवलोक को जाते हैं, जबकि मेरे भक्त अन्त में मेरा परम धाम प्राप्त करते है।"

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अपने संग का प्रसाद अपने भक्तों को ही प्रदान करते हैं, देवोपासकों को नहीं। यह सत्य नहीं है कि प्राकृत देवोपासनां से भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अतः देवोपासना से संसिद्धि की कल्पना करना बड़ा आश्चर्यमय है। पूर्ण कृष्णभावनाभावित भक्ति के फल की देवोपासना, सकाम कर्म अथवा मनोधर्म से कोई तुलना नहीं हो सकती। सकाम कर्म से केवल स्वर्गलोक या नरक में ही जाया जा सकता है, भगवद्धाम में नहीं।

अध्याय ३०

श्रीराधाकृष्ण का दिव्यातिदिव्य लीला-विलास

साधारण धर्मानुष्ठान तथा भक्ति में गम्भीर भेद है। धर्मानुष्ठान से अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु दिव्य भक्ति का फल ऐसे नश्वर लाभों से बिल्कुल भिन्न है। भगवद्भक्ति नित्य नवीन और उत्तरोत्तर अधिक दिव्य सुखमयी है। इस प्रकार भक्ति और धर्मानुष्ठान के फल में बड़ा भेद है। प्राकृत जगत् की स्वामिनी जगधात्री अथवा महामाया नामक महान् शक्ति, प्राकृत-विभागों के निदेशक देवगण तथा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के कार्य भी परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के वैभव की उल्टी छाया मात्र हैं। देवगण भगवान् श्रीकृष्ण के आज्ञापालक एवं सृष्टि-व्यवस्था में सहायक हैं। ब्रह्मसंहिता में कथन है कि परम शक्तिशाली नियन्त्री दुर्गा भगवान् श्रीकृष्ण के कार्य की केवल छाया भर हैं। सूर्य भगवान् श्रीकृष्ण का नेत्र हैं तथा ब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रतिबिम्बित प्रकाश के समान कार्यकर्त्ता हैं। इस प्रकार बहिरंगा प्रकृति, दुर्गादेवी सहित सारे देवगण विभिन्न विभागों के निदेशक के रूप में प्राकृत जगत् में परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के सेवक हैं।

वैकुण्ठ जगत् में एक अन्य शक्ति है—परा अन्तरंगा शक्ति, जो योगमाया के आदेशानुसार क्रिया करती है। योगमाया भगवान् श्रीकृष्ण की अन्तरंगा प्रकृति है; वह भी श्रीकृष्ण के आदेशानुसार कार्यशील है, पर उसका कार्य क्षेत्र वैकुण्ठ जगत् है। महामाया से निकल कर अपने को योगमाया के निर्देश में स्थित कर देने पर जीवात्मा शनैः शनैः कृष्णभक्त बन जाती है। ऐसा होने पर भी प्राकृत वैभव अथवा सुख के अभिलाषी स्वयं को महामाया अथवा शिवादि प्राकृत देवगणों के संरक्षण में रखते हैं। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण को पति रूप में पाने की अभिलाषा से वृन्दावन की गोपीजनों ने योगमाया से अपनी कामना पूर्ति के लिए प्रार्थना की। सप्तशती

में उल्लेख है कि राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य ने प्राकृत वैभव की प्राप्ति हेतु महामाया की आराधना की। इन दोनों योगमाया और महामाया को भ्रमवश एक नहीं समझना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण परतत्त्व हैं; इसलिए कृष्णनाम और स्वयं श्रीकृष्ण में कोई भेद नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण के विविध नाम हैं, जिनमें से प्रत्येक का अलग अभिप्राय और अर्थ है। उदाहरणतः उन्हें परमात्मा, सृष्टिकर्त्ता, श्रीनारायण, श्रीरुक्मिणीरमण, श्रीगोपीनाथ, श्रीकृष्ण आदि कहा जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से भगवान् श्रीकृष्ण के विविध नाम हैं। परम-ईश्वर श्रीकृष्ण का स्रष्टा-रूप उनके पालक नारायण-रूप से भिन्न है। श्रीकृष्ण के स्रष्टा-रूप के कुछ नाम संसारी मनुष्यों द्वारा समझे जा सकते हैं। स्रष्टा के नाम को समझने से भगवान् के तत्त्व के सार का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्राकृत सृष्टि भगवान् श्रीकृष्ण की बहिरंगा शक्ति का ही एकमात्र कार्य है। अतः स्रष्टा के रूप में ईश्वर की धारणा केवल बाह्य है। इसी प्रकार भगवान् को ब्रह्म कहने पर हमें परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के छः ऐश्वर्यों का कुछ भी आभास नहीं होता। ब्रह्मानुभूति में षडैश्वर्य का पूर्ण अनुभव नहीं है। अतः ब्रह्मानुभूति को भी भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान नहीं कहा जा सकता। परमात्मानुभूति भी पूर्ण भगवत्प्राप्ति नहीं है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता उनके ऐश्वर्य का आंशिक प्रकाशमात्र है।

यहाँ तक कि नारायण भक्त द्वारा वैकुण्ठ में अनुभूत दिव्य रस-सम्बन्ध भी अपूर्ण है; उसमें गोलोक वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्ध की प्राप्ति नहीं है। कृष्ण भक्तों को नारायण-भक्ति तक में आनन्द नहीं आता; कृष्णभक्ति इतनी चित्ताकर्षक है कि कृष्णभक्त अन्य किसी रूप को नहीं भजना चाहता है। श्रीधाम वृन्दावन की गोपियाँ श्रीकृष्ण को रुक्मिणीवल्लभ रूप में नहीं देखना चाहतीं और न ही उन्हें रुक्मिणीरमण सम्बोधित करती हैं। श्रीधाम वृन्दावन में श्रीकृष्ण को राधाकृष्ण अथवा 'राधा की सम्पत्ति' कृष्ण कहते हैं। यद्यपि रुक्मिणीरमण तथा श्रीराधा के कृष्ण साधारण अर्थ में एक ही हैं, किन्तु वैकुण्ठ जगत् में ये दोनों नाम भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य श्रीविग्रह के दो भिन्न रूपों का संकेत करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीरुक्मिणी-रमण, श्रीराधारमण, श्रीनारायण आदि नामों को समान समझने से रसाभास का दोष होता है। निपुण भक्त शुद्धभक्ति के सिद्धान्तों के विरुद्ध ऐसे मिश्रणों को ग्रहण नहीं करते।

भगवान् श्रीकृष्ण मूर्तिमान् सर्व माधुर्य-सौन्दर्यमय हैं, व्रजगोपियों के

मध्य उन्हें गोपीजनवल्लभ कहा जाता है। कोई भी भक्त श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का गोपियों से अधिक आस्वादन नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवत (१०.३३.७) में प्रमाणित है कि यद्यपि देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अप्रतिम, अद्वितीय, सर्वाधिक माधुर्य-सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं, पर वे भी गोपियों के मध्य में अप्राकृत स्वर्णाभूषण में महामणि जैसे शोभित होते हैं। श्रीकृष्ण के इस माधुर्य प्रेमी रूप को साध्यावधि मानते हुए भी भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीरामानन्दराय से और आगे वर्णन करने का अनुरोध किया।

इस अनुरोध को सुनकर, श्रीरामानन्दराय ने कहा कि यह प्रथम अवसर है जब उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण को समझने के प्रयत्न में गोपियों से आगे जाने के लिए कहा गया है। श्रील रामानन्द ने निर्देश किया कि व्रजगोपियों तथा श्रीकृष्ण में निस्संदेह दिव्य अन्तरंगता है; फिर भी सब रस सम्बन्धों में श्रीराधाकृष्ण का माधुर्य प्रेममय सम्बन्ध परमोच्च है। साधारण व्यक्ति श्रीराधाकृष्ण के दिव्य प्रेमानन्द अथवा श्रीकृष्ण एवं गोपियों के अप्राकृत प्रेमरस को नहीं समझ सकता। किन्तु गोपीजन के आनुगत्य से दिव्य भगवत्-प्रेम की परमोच्चावस्था में स्थिति हो सकती है। अत: संसिद्धि के शुद्ध सत्त्व में स्थिति के अभिलाषी को गोपियों की किंकरी (सेविका) के रूप में उनका आनुगत्य करना चाहिए।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने द्वारका में श्रीकृष्ण का संयोग होने पर श्रीमती राधारानी के भाव का प्रकाश किया। ऐसा दिव्य प्रेम साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं। अत: किसी को भी भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रकाशित परमोच्च प्रेमावस्था का अनुकरण नहीं करना चाहिए; उस भाव की इच्छा होने पर गोपीजन का आनुगत्य ही करना चाहिए। पद्मपुराण में उल्लेख है कि जिस प्रकार वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधारानी भगवान् श्रीकृष्ण को प्रिय हैं, वैसे ही राधाकुण्ड भी उन्हें अतिशय प्रिय है। कृष्णप्रिया राधारानी सारी गोपिकाओं में श्रीकृष्ण की सर्वाधिक प्रिया हैं। श्रीमद्भागवत (१०.३०.२८) में भी उल्लेख है कि श्रीमती राधारानी एवं गोपियों ने श्रीगोविन्द की सर्वोच्च रागानुगा आराधना की है। भगवान् श्रीकृष्ण उनसे इतने प्रसन्न रहते हैं कि वे श्रीमती राधारानी का संग कभी नहीं त्यागना चाहते।

श्रीराधाकृष्ण की प्रेममयी लीला के सम्बन्ध में रामानन्द राय से श्रवण कर भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु कहने लगे, 'आगे कहो। और

सुनाते रहो।" श्रीमहाप्रभु ने यह भी कहा कि श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम-विलास का वे अतिशय रसास्वादन कर रहे हैं। वे बोले, "राय! तुम्हारे मुख से रसामृत की अपूर्व कल्लोलिनी प्रवाहित हो रही है।" श्रीरामानन्दराय ने आगे कहा कि गोपियों के मध्य नृत्य करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने विचार किया, "प्राणवल्लभा राधारानी को मैं विशिष्ट सम्मान नहीं दे रहा हूँ।" अन्य गोपियों के मध्य श्रीमती राधारानी इतनी प्रेमास्पदा नहीं थीं। अत: श्रीकृष्ण रास-मण्डल से उन्हें चुरा कर ले गए और इस प्रकार उन पर विशेष कृपा की। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु को यह वर्णन सुना करके श्रीरामानन्द-राय ने कहा, "आइए अब श्रीश्रीराधाकृष्ण के दिव्य प्रेममय लीला-विलास का रसास्वादन करें। इस प्राकृत जगत् में इसकी कोई उपमा नहीं है।"

श्रीरामानन्दराय वर्णन करते गए। रास के समय विशिष्ट सम्मान न पाकर रुष्ट श्रीमती राधारानी ने रासमण्डल को एकाएक त्याग दिया। रास के प्रयोजन की पूर्ति करने को भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानी के दर्शन के लिए आतुर थे। पर श्रीमती राधारानी को वहाँ न देखकर वे विलाप करते हुए उनकी खोज करने चले। गीतगोविन्द के एक श्लोक में उल्लेख है कि कंसारि भगवान् श्रीकृष्ण भी स्त्रियों के प्रेमपाश में बँधना चाहते थे। अत: व्रजगोपियों को त्यागकर और श्रीमती राधारानी को साथ लेकर वे अन्यत्र चले गए। श्रीमती राधारानी की अनुपस्थिति से भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त पीड़ित थे, अत: इस मनोव्यथा में यमुना तट पर वे उनकी खोज करने लगे। श्रीमती राधारानी के न मिलने से निराश होकर, वे श्रीधाम वृन्दावन के कुंज में विषाद करने लगे। श्रीरामानन्द राय ने कहा कि 'गीतगोविन्द' के इन दो विशिष्ट श्लोकों (३.१-२) का तात्पर्य समझने पर श्रीराधाकृष्ण की प्रेममयी लीला के परमोच्चामृत का आस्वादन हो सकता है। यद्यपि रासविलास में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ बहुत सी गोपियाँ थीं, किन्तु श्रीश्यामसुन्दर श्रीमती राधा के संग-विहार के लिए ही विशेष लालायित थे। रास में श्रीकृष्ण एक-एक रूप से दो गोपियों के मध्य प्रकट हुए, पर श्रीमती राधारानी के साथ वे विशेष रूप से विराजमान थे। फिर भी श्रीमती राधारानी श्रीकृष्ण के व्यवहार से प्रसन्न नहीं थीं। 'उज्ज्वल-नीलमणि' में वर्णन है— "प्रेम की गति सर्प की चाल के अनुरूप है। युवा प्रेमियों में दो प्रकार की मनोदशा रहती है— हेतुरहित और सकारण। अत: विशिष्ट सम्मान न मिलने के कारण जब श्रीमती राधारानी रोषपूर्वक रास-मण्डल को त्याग कर चली गई, तो श्रीकृष्ण उनके वियोग से अतिशय

व्याकुल हुए। रास की पूर्णता राधारानी की उपस्थिति पर निर्भर थी। उनकी अनुपस्थिति में भगवान् श्रीकृष्ण ने रास को बाधित समझा। अत: वे उनके अन्वेषणार्थ रास-मण्डल से चले। अनेक स्थलों पर भ्रमण करने पर भी जब भगवान् को श्रीराधा नहीं मिलीं, तो वे अति खिन्न हो गए। इससे यह समझना चाहिए कि सब गोपियों के बीच भी श्रीकृष्ण आनन्दानुभव नहीं कर सके। श्रीमती राधारानी की सन्निधि ही उन्हें सुखी करती है।

श्रीरामानन्दराय द्वारा प्रतिपादित श्रीराधाकृष्ण के इस दिव्य प्रेम का विवरण सुन कर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "मैं तुम्हारे पास श्रीराधा-कृष्ण का अप्राकृत प्रेमविलास समझने आया था। तुम्हारे इस सुन्दर वर्णन से मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारे कथन से मैं जान गया कि श्रीराधाकृष्ण का यह प्रेम परमोच्च है।" फिर भी उन्होंने श्रीरामानन्दराय से कुछ और वर्णन करने का निवेदन किया—"श्रीराधाकृष्ण का अप्राकृत स्वरूप क्या है? उनमें परस्पर विनिमय होने वाले भाव और रस का क्या दिव्य स्वरूप है? तुम्हारे कृपामय निरूपण से मैं अतिशय आभारी होऊँगा। तुम्हारे अतिरिक्त कोई भी यह सब वर्णन करने में समर्थ नहीं है।"

रायरामानन्द ने पूर्ण नम्रता के साथ उत्तर में कहा, "प्रभो! इन तत्त्वों के सम्बन्ध में मैं तो कुछ भी नहीं जानता हूँ। जो कुछ आप कहलवाते हैं, कह देता हूँ। मैं जानता हूँ कि आप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, फिर भी मुझसे श्रवण कर कृष्णकथा का आस्वादन कर रहे हैं। अत: कृपया मेरे दोषयुक्त वर्णन को क्षमा करें। आपकी प्रेरणानुसार मैं वर्णन करता हूँ।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने विरोध किया, "मैं तो एक मायावादी संन्यासी हूँ। मुझे भक्ति के दिव्य स्वरूप का भला क्या ज्ञान? श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के महत्प्रसाद से मेरा मन निर्मल हो गया है और अब मैं कृष्णभक्ति का स्वरूप समझने का प्रयत्न कर रहा हूँ। भट्टाचार्य ने कृष्णकथा के लिए मुझे तुम्हारे दर्शन करने का आदेश दिया था। उनका कहना था कि केवल श्रीरामानन्दराय ही कृष्णप्रेम के विषय में कुछ जानते हैं। अत: उनके निर्देशानुसार मैं तुम्हारे निकट आया हूँ। इसलिए मुझ से श्री श्रीराधाकृष्ण के सम्पूर्ण अन्तरंग लीला-विलास का वर्णन करने में संकोच न करो।"

इस प्रकार, भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीरायरामानन्द के आगे शिष्य का स्थान लिया। इसका अत्यन्त गम्भीर महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप का ज्ञान पाने के यथार्थ पिपासु को वास्तव में श्रीकृष्णभावनामृत में समृद्ध गुरु की शरण में जाना चाहिए। अपने जन्म,

वैभव, विद्या, रूपादि का अभिमान नहीं करना चाहिए और न ही सब के द्वारा श्रीकृष्णभावनामृत के उत्तम अधिकारी को जीतने का यत्न ही करना चाहिए। कृष्णभक्त को लौकिक प्रलोभन देने के भ्रम से उसके निकट जाने वाला इस विज्ञान के विषय में विमोहित होगा। पूर्ण दैन्य भाव से कृष्णभक्त के पास जाकर भली प्रकार से प्रश्न करना चाहिए। चुनौती की इच्छा से उसके पास जाने पर उत्तम कृष्णभक्त किसी काम नहीं आएगा। चुनौती देने वाले अभिमानी को कृष्णभक्त से कोई भी लाभ नहीं हो सकता, वह प्राकृत बुद्धि वाला बना रहेगा। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु उच्च ब्राह्मण कुल में प्रकट हुए तथा संन्यास की परम सिद्धावस्था में स्थित थे, फिर भी उन्होंने अपने आचरण से सिखाया कि एक उच्च पुरुष भी रामानन्दराय से शिक्षा लेने में संकोच नहीं करेगा, यद्यपि श्रील रामानन्द जन्म से ब्राह्मण नहीं थे और गृहस्थ भी थे।

इस प्रकार भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि सच्चा जिज्ञासु इस बात को कभी महत्त्व नहीं देता कि उसके गुरु उच्च ब्राह्मण कुल के हैं अथवा क्षत्रिय, संन्यासी, ब्रह्मचारी या कुछ और हैं। जो कोई भी कृष्णतत्त्व का उपदेश कर सके, उसे गुरु मानना चाहिए।

अध्याय ३१

परम संसिद्धि

जो कृष्णतत्त्व श्रीकृष्णभावनामृत का पूर्ण ज्ञाता है, चाहे किसी भी वर्ण-आश्रम में क्यों न हो, वह प्रामाणिक गुरु, आचार्य अथवा शिक्षक बनने योग्य है। भाव यह है कि जो कृष्णतत्त्व—श्रीकृष्णभावनामृत को पूर्ण रूप से जानता है, वह योग्य गुरु बन सकता है। गुरुत्त्व का आधार विशिष्ट वर्ण या जन्म नहीं है। यह भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु का वेदसम्मत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने, जो पूर्वाश्रम में श्रीविश्वम्भर नाम से ख्यात थे, श्रीईश्वर पुरी संन्यासी को अपना गुरु बनाया था। इसी प्रकार श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैत प्रभु ने भी एक संन्यासी श्रीमन्माधवेन्द्र पुरी को गुरु स्वीकार किया था। ये श्रीमाधवेन्द्र पुरी लक्ष्मीपति तीर्थ भी कहलाते हैं। इसी भाँति श्रीरसिकानन्द नाम के महान् आचार्य ने अब्राह्मण कुल के श्रीश्यामानन्द गोस्वामी का शिष्यत्त्व ग्रहण किया था। श्रीगंगानारायण चक्रवर्ती ने भी श्रील नरोत्तमदास ठाकुर को अपना गुरु बनाया था। प्राचीन काल में धर्म नामक एक व्याध बहुत लोगों का गुरु हुआ है। महाभारत और श्रीमद्भागवत (७.११.३२) में स्पष्ट आदेश है कि किसी को भी--चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कुल में उत्पन्न हो, उसके गुणों के अनुसार स्वीकार करना चाहिए, जन्म के आधार पर नहीं।

जन्म के स्थान पर स्वभाव और गुणों से ही सब स्थिति का निर्णय होना चाहिए। उदाहरणस्वरूप, ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी जो शूद्र के गुण रखता है वह शूद्र ही मानने योग्य है तथा शूद्र कुल में जन्म लेकर जो ब्राह्मण गुणों वाला है उसे ब्राह्मण ही समझना चाहिए। सारे शास्त्रीय सिद्धान्त तथा महापुरुषों के मत स्थापित करते हैं कि योग्य गुरु के लिए ब्राह्मण कुल में जन्म लेना अनिवार्य नहीं। गुरु की एकमात्र योग्यता है कि

उन्हें कृष्णतत्त्व का ज्ञाता, कृष्णभावनाभावित होना चाहिए। इस एकमात्र गुण से गुरुत्व की पूरी योग्यता आ जाती है। श्रीरामानन्दराय के वार्तालाप में श्रीगौरसुन्दर का यह सिद्धान्त-निर्णय है।

'हरिभक्तिविलास' में उल्लेख है कि यदि एक योग्य गुरु ब्राह्मण कुल में जन्मा हो और दूसरा योग्य गुरु जन्म से शूद्र हो, तो उन दोनों में से पहले ब्राह्मणकुल में उत्पन्न गुरु को स्वीकार करना चाहिए। इस वाक्य से केवल सामाजिक व्यवस्था का प्रयोजन है। भगवद्भाव से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह शिक्षा उन्हीं के लिए है जो सामाजिक स्थिति को परमार्थ से अधिक महत्त्व देते हैं। भगवत्प्राप्ति के सच्चे अभिलाषियों के लिए यह नहीं है। गम्भीर पुरुष भगवान् श्रीगौरसुन्दर की इस शिक्षा को मानेगा कि कृष्णतत्ववेत्ता चाहे कोई भी हो, उसकी सामाजिक स्थिति की उपेक्षा करके उसे गुरु स्वीकार करना चाहिए। पद्मपुराण के अनेक निर्देशों में उल्लेख है कि भगवद्भक्त महाभागवत होने के कारण सदा गुरु बनने योग्य है, किन्तु उच्च ब्राह्मण कुल में जन्मा व्यक्ति भक्त न होने पर गुरु नहीं हो सकता। ब्राह्मण-कुल में जन्मा सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का ज्ञाता हो सकता है, किन्तु शुद्धभक्त न होने पर गुरु नहीं बन सकता। इस प्रकार सम्पूर्ण शास्त्रों में योग्य सद्गुरु का प्रमुख लक्षण कृष्णतत्त्व का ज्ञान है।

इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर ने रायरामानन्द से अनुरोध किया कि वे उन (महाप्रभु) के संन्यासी होने का संकोच छोड़कर उन्हें आगे शिक्षा दें। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीराधाकृष्ण के लीला विहार का वर्णन करने के लिए आग्रह किया।

श्रील रामानन्दराय ने दैन्यभाव से निवेदन किया, "श्रीराधाकृष्ण के लीला-विलास का वर्णन करने के लिए आप मुझसे कह रहे हैं, अतः मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। आपकी रुचि-अनुरूप बोलूँगा।" इस प्रकार श्रीरामानन्दराय ने विनम्रतापूर्वक नट के समान सूत्रधार श्रीगौरसुन्दर के प्रति समर्पण कर दिया। वे श्रीगौरसुन्दर की इच्छानुसार नृत्य करने के इच्छुक थे। अपनी जिह्वा को वीणा की उपमा देते हुए कहा, "आप वीणाधारी हैं।" श्रीगौरसुन्दर के वादन के अनुसार श्रीरामानन्दराय के स्वर होंगे।

श्रीराय ने कहा कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् सर्व-अवतारी, सब कारणों के कारण हैं। परम-ईश्वर श्रीकृष्ण अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त अवतार, अनन्त अंश और अनन्त ब्रह्माण्डों के एकमात्र आधार हैं। उनका अप्राकृत श्रीविग्रह

सच्चिदानन्दमय है; वे व्रजेन्द्रनन्दन गोलोकवृन्दावन-विहारी हैं। वे षडैश्वर्य— श्री, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान और त्याग से परिपूर्ण हैं। ब्रह्मसंहिता (५.१) में प्रमाणित है कि भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दविग्रह परम-ईश्वर हैं। स्वयं अनादि होते हुए भी वे सबके आदि हैं। वे सर्वकारणों के परम कारण वृन्दावनविहारी हैं। अलौकिक नवीन-मदन जैसा उनका सौन्दर्य है। कामगायत्री मन्त्र से भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की जाती है।

ब्रह्मसंहिता में श्रीवृन्दावन की दिव्य भूमि को नित्य सच्चिदानन्दमयी कहा गया है। उस सच्चिदानन्दमयी भूमि में गोपी नामक लक्ष्मियों का निवास है। ये सभी भगवान् श्रीकृष्ण की प्रिया हैं; श्रीकृष्ण ही इनके एक मात्र प्रियतम हैं। श्रीवृन्दावन के वृक्ष सर्व-वांछा-प्रदायक कल्पवृक्ष हैं। श्रीवृन्दावन स्पर्शमणि और अमृताम्बुधि से निर्मित है। वहाँ सब वाणी संगीतमयी और गमन नृत्यमय है; वेणु नित्य प्रियसखी है। प्राकृत जगत् के सूर्य के समान वहाँ प्रत्येक वस्तु स्वयं प्रकाशित है। मानव जीवन श्रीवृन्दावन की इस दिव्य भूमि को जानने के लिए ही है। भाग्यवान् व्यक्ति को श्रीवृन्दावन और वृन्दावनवासियों का भाव प्राप्त करना चाहिए। सुरभि गायें उस परम धाम को दुग्धामृत से निमज्जित कर देती हैं। श्रीधाम वृन्दावन में एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता, अतः भूत, वर्त्तमान, भविष्य का भेद भी वहाँ नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण के इस परम धाम श्रीवृन्दावन की एक प्रतिमूर्ति इस पृथ्वी पर भी है। महाभागवत परम धाम के समान ही इसकी आराधना करते हैं। किन्तु कोई भी कृष्णभक्ति रूपी अप्राकृत भाव की परमोच्च अवस्था प्राप्त किए बिना श्रीधाम वृन्दावन का अनुभव नहीं कर सकता है। साधारण अनुभव या दृष्टिकोण से श्रीवृन्दावन केवल एक साधारण गाँव-सा लगता है, परन्तु महाभागवत की दृष्टि में यहाँ स्थित श्रीवृन्दावन भी—परम धाम गोलोक वृन्दावन के ही समान है। एक महान् आचार्य का भजन है, "जब मेरा मन विषय-वासना से मुक्त होगा तभी मैं श्रीवृन्दावन का यथानुरूप दर्शन कर सकूँगा। और तभी मैं श्री श्रीराधाकृष्ण के लीला-विलास को प्रकट करने वाले गोस्वामी वृन्द के ग्रन्थों को समझ सकूँगा?"

श्रीधाम वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण एवं गोपियों का प्रेम-विलास भी अप्राकृत है। यद्यपि भले ही वह विलास इस प्राकृत जगत् की तुच्छ काम क्रीड़ा लगता हो, परन्तु वास्तव में दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। प्राकृत जगत् में काम क्षण भर के लिए जगता है और नाम-मात्र की 'तृप्ति' के तुरन्त बाद ही लुप्त भी हो जाता है। परन्तु गोलोक वृन्दावन (वैकुण्ठ-

जगत्) में श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम की निरन्तर वृद्धि होती रहती है। अप्राकृत प्रेम और प्राकृत काम में यह महान् अन्तर है। देह से उत्पन्न होने वाला काम या नाम-मात्र का प्रेम भी इस अनित्य देह के समान ही क्षणभंगुर है। किन्तु वैकुण्ठ-जगत् में नित्य आत्मा से उत्पन्न हुआ प्रेम दिव्य और अप्राकृत है। आत्मा के ही समान ऐसा प्रेम नित्य भी है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण को नवीन मदन कहा गया है।

परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की गायत्री मन्त्र से उपासना होती है तथा उनकी पूजा करने का विशेष मन्त्र काम-गायत्री कहलाता है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार जिस मन्त्र शब्द-ध्वनि से मनोधर्म आदि से त्राण (छुटकारा) मिलता है, उसे गायत्री कहते हैं। काम गायत्री में साढ़े चौबीस अक्षर होते हैं:

क्लीं कामदेवाय विद्‌महे पुष्पबाणाय धीमहि तन्नोऽनंग प्रचोदयात्।

यह काम-गायत्री गुरु द्वारा शिष्य को उस समय दी जाती है जब वह **हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।।** महामन्त्र के कीर्त्तन में उन्नति कर लेता है। दूसरे शब्दों में, यह काम गायत्री का मन्त्र अर्थात् सिद्ध ब्राह्मण को शुद्ध करने का संस्कार, गुरु द्वारा शिष्य को उस समय दिया जाता है जब शिष्य अप्राकृत विज्ञान (भागवत विद्या) में उन्नत हो जाता है। परन्तु जहाँ काम-गायत्री का जप कुछ परिस्थितियों में नहीं होता है, वहीं 'हरे कृष्ण' महामन्त्र का कीर्त्तन प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है। महामन्त्र का कीर्त्तन परमोच्च स्तर की प्राप्ति के लिए अपने आप में पर्याप्त है।

ब्रह्मसंहिता में भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी का अत्यन्त मधुर वर्णन है: "भगवान श्रीकृष्ण ने जब वंशी-वादन आरम्भ किया तो उस शब्द ध्वनि का वैदिक मन्त्र ॐ के रूप में ब्रह्माजी के कान में प्रवेश हुआ।" ॐ (ओम्) में तीन अक्षर हैं— 'अ', 'उ', 'म' और यह शब्द परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से हमारे सम्बन्ध, कृष्णप्रेम-प्राप्ति का उपाय एवं अप्राकृत प्रेम के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करता है। भगवान् श्रीकृष्ण की वही वंशी-ध्वनि ब्रह्माजी के मुख से निकलने पर गायत्री बन जाती है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की वंशी से आकर्षित हो कर परम जीव और प्राकृत जगत् के प्रथम जीव-ब्रह्माजी ने ब्राह्मण-दीक्षा प्राप्त की। श्रील जीव गोस्वामी ने भी भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि द्वारा ब्रह्मा की दीक्षा की पुष्टि की है। भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी से गायत्री-मन्त्र प्राप्त करने के पश्चात् ज्ञान होने पर

ब्रह्माजी पूर्ण वेदज्ञ हो गए। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा का आश्रय लेने के कारण ही वे जीवों के आदि गुरु बन गए।

गायत्री मन्त्र में प्रयुक्त 'क्लीं, शब्द को ब्रह्मसंहिता में भगवत्प्रेम का अप्राकृत बीज अथवा काम बीज कहा गया है। नवीन मदन भगवान् श्रीकृष्ण उपास्य हैं और 'क्लीं' मन्त्र के उच्चारण से वे आराधित होते हैं। गोपाल-तापनी उपनिषद् में भी उल्लेख है कि श्रीकृष्ण को प्राकृत मदन नहीं समझना चाहिए। पहले की गई व्याख्या के अनुसार श्रीधाम वृन्दावन भगवान् श्रीकृष्ण का अप्राकृत धाम है और भगवान् के साथ प्रयुक्त होने वाला 'मदन' शब्द भी अप्राकृत है। प्राकृत मदन और श्रीकृष्ण को समान नहीं समझना चाहिए। प्राकृत मदन मांस और देह का आकर्षण है, किन्तु दिव्य मदन भगवान् श्रीकृष्ण, आत्मा का आकर्षण करते हैं। वास्तव में काम और कामाचार अप्राकृत जीवन में भी होते हैं। किन्तु आत्मा के प्राकृत तत्त्वों में बँध जाने पर वह अप्राकृत काम, प्राकृत देह द्वारा व्यक्त होकर तथ्य की बिगड़ी छाया बन जाता है। सच में कृष्ण-तत्त्व को जान जाने पर प्राकृत काम निन्दनीय और अप्राकृत काम वांछनीय लगता है।

अप्राकृत काम दो प्रकार का होता है—स्वयं के सिद्ध-स्वरूप के अनुसार और भगवान् के स्वरूप के अनुसार। इस जीवन का सत्य समझ लेने पर भी जो व्यक्ति प्राकृत विकारों से पूरा मुक्त नहीं हुआ है, वह अप्राकृत जीवन को जानने पर भी वास्तव में दिव्य धाम श्रीवृन्दावन में नहीं है। प्राकृत देह के काम विकार से मुक्त होने पर ही वह परम धाम श्रीवृन्दावन में यथार्थतः प्रवेश पा सकता है। इस अवस्था में वह काम-गायत्री अर्थात् काम-बीज मन्त्र का उच्चारण कर सकता है।

श्रील रामानन्दराय ने तब वर्णन किया कि भगवान् श्रीकृष्ण स्त्री, पुरुष, स्थावर, जंगम—वस्तुतः सबके सब जीवों के चित्त का आकर्षण करने वाले हैं। इसीलिए उन्हें अप्राकृत मदन कहते हैं। श्रीरामानन्दराय ने श्रीमद्-भागवत से एक श्लोक (१०.३२.२) उद्धृत किया। उसमें कहा है कि श्रीकृष्ण जब व्रजगोपियों के बीच पुनः प्रकट हुए तो उनके मुखारविन्द पर मन्द-मन्द मुस्कराहट थी; वेणु-वादन करते हुए वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ लग रहे थे।

विविध भक्तों के भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति विविध सम्बन्ध और रसभाव होते हैं। श्रीकृष्ण पर केन्द्रित होने के कारण ऐसे प्रत्येक सम्बन्ध समान रूप से उत्तम हैं। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के अनुसार "अखिल-रसामृतमूर्ति

श्रीकृष्ण अपनी अप्राकृत श्रीअंग-कान्ति से गोपियों का चित्ताकर्षण करते हैं। विशेष रूप से वे तारका, पालिका, श्यामा और ललिता को विमोहित करते हैं। श्रीश्यामसुन्दर सर्वप्रधान गोपी श्रीमती राधारानी के प्रियतम हैं।" श्रीकृष्ण के साथ गोपियाँ भी कृष्ण-लीला से धन्य हो जाती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण से बहुत प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं, श्रीकृष्ण के प्रति किसी एक सम्बन्ध से भी आकृष्ट होने वाला धन्य है। श्रीकृष्ण का सौन्दर्य, माधुर्य और आकर्षण इतना अतुल है कि कभी-कभी उससे वे स्वयं भी आकृष्ट या मोहित हो जाते हैं। गीत-गोविन्द (१.११) में निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है:

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर
श्रेणी - श्यामल - कोमलैरूपनयन्नंगैरनंगोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिंगतः
शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीड़ति ॥

"हे सखि! देखो, वसन्त में अपने श्रीविग्रह के सौन्दर्य की अभिवृद्धि कर श्रीकृष्ण किस प्रकार अपनी अप्राकृत क्रीड़ाओं का आस्वादन कर रहे हैं। उनके सुकुमार, परम सुन्दर,-चन्द्र जैसे चरण गोपी-अंग पर विराजित हैं। उनके अंगों का चुम्बन करते हुए वे अतिशय माधुर्यमय प्रतीत होते हैं। श्रीकृष्ण का सौंदर्य भी इतना अतुल है कि वे श्रीनारायण और नारायण संगिनी लक्ष्मी को भी बरबस आकृष्ट कर लेते हैं।"

श्रीमद्भागवत (१०.८९.५८) में भूमापुरुष महाविष्णु ने श्रीकृष्ण से कहा, "श्रीकृष्ण-अर्जुन! मैंने ब्राह्मण के पुत्रों का अपहरण केवल आपके दर्शन के लिए किया था।" अर्जुन ने द्वारका में असमय मृत्युग्रस्त होने वाले कुछ शिशुओं को बचाना चाहा था। उनके विफल होने पर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें भूमापुरुष के निकट ले गए। भूमापुरुष ने उन मृतकों को जीव रूप में सामने लाकर कहा, "आप दोनों धर्म की रक्षा और दैत्य-संहार के लिए संसार में अवतरित हुए हैं।" भाव यह है कि भूमापुरुष भी श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी से आकृष्ट हो गए थे और भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिए उन्होंने इस लीला का नियोजन किया था। श्रीमद्भागवत (१०.१६.३६) में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण के कालियनाग-निग्रह करने पर एक नाग-पत्नी ने श्रीकृष्ण से कहा, "प्रभो! हम नहीं जानतीं कि इस पतित नाग को आपके चरणकमलों का प्रहार कैसे प्राप्त हो गया, जबकि लक्ष्मीजी तक ने भी आपके दर्शन के लिए सुदीर्घ तप किया है।"

अपने ही माधुर्य से श्रीकृष्ण के आकृष्ट होने का ललित वर्णन ललित माधव (८.३४) में है। अपना चित्र देखकर श्रीकृष्ण कहने लगे: "अहो! यह चित्र कैसा धन्य है, जो राधारानी के समान ही मेरा भी चित्त-आकर्षित कर रहा है।"

श्रीकृष्ण के माधुर्य का संक्षिप्त वर्णन कर के श्रीरामानन्द राय भगवान् श्रीकृष्ण की उस अप्राकृत शक्ति का वर्णन करने लगे जिसकी श्रीमती राधारानी नेतृत्व करती हैं। श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियाँ हैं। इनमें तीन शक्ति प्रधान हैं, चिच्छक्ति, माया-शक्ति और तटस्था जीव-शक्ति। इसकी पुष्टि विष्णुपुराण के छठे अध्याय के इस कथन में है कि श्रीविष्णु की पराशक्ति के तीन प्रकाश हैं। अविद्या से ढकी पराशक्ति को तटस्था-शक्ति कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन हैं, अत: उनकी पराशक्ति के भी तीन रूप हैं। उनके आनन्द अंश से परा शक्ति ह्लादिनी, सत्-अंश से सन्धिनी और चित्-अंश से संवित् शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। विष्णुपुराण का प्रमाण है (१.१२.६९), "भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति उन्हें अप्राकृत रसानन्द का आस्वादन कराती है।" अतएव रसास्वादन की इच्छा होने पर श्रीकृष्ण अपनी ह्लादिनी शक्ति का प्रकाश करते हैं।

अपने अप्राकृत श्रीविग्रह में भगवान् श्रीकृष्ण अपनी ह्लादिनी शक्ति का आस्वादन करते हैं; यही श्रीराधाकृष्ण के लीला-विहार का परम सार है। इस लीला-विहार को केवल महाभागवत समझ सकते हैं। श्रीराधा कृष्ण की शक्तियों और लीलाओं को प्राकृत दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, नहीं तो भ्रमवश लोग इन चिन्मय क्रीड़ाओं को प्राकृत समझ बैठते हैं।

ह्लादिनी का सार 'प्रेम' है और प्रेम का परम सार 'महाभाव' है। भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य संगिनी श्रीमती राधारानी मूर्तिमान् महाभाव-स्वरूपा हैं। इस सन्दर्भ में श्रीउज्ज्वलनीलमणि (४.३) में श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि श्रीकृष्ण से प्रेम करने में श्रीमती राधारानी और श्रीचन्द्रावली जी में स्पर्द्धा रहती है। दोनों की तुलना में महाभावस्वरूपिणी श्रीमती राधारानी श्रेष्ठा हैं। महाभाव केवल श्रीमती राधारानी में विद्यमान है। महाभाव ह्लादिनी शक्ति से परिपूर्ण कृष्णप्रेम का परमोच्च प्रकाश है। अत: श्रीमती राधारानी सम्पूर्ण जगत् में कृष्ण-प्रेयसी-श्रेष्ठा के रूप में प्रसिद्ध हैं और उनका नाम 'श्रीराधाकृष्ण' के रूप में सदा भगवान् श्रीकृष्ण के साथ प्रयुक्त होता है।

ब्रह्म-संहिता (५.३७) में भी प्रमाणिक है कि भगवान् श्रीकृष्ण परव्योम में अपनी ह्लादिनी शक्ति द्वारा विविध रूप धारण करते हैं। ये शक्तियाँ श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण ह्लादिनी के अंशों के संग सदा आस्वादन करते हुए भी सर्वव्यापक हैं। ब्रह्माजी ने ऐसे सर्वकारण प्रधान भगवान् श्रीगोविन्द की वन्दना की। जिस प्रकार श्रीकृष्ण अलौकिक पूर्णता के परम प्रतीक हैं, उसी प्रकार श्रीमती राधारानी श्रीकृष्ण का सुख-विधान करने वाली ह्लादिनी शक्ति की परम स्वरूपा हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त हैं, अत: उनको सुखी करने के लिए श्रीमती राधारानी भी अनन्त हैं। श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानी के दर्शनमात्र से सुखी हो जाते हैं; किन्तु श्रीमती राधारानी अपना कायव्यूह इस प्रकार रचती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण उनके उत्तरोत्तर आस्वादन के लिए लुब्ध हो जाते हैं। श्रीमती राधारानी की ह्लादिनी शक्ति का अनुमान करने में असमर्थ होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमती राधारानी का भाव (नाटक) स्वीकार किया। श्रीकृष्ण का वह राधा-भाव-द्युति-सुवलित स्वरूप है श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु।

श्रीरामानन्दराय ने कहा कि श्रीमती राधारानी का स्वरूप महाभाव चिन्तामणि है। श्रीललिता, श्रीविशाखा आदि अन्तरंग सखियों के रूप में श्रीमती राधारानी अपना कायव्यूह रचती हैं। अपने ग्रन्थ 'श्रीउज्ज्वल-नीलमणि' में श्रील रूप गोस्वामी ने श्रीमती राधारानी के गुणों का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि श्रीमती राधारानी का श्रीविग्रह स्वयं ही अप्राकृत रसानन्द की उत्पत्ति है। उनका श्रीविग्रह पुष्प और उज्ज्वल सुगन्धियों से सुशोभित एवं अलौकिक कृष्णप्रेम से परिपूर्ण है, भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति का मूर्त रूप हैं। श्रीमती राधारानी का अप्राकृत श्रीविग्रह तीन स्नान करता है, पहले कारुण्यामृत में, फिर तारुण्यामृत में और अन्त में लावण्यामृत में। इस प्रकार तीन प्रकार के स्नान के बाद उनके श्रीविग्रह पर लज्जा रूपी श्याम एवं अरुण वर्ण, रेशमी वस्त्र तथा कृष्ण-सौन्दर्य रूपी श्रृंगार की शोभा होती है। अधिक क्या, उनका सौन्दर्य परमोच्च लालित्य है। श्रीराधाजी का श्रीविग्रह कम्प, अश्रु, स्तम्भ, स्वेद, स्वरभेद, मूर्च्छा या प्रलय और उन्माद आदि प्रेमामृत के लक्षण रूपी अंलकारों से भी विभूषित है।

यह आभूषण रूपी अप्राकृत ह्लादिनी शक्ति नौ लक्षण प्रकट करती है। इनमें से पाँच, पुष्प माला द्वारा सुशोभित श्रीमती राधारानी की रूप-माधुरी से प्रकाशित होती हैं। उनकी स्मित-कान्ति कपूर-मिश्रित वस्त्राच्छादन है। श्रीकृष्ण के लिए उनका प्रच्छन्न मान केश-पाश (वेणी) है। ललाट पर

तिलक श्रीमती राधारानी का सौभाग्य है। श्रीमती राधारानी की कर्णेन्द्रिय नित्य कृष्ण-यश पर केन्द्रित रहती है। ताम्बूल चर्वण से उनके अधर लाल हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रेम की कुटिलता उनके नेत्र के काजल के समान है। यह काजल श्रीराधाकृष्ण से हास करते समय प्रकृति धारण करती है। श्रीमती राधारानी का मन्द हास्य कपूर के समान स्वादमय है। सौरभालय में जब वे गर्व-पर्यंक (पलंग) पर विराजती हैं तो विरह की पुष्प माला उनके श्रीविग्रह पर हिलती है। श्रीकृष्ण के लिए दिव्य प्रणय के कारण उनका वक्षःस्थल मान-कञ्चुकी (उत्तरीय वस्त्र) से आवृत्त है। श्रीकृष्ण की परम प्रेयसी श्रीमती राधारानी वीणावादन करती हैं। वे नित्य नव किशोर श्रीकृष्ण के कन्धे पर करकमल धारण किए हुए हैं। श्रीराधा इतने अधिक दिव्य गुणों से युक्त हैं, फिर भी नित्य कृष्ण-सेवा के परायण रहती हैं।

श्रीमती राधारानी वैवर्ण्य (विषाद), अश्रु आदि सुद्दीप्त सात्त्विक भावों से विभूषिता हैं। श्रीमती राधारानी के श्रीविग्रह में सब अलौकिक भावों का प्रकाश है। सुद्दीप्त सात्त्विक भावों का प्रकाश तब होता है जब प्रेमी किसी ऐसे भाव से व्याकुल हो उठे, जिसका वह संवरण न कर सके। श्रीमती राधारानी का 'किलकिंचित' नामक एक अन्य भाव भी है। इसके बीस प्रकाश होते हैं। इन भावों का प्रकाश अंशतः शरीर, मन और स्वभाव से होता है। हाव-भाव शरीर सम्बन्धी भाव है। मानसिक भाव हैं— शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य एवं धैर्य। स्वभावजात भाव लीला, विलास, विच्छित्ति और विभ्रम हैं।

श्रीमती राधारानी के ललाट पर चारु तिलक है। 'प्रेम-वैचित्र्य' उनके हार का सुमेरू (मध्य) रत्न है। प्रेमी-प्रियतम के संयोग (मिलन) में वियोग की आशंका से प्रेमवैचित्र्य का प्रकाश होता है।

श्रीमती राधारानी भगवान् श्रीकृष्ण से पन्द्रह दिन छोटी हैं। उनका करारविन्द निरन्तर सखी के कन्धे पर विराजित रहता है, वे नित्य कृष्णलीला के कथन और चिन्तन में मग्न हैं। अपनी मधुर वार्त्ता से श्रीराधाजी सदैव श्रीकृष्ण को श्याम रस-मधुपान कराती हैं। वे निरन्तर श्रीकृष्ण की सब इच्छाओं को पूर्ण करने में तत्पर रहती हैं, दूसरे शब्दों में श्रीमती राधारानी भगवान् श्रीकृष्ण की सर्ववांछा प्रदायिका और उन्हें तृप्ति देने वाले अद्वितीय विशिष्ट गुणों से अलंकृत हैं। 'श्रीगोविन्दलीलामृत' के एक श्लोक के अनुसार, "कृष्णप्रेम की प्रादुर्भाव-स्थली कौन हैं?—केवल श्रीमती राधारानी। श्रीकृष्ण की सर्वाधिक प्रेयसी कौन हैं? एकमात्र श्रीराधाजी, अन्य कोई नहीं।

केशों में कुटिलता, नयनों में तरलता और कुचों में निष्ठुरता, ये सब गुण श्रीराधिका जी में हैं। श्रीमती राधारानी ही श्रीकृष्ण की सब वाँछाओं की पूर्ति में समर्थ हैं—और दूसरा कोई नहीं।''

श्रीसत्यभामाजी भी श्रीमती राधारानी से स्पर्द्धा करती हैं, पर उन्हें सदा श्रीराधा के आदर्श की वांछा रहती है। श्रीमती राधारानी इतनी प्रवीणा हैं कि व्रजरमणियाँ उनसे कला की शिक्षा ग्रहण करने के लिए आती हैं। उनका सौन्दर्य इतना असमोर्ध्व है कि लक्ष्मीजी, पार्वतीजी भी उनका सौन्दर्य प्राप्त करने के लिए लालायित रहती हैं। ब्रह्माण्ड में सर्वोत्तम पतिव्रता के रूप में प्रसिद्ध अरुन्धतीजी भी श्रीमती राधारानी से पतिव्रता धर्म जानने को उत्कण्ठित रहा करती हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तक श्रीराधा जी के अप्राकृत गुणों की गणना नहीं कर सकते, अतः साधारण मनुष्य के लिए तो यह सब प्रकार से असम्भव ही है।

श्रीरामानन्द राय से श्रीराधाकृष्ण की गुणवार्त्ता सुनकर भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने उनके प्रेम-विलास का वर्णन सुनने की इच्छा प्रकट की। श्रीरामानन्द ने भगवान् श्रीकृष्ण को 'धीर ललित' कहा। जो विदग्ध अर्थात् कला-विलास में निपुण हो, नवयुवा हो, हास-परिहास में चतुर हो, निश्चिन्त एवं प्रेयसी के वश में हो, उसे धीर ललित कहते हैं। श्रीधाम वृन्दावन के कुंजों में श्रीमती राधारानी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण नित्य प्रेमक्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी किशोर-अवस्था को सफल किया। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में उल्लेख है, ''श्रीकृष्ण की रतिकेलि-सम्बन्धी औद्धत्यपूर्ण वार्त्ता से श्रीमती राधारानी ने लज्जावश जब नेत्र बन्द कर लिए तो इसका लाभ उठाकर श्रीकृष्ण ने उनके उरोज-युगल पर विचित्र चित्रकारी कर दी। ये चित्र श्रीमती राधारानी की सखियों के परिहास का कारण बने। इस प्रकार नित्य कुंजविहारी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी किशोर-अवस्था को सफल किया।''

इन अप्राकृत लीलाओं का श्रवण कर श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, ''प्रिय रामानन्द! श्रीराधाकृष्ण के अप्राकृत लीलाविहार का तुम्हारे द्वारा किया गया वर्णन पूर्ण रूप से विशुद्ध है, किन्तु तुमसे मैं कुछ और भी सुनना चाहता हूँ।'' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया, ''इसके आगे वर्णन कर सकना मेरे लिए कठिन है। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि प्रेम-विलास-विवर्त्त नामक एक श्रेष्ठ भाव और होता है। इस भाव के वर्णन का मैं प्रयत्न भी कर सकता हूँ, किन्तु पता नहीं आपको उस वर्णन से सन्तोष होगा अथवा नहीं।'' प्रेम-विलास में दो भाव होते हैं— वियोग और संयोग। वह अप्राकृत

वियोग इतना तीव्रतम है कि वास्तव में देखा जाय तो वह संयोग से भी अधिक रसमय है। श्रीरामानन्द राय श्रीराधाकृष्ण के उस उच्चतम विलास के ज्ञान में कुशल थे। उन्होंने भगवान् श्रीगौरसुन्दर को अपना एक अतिशय मधुर गीत सुनाया। उस गीत का तात्पर्य यह है कि संयोग के पूर्व प्रेमी और प्रियतमा अपने अप्राकृत क्रीड़ा-विलास से एक भाव उत्पन्न करते हैं। वह 'राग' कहलाता है। श्रीमती राधारानी ने अपनी स्वीकृति व्यक्त की है, "हममें परस्पर' राग और प्रेम परमावधि तक बढ़ता है।" किन्तु इस राग का कारण तो स्वयं श्रीमती राधारानी हैं। श्रीमती राधारानी ने कहा, "कारण कुछ भी हो, हम दोनों के परस्पर राग ने हममें अभेद कर दिया है। मैं इस विरह काल में ऐसे घनीभूत प्रेमोदय का कोई कारण नहीं देखती। संयोग और नयनभंगी के अलावा हमारे प्रेम में अन्य कोई कारण अथवा मध्यस्थ नहीं था।"

विशुद्ध सत्त्व में स्थित हुए बिना श्रीराधाकृष्ण के इस प्रेम-विलास को समझना बड़ा कठिन है। ऐसा अप्राकृत विलास प्राकृत सत्त्व तक में भी बिल्कुल दुर्बोध है, क्योंकि श्रीराधाकृष्ण का प्रेम-विलास प्राकृत जगत् का विषय नहीं है। बड़े से बड़ा मनोधर्मी भी अन्वय-व्यतिरेक (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विधि) से उसे नहीं समझ सकता। प्राकृत क्रियाओं का प्रकाश स्थूल देह अथवा सूक्ष्म मन के लिए होता है, किन्तु श्रीराधाकृष्ण का यह प्रेम-विलास ऐसी अभिव्यक्ति और बौद्धिक मनोधर्म से परे है। प्राकृत जगत् की सारी उपाधियों से मुक्त शुद्ध इन्द्रियों द्वारा ही इसका ज्ञान हो सकता है। जिनकी इन्द्रियाँ शुद्ध हो चुकी हैं, वे इस लीला-विलास को समझते हैं, किन्तु दिव्य इन्द्रियों के ज्ञान से रहित निराकारवादी प्राकृत इन्द्रियों की सीमा तक ही निर्णय कर सकते हैं— अप्राकृत विलास और भगवदीयेन्द्रिय क्रियाओं को नहीं समझ सकते। जो प्रयोग ज्ञान के आधार पर उच्चावस्था में पहुँचे हैं वे स्थूल देह के कर्मों अथवा मनोधर्म द्वारा अपनी मन्द प्राकृत इन्द्रियों की तृप्ति कर सकते हैं। मन अथवा देह से उत्पन्न सब कुछ सदैव अपूर्ण एवं नश्वर है। दूसरी ओर अप्राकृत क्रियाएँ नित्य प्रेममयी एवं अद्भुत हैं। अप्राकृत स्तर पर विशुद्ध कृष्णप्रेम प्राकृत आसक्ति से विहीन शुद्धता का महारत्न और पूर्ण रूप से अप्राकृत है। पदार्थ के प्रति आसक्ति नश्वर है, जैसा कि प्राकृत जगत् में कामोन्माद से स्पष्ट है। किन्तु परव्योम में ऐसा उन्माद नहीं है। इन्द्रियतृप्ति के मार्ग में बाधा आने पर प्राकृत क्लेश होता है, किन्तु अप्राकृत विरह से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। अप्राकृत विरह में प्राकृत विरह का उन्माद और असमर्थता नहीं है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने स्वीकार किया कि अप्राकृत प्रेम-विलास साध्य

वस्तु की अवधि है। उन्होंने श्रीरामानन्द राय से कहा, "तुम्हारी कृपा से मैं इस साध्य-तत्त्व को जान सका हूँ। इस स्थिति की प्राप्ति दिव्य साधन-क्रिया बिना सम्भव नहीं। अब इस स्थिति की प्राप्ति का उपाय भी कहो।'

श्रीरामानन्द ने उत्तर दिया, "मेरे लिए आपको समझाना कठिन है। मैं आपकी इच्छानुसार ही बोल सकता हूँ। कोई भी आपकी परम बलवती इच्छा की अवहेलना नहीं कर सकता। वस्तुतः विश्व में आपकी इच्छा का उल्लघंन करने में समर्थ कोई नहीं है। मैं बोलता हुआ अवश्य लग रहा हूँ, वास्तव में मैं वक्ता नहीं हूँ। आप स्वयं वक्ता हैं, अतः आप ही वक्ता हैं और आप ही श्रोता हैं। अतः आपके संकल्पानुरूप मैं साध्य वस्तु (परम दिव्य स्थिति) की प्राप्ति के साधन वर्णन करता हूँ।"

श्रीरामानन्द राय ने श्रीराधाकृष्ण की अन्तरंग अप्राकृत लीलाओं का वर्णन किया। ये लीलाएँ परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति दास्य, सख्य और वात्सल्य भाव रखकर नहीं जानी जा सकतीं। यह गूढ़तम विषय व्रजगोपियों के संग से ही समझा जा सकता है, क्योंकि गोपीभाव से ही इन गूढ़ लीलाओं का उदय हुआ है। गोपीसंग बिना इनका पोषण और आस्वादन सम्भव नहीं है। कारण, श्रीराधाकृष्ण की इन गूढ़तर लीलाओं का प्राकट्य गोपियों की कृपा से ही हुआ है, इसीलिए उनकी कृपा के बिना उन्हें नहीं समझा जा सकता। भगवत्-लीला में प्रवेश के लिए गोपीजनों की अनुगति अनिवार्य है।

इस भाव में सच्ची स्थिति होने पर श्रीराधाकृष्ण की अन्तरंग लीला में प्रविष्ट होने की योग्यता प्राप्त होती है। उनकी अन्तरंग लीला के आस्वादन का कोई अन्य उपाय नहीं है। "श्रीगोविन्दलीलामृत" (१०.१७) में इसकी पुष्टि है, "श्रीराधाकृष्ण के व्यक्त हुए, मधुर, विस्तृत अनन्त प्रेम-विलास को गोपीजन अथवा उनके अनुगामी ही समझ सकते हैं।" जिस प्रकार परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा के अभाव में कोई भी उनकी पराशक्ति के स्वरूप को नहीं समझ सकता, उसी प्रकार व्रजगोपियों की अनुगति के बिना श्रीराधाकृष्ण की अप्राकृत रतिकेलि जानी नहीं जा सकती। श्रीमती राधारानी की निजी पार्षद स्त्रियों को सखी और अन्तरंग सहायिका को मंजरी कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण से उनके प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन अत्यन्त कठिन है, क्योंकि श्रीकृष्ण के साथ स्वयं क्रीड़ा करने की अथवा स्वयं ही भगवान् का आस्वादन करने की उनमें कोई इच्छा नहीं है। श्रीकृष्ण सहित श्रीमती राधारानी के विहार में सहायता के लिए ही वे सदा प्रस्तुत

रहती हैं। श्रीराधाकृष्ण के प्रति उनका प्रेम इतना विशुद्ध है कि श्रीराधाकृष्ण का मिलन करा देने से वे पूर्ण तृप्त हो जाती हैं। उनका अलौकिक आनन्द वास्तव में श्रीराधाकृष्ण के मिलन में ही है। श्रीमती राधारानी का स्वरूप कृष्ण प्रेम रूपी उस कल्पलता का है, जो कृष्ण रूपी वृक्ष का आलिंगन करती है। श्रीमती राधारानी की सखियाँ—व्रजगोपियाँ उस लता के पल्लव-पुष्प जैसी हैं। गोपियाँ-श्रीराधाकृष्ण के विहार का आस्वादन श्रीमती राधारानी से भी बढ़कर करती हैं।

श्रीराधा की सखियाँ कृष्ण संगम की इच्छा नहीं रखतीं, किन्तु श्रीमती राधारानी उनसे इतनी अधिक प्रसन्न हो जाती हैं कि अनेक यत्नों के द्वारा एकान्त में प्रत्येक सखी को श्रीकृष्ण से संगम कराती हैं। इन कृष्ण संगमों में वे श्रीकृष्ण से स्वयं संगम करने से भी अधिक सुखी होती हैं। श्रीमती राधारानी और सखियों को अपने संग से प्रसन्न जानकर भगवान् श्रीकृष्ण को महान् सन्तोष मिलता है। ऐसा संगम एवं प्रेम-विलास प्राकृत काम बिल्कुल नहीं है, भले ही चाहे वह प्राकृत स्त्री-पुरुष का संगम सा लगता है। काम जैसा लगने के कारण ही ऐसे प्रेम-विलास को कभी-कभी अप्राकृत भाषा में अप्राकृत काम कह दिया जाता है। गौतमीय तन्त्र (श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १.२.२८५) के उल्लेखानुसार: "काम का तात्पर्य है अपनी इन्द्रियों के सुख में आसक्ति, किन्तु श्रीमती राधारानी और उनकी सखियों में निजेन्द्रिय सुख की गन्ध भी नहीं है। उनका एकमात्र तात्पर्य श्रीकृष्ण का सुख-विधान करना है।" श्रीमद्भागवत (१०.३१.१९) के गोपी-गीत में इसका प्रमाण है:

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥

"हे प्रियतम कृष्ण! तुम्हारे जिन चरणारविन्दों को हम कभी अपने वक्षस्थल पर धारण करती हैं, उन्हीं से पादुका बिना तुम वन भ्रमण कर रहे हो। तुम्हारे चरणारविन्द अपने उरोजों पर धारण करते समय तुम्हारे सुकोमल चरणों के लिए हमें अपना वक्षस्थल बड़ा कर्कश प्रतीत होता है। इस रात्रि के समय अपने उन्हीं सुकुमार चरणों से तुम वन-भ्रमण करते हुए काँटों पर चल रहे हो। तुम्हारे कष्ट का हम अनुमान भी नहीं लगा सकतीं। काँटों पर चलने से तुम्हें जो कष्ट हो रहा है, उससे हम अत्यन्त व्याकुल हैं, क्योंकि तुम्हीं हमारे प्राण हो।"

व्रजगोपियों द्वारा व्यक्त वे भाव उच्चतम कृष्णभक्तिरसभावित हैं।

श्रीकृष्णभावनामृत के लिए सचमुच लुब्ध व्यक्ति इस गोपीभाव को पाता है। चौंसठ प्रकार की भक्ति के आचरण से मनुष्य इस गोपीभाव रूपी अहैतुकी भक्ति के स्तर को प्राप्त होता है। गोपीभाव से कृष्णप्रेम करने को रागानुगा कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति रागभक्ति के अनुगत हो जाने पर वैदिक नियम-विधानों का पालन आवश्यक नहीं रहता।

परम दिव्य धाम में श्रीकृष्ण के नाना प्रकार के निजी भक्त हैं। जैसे रक्तक, पत्रक आदि श्रीकृष्ण के दास हैं, श्रीदामा, सुदामा आदि सखा हैं। श्रीकृष्ण के यशोदा-नन्द आदि गुरुजन भी अपने दिव्य भावानुसार उनकी सेवा करते हैं। श्रीकृष्ण के परम धाम जाने का आकांक्षी इनमें से किसी एक दिव्य दास का आश्रय ग्रहण कर सकता है। तब रागानुगा भक्ति से पूर्ण सेवा करने से श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि श्रीकृष्ण के उन नित्य पार्षदों की अनुगति करते हुए प्राकृत जगत् में रागानुगा भक्ति पूर्वक सेवा करने वाले भक्त भी सिद्ध होने पर वही पद पा लेते हैं।

श्रुति उपनिषदों के ऋषि भी गोपीभाव के लोभी हैं। वे जीवन के परम पुरुषार्थ (प्रेम) की प्राप्ति के लिए गोपीजनों की अनुगति करते हैं। श्रीमद्भागवत (१०.८७.२३) में इसका प्रमाण है। उल्लेख है कि ऋषिगण योग से श्वांस, मन और इन्द्रियों का नियन्त्रण कर प्राणायाम के अभ्यास से परम ब्रह्म में विलीन होने का प्रयास करते हैं। इसी लक्ष्य की प्राप्ति नास्तिकों को भी होती है। भगवान् के अवतार द्वारा मारे जाने पर ऐसे नास्तिक भी श्रीकृष्ण की अंगकान्ति ब्रह्मज्योति में लीन हो जाते हैं। किन्तु गोपीजन श्रीकृष्ण को इस प्रकार भजती हैं जैसे कि वे सर्प (साँप) के द्वारा डसी गई हों। श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह को सर्प के शरीर की उपमा दी जाती है। साँप का शरीर कभी सीधा नहीं रहता—सदा टेढ़ा रहता है। इसी प्रकार त्रिभंगललित रूप से विराजमान श्रीकृष्ण ने अप्राकृत प्रेम से गोपीजनों को डस लिया है। गोपीजनों की स्थिति निश्चित ही सब योगियों और परम ब्रह्म में लीन हो जाने के इच्छुकों से कहीं ऊँची है। उनकी जैसी स्थिति के लिये दण्डकारण्य के ऋषि भी व्रजगोपीजनों की अनुगति करते हैं। केवल विधि-मार्ग का पालन करने से वह स्थिति नहीं मिल सकती है। गोपीजनों के सिद्धान्तों का गम्भीरतापूर्वक सेवन अनिवार्य है। श्रीमद्भागवत (१०.९.२१) में इसके प्रमाणस्वरूप कहा है कि यशोदानन्दन श्रीकृष्ण मनोधर्मियों को प्राप्त नहीं हो सकते, परन्तु जो भक्त हैं, उन सब जीवों के लिए वे अति सुलभ हैं।

अपने को भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय का कहने वाले बहुत

से कपटी भक्त कृत्रिम रूप से व्रजगोपियों के समान श्रृंगार किया करते हैं। महाभागवतों ने इसका अनुमोदन नहीं किया है। देहात्मबुद्धि के ही कारण ऐसे लोग बाहरी प्राकृत देह का श्रृंगार करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीमती राधारानी, उनकी सखी व्रजगोपियों के श्रीविग्रह को प्राकृत समझने के कारण वे भ्रमित हैं। पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि ये सब अप्राकृत भगवद्-धाम सच्चिदानन्दमय प्रकाश हैं। प्राकृत देहों से उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, अतः व्रजगोपीजन के श्रृंगार, वस्त्र, विग्रह, क्रीड़ा आदि इस प्राकृत सृष्टि से सम्बन्धित नहीं हैं। श्रीधाम वृन्दावन की गोपीजन इस प्राकृत जगत् में स्थित व्यक्तियों के आकर्षण का विषय नहीं हैं। वे तो सर्वाकर्षक श्रीकृष्ण के लिए ही अप्राकृत आकर्षण हैं। भगवान् सर्वाकर्षक हैं, इसलिए 'कृष्ण' कहलाते हैं। किन्तु श्रीधाम वृन्दावन की गोपीजन भगवान् श्रीकृष्ण को भी आकृष्ट कर लेती हैं। इसलिए वे प्राकृत जगत् की नहीं हैं।

प्राकृत देह को भ्रमपूर्वक अप्राकृत देह के समान ही सिद्ध समझ कर श्रीधाम वृन्दावन की गोपीजनों का अनुकरण करने वाला मायावादी असद्-दर्शन से दूषित हो जाता है। निराकारवादी अहंग्रहोपासना नामक पद्धति को अच्छा समझते हैं। इस पद्धति में देह को परम तत्त्व माना जाता है। कपटी अध्यात्मवादी इस प्रकार के विचार से गोपी-श्रृंगार धारण करते हैं। भक्ति में ऐसी क्रियाएँ स्वीकार नहीं हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रामाणिक आचार्य श्रील जीव गोस्वामी ने भी ऐसे कपटियों की निन्दा की है। प्रामाणिक वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार अपने को श्रीकृष्ण का पार्षद न समझ कर उनके किसी एक पार्षद की अनुगति करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीरामानन्द राय ने वर्णन किया कि व्रजगोपीभाव स्वीकार करना चाहिए। श्रीचैतन्यचरितामृत में स्पष्ट उल्लेख है कि गोपीभाव को ही अंगीकार करना चाहिए, भगवान् श्रीकृष्ण की सखियों के श्रृंगार को नहीं। गोलोक में श्रीराधाकृष्ण के प्रेम विहार का अनन्य चिन्तन करना चाहिए। दिन-रात ही श्रीराधामाधव का चिन्तन और नित्य सेवन हो। बाहरी परिवेश (पोशाक) के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। श्रीमती राधारानी की सखियों और मंजरियों का भाव अंगीकार करने वाला अन्त में सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य धाम गोलोक वृन्दावन में प्रविष्ट हो जाता है।

गोपीभाव के अनुगत्य को सिद्ध देह कहते हैं। इस शब्द का तात्पर्य इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से परे विशुद्ध अप्राकृत देह से है। सिद्ध देह परम-ईश्वर भगवान्

श्रीकृष्ण की सेवा के योग्य शुद्ध आत्मा है। अपने शुद्ध अप्राकृत स्वरूप में स्थित हुए बिना कोई भी भगवान् श्रीकृष्ण के पार्षद के रूप में उनकी सेवा नहीं कर सकता। वह स्वरूप सब प्राकृत विकारों से मुक्त है। भगवद्गीता के अनुसार, प्राकृत विकार वाला प्राकृत बुद्धि से भावित होने के कारण अन्य प्राकृत देह ग्रहण करता है। मृत्यु-काल में प्राकृत चिन्तन करने के कारण वह अन्य प्राकृत देह धारण करता है। इसी प्रकार, शुद्ध अप्राकृत स्वरूप में स्थित होकर भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेममयी भक्ति का चिन्तन करने वाला परव्योम में श्रीकृष्ण-सान्निध्य प्राप्त करता है। भाव यह है कि अपना अप्राकृत स्वरूप प्राप्त कर भगवान् श्रीकृष्ण के पार्षदों के चिन्तन से वह परव्योम गमन का अधिकारी हो जाता है। अपने शुद्ध सिद्ध स्वरूप में स्थित हुए बिना परव्योम की लीला का चिन्तन नहीं हो सकता। अतः श्रीरामानन्द राय ने कहा कि सिद्ध देह की प्राप्ति के बिना गोपी-आनुगत्य अथवा स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी नित्य संगिनी श्रीमती राधारानी की सेवा सम्भव नहीं। इस सन्दर्भ में राय ने श्रीमद्भागवत (१०.४७.६०) से प्रमाण दिया:—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उद्गाद् व्रजवल्लवीनाम्॥

"दूसरी स्त्रियों की तो बात ही क्या है, लक्ष्मीजी और स्वर्ग की अप्सराओं को भी व्रजभूमि की गोपीजनों सा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।"

श्रीरामानन्दराय से इन वाक्यों को सुन कर भगवान् श्रीगौरसुन्दर अत्यन्त प्रसन्न हुए; उन्होंने राय का आलिंगन किया। तदुपरान्त वे दोनों ही प्रेमावेश में क्रन्दन करने लगे। इस प्रकार रात्रि भर श्रीमन्महाप्रभु और श्रीराय ने राधाकृष्ण युगल-लीला का परस्पर कथन किया, प्रातः-काल श्रील रामानन्दराय अपने स्थान को चले गए और श्रीमहाप्रभु स्नान के लिए पधारे।

विच्छेद के समय श्रीरामानन्द श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के चरणारविन्द में दण्डवत् प्रणाम कर प्रार्थना करने लगे, "हे प्रभो! इस अविद्यापंक से मेरा उद्धार करने को ही आप पधारे हैं। अतः दस दिन और यहीं निवास कर मेरे दुष्ट मन के प्राकृत विकारों को शुद्ध कीजिए। आपके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा दिव्य कृष्णप्रेम प्रदान नहीं कर सकता।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया, "मैं श्रीराधाकृष्ण की अप्राकृत लीला का श्रवण कर स्वयं को पवित्र करने के लिए आपके पास आया हूँ। आप ही

इन दिव्य लीलाओं के एकमात्र शिक्षक हैं, मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ। आपके अतिरिक्त, राधाकृष्ण-प्रेमरस का ज्ञाता नहीं है। आप मुझे दस दिन तक यहाँ निवास करने के लिए कह रहे हैं, पर मैं तो जीवन भर आपके संग के लिए लुब्ध हूँ। कृपया जगन्नाथ पुरी में मेरे निवास पर पधारें, अब शेष जीवन हम एक संग रहेंगे। इस प्रकार मैं आपके संग में, श्रीराधाकृष्ण की कथा में, अपना शेष जीवन बिता सकूँगा।''

श्रीमान् रामानन्दराय सन्ध्या समय भगवान् श्रीगौरसुन्दर के पुन: दर्शन को आए तथा दिव्य कृष्णकथा पर और चर्चा हुई।

श्रीगौरसुन्दर ने जिज्ञासा की, सबसे ऊँची विद्या क्या है?'' श्रीरामानन्द ने तत्काल ही उत्तर दिया, ''सर्वोपरि विद्या कृष्णभक्ति है।'' प्राकृत विद्या का आदर्श इन्द्रियतर्पण है, पर अप्राकृत विद्या का सर्वोच्च लक्ष्य कृष्णभक्ति है। श्रीमद्भागवत (४.२९.५०) में उल्लेख है कि भगवान् श्रीकृष्ण की प्रीति-सम्पादन करने वाला कर्म ही सर्वोत्तम है और श्रीकृष्णभावनामृत प्रदान करने वाली विद्या सर्वोत्तम विज्ञान है। इसी प्रकार अपने बाल्यकाल के मित्रों को विद्यालय में शिक्षा प्रदान करते हुए प्रह्लाद महाराज ने भी कहा है कि श्रीकृष्ण का श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और सर्वात्म समर्पण ही सर्वोत्कृष्ट दिव्य ज्ञान है।

सबसे महान् कीर्ति क्या है? ''भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीरामानन्द से जिज्ञासा की। राय ने कहा कि जो कृष्णभक्त के रूप में विख्यात है, उसकी विश्व में सर्वाधिक कीर्ति है।

अध्याय ३२

साध्य-साधन का निर्णय

जो भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त के रूप में विख्यात है, उसका यश शाश्वत है, वह नित्य यशस्वी है। प्राकृत जगत् में प्रत्येक मनुष्य तीन पदार्थों के लिए क्रियाशील है—वह अपने नाम के अमरत्त्व, विश्व में अपनी प्रसिद्धि तथा प्राकृत क्रियाओं से लाभ की इच्छा रखता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि सब प्राकृत नाम, यश और लाभ नश्वर प्राकृत देह सम्बन्धी हैं। देहान्त होते ही सब नाम, यश लाभ भी नष्ट हो जाते हैं। केवल अविद्या के कारण प्रत्येक मनुष्य देह सम्बन्धी नाम, यश और लाभ के लिए श्रम करता है। देह के आधार पर प्रसिद्ध होना अथवा परमात्मा भगवान् श्री विष्णु को जाने बिना भगवद्‌भावभावित के रूप में ख्यात होना निन्दनीय है। कृष्ण-भावनाभावित होने पर ही सच्चा यश प्राप्त हो सकता है।

श्रीमद्‌भागवत के अनुसार बारह महाजन महाभागवतों के रूप में विख्यात हैं। ये हैं—श्री ब्रह्मा, श्री नारद, श्री शिव, श्री मनु, श्री कपिल, श्री प्रह्लाद, श्री जनक, श्री भीष्म, श्री शुकदेव गोस्वामी, श्री बलि, श्री यमराज और सनकादि चार कुमार। महाभागवत के रूप में इनका आज तक स्मरण किया जाता है। गरुड़पुराण में उल्लेख है कि कलियुग में परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त के रूप में विख्यात होना ब्रह्मा, शिव आदि के पद की प्राप्ति से भी दुर्लभ है। श्री नारद और पुण्डरीक की वार्ता के सम्बन्ध में महाराज युधिष्ठिर ने कहा, "अनेक-अनेक जन्मों के बाद अपने को श्री वासुदेव का दास जानने वाला सबसे यशस्वी और सब जीवों के उद्धार में समर्थ है। "इसी प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (७.१९) में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"बहुत जन्म-जन्मान्तरों के अन्त में यथार्थ ज्ञानवान् मुझे सब कारणों का परम कारण और सर्वव्यापक जानकर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।"

आदि पुराण में कथन है कि मुक्ति और अप्राकृत जीवन भक्तों का अनुगमन करते हैं। बृहद्नारदीय पुराण के अनुसार ब्रह्मादि देव गण भी स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त की महिमा से अनभिज्ञ हैं। गरुड़ पुराण निर्देश करता है कि सहस्रों ब्राह्मण में कोई एक ब्राह्मण याज्ञिक (यज्ञ में कुशल) होता है। हजार याज्ञिकों में से एक ही वेदान्तसूत्र का जानकार मिल सकता है। ऐसे हजार वेदान्तियों में से कोई एक विष्णु भक्त के रूप में विख्यात होता है। श्रीविष्णु के अनेक भक्तों में, भक्ति में दृढ़ निष्ठा वाला भक्त ही भगवद्धाम में प्रवेश का अधिकारी हो पाता है। श्रीमद्-भागवत (३.१३.४) में यह कथन है कि अनेक वेदवादियों में हृदयवासी भगवान् श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करने वाला सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी है। 'नारायणव्यूह-स्तव' में उल्लेख है कि भक्तिहीन होने पर महान् ब्राह्मण भी तुच्छ है। भक्तियुक्त होने पर एक कीटाणु भी परम यशस्वी है।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने श्रीराय से आगे पूछा, "जगत् में सबसे बड़ी सम्पत्ति क्या है?" श्रीराय ने कहा, "श्रीराधाकृष्ण में प्रेम करने वाले के पास सबसे मूल्यवान् रत्न और सम्पत्ति है।" प्राकृत इन्द्रियतर्पण अथवा प्राकृत सम्पति वाले व्यक्ति वास्तव में धनी नहीं हैं। श्रीकृष्णभावनाभावित होने पर ही जीव समझता है कि श्रीराधाकृष्ण के प्रेम से बढ़कर मूल्यवान् दूसरी सम्पदा नहीं है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि ध्रुव महाराज ने भूमि-प्राप्ति के लिए भगवत्-साधना की। श्रीकृष्ण का दर्शन होने पर वे कहने लगे "मैं इतना आनन्दमग्न हूँ कि अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। भगवद्गीता में उल्लेख है कि परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की शरण-ग्रहण, अथवा कृष्णप्रेम प्राप्त कर जीव में कोई और कामना शेष नहीं रहती। भगवान् भक्तवांछाकल्पतरु हैं, पर भक्त उनसे कुछ नहीं माँगते।

जब श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने जिज्ञासा की कि सबसे बड़ा दुःख क्या है, तो श्रीरामानन्द ने उत्तर दिया कि कृष्ण-भक्त का विरह सबसे बड़ा दुःख है। समाज में भगवद्भक्त की उपस्थिति न होने पर समाज में बड़ा क्लेश होता है। लोगों का परस्पर संग दुःखदायी हो जाता है। श्रीमद्भागवत (३.३०.७) में उल्लेख है कि शुद्ध भक्तों के संग से रहित हो जाने पर कृष्णभक्ति-रहित जीव समाज, मैत्री अथवा प्रेम से स्वयं को सुखी करने का प्रयास करता है।

किन्तु वह सबसे बड़ा दुःखी माना जाता है। बृहद्-भागवतामृत (१.५.४४) में कथन है कि शुद्ध भक्त का संग जीवन से भी अधिक वांछनीय है, उसके विरह में एक क्षण भी सुखपूर्वक नहीं बीतता।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने पूछा, "मुक्त कहने वाले जीवों में कौन सचमुच मुक्त है?" श्रीरामानन्द ने कहा कि पूर्णतः श्रीराधाकृष्ण-प्रेम से भावित मति वाला मुक्त-शिरोमणि है। श्रीमद्भागवत (६.१४.४) में उल्लेख है कि करोड़ों मनुष्यों में भी एक नारायण-भक्त मिलना बड़ा दुर्लभ है।

"गानों में सर्वोत्तम गान कौन-सा है?" श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने पूछा। श्रीरामानन्द ने कहा कि श्रीराधाकृष्ण की प्रेमकेलि का वर्णन करने वाला गीत सर्वश्रेष्ठ है। बद्धावस्था में जीवात्मा काम के वशीभूत रहती है। सब नाटक, उपन्यास और प्राकृत गीत स्त्री-पुरुष के काम-विकार का वर्णन करते हैं। लोगों का भी ऐसे साहित्य के प्रति बड़ा आकर्षण रहता है। अतः गोपियों सहित अपनी अप्राकृत लीला को प्रकाशित करने, भगवान् श्रीकृष्ण प्राकृत जगत् में अवतरित हुए। गोपीजन और भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम-विलास सम्बन्धी अमित शास्त्र हैं। जो इस साहित्य का अथवा श्रीराधाकृष्ण की कथा का आश्रय लेता है, वह सच्चे आनन्द का आस्वादन करता है। श्रीमद्भागवत (१०.३३.३६) में उल्लेख है कि अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीवृन्दावन की लीलाओं का प्रकाश किया। श्रीराधाकृष्ण की लीला को समझने के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति बुद्धिमान् और परम भाग्यवान् है। जिन गीतों में श्रीराधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, वे संसार के सर्वोतम गीत हैं।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने पुनः जिज्ञासा की, "संसार में सर्वमंगल-सार सर्वाधिक श्रेय क्या है?" श्रीरामानन्द ने कहा कि कृष्णभक्त के संग से बढ़कर अन्य कोई श्रेय नहीं हे।

"स्मरण योग्य क्या है?"श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने पूछा। श्रीरामानन्द ने कहा कि कृष्णनाम, रूप, लीला ही नित्य स्मरणीय हैं। यही श्रीकृष्ण-भावनामृत है। भगवान् श्रीकृष्ण के विविध लीला-विलासों का अनेक वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है। ये लीलाएँ नित्य स्मरणीय हैं, यही सर्वश्रेष्ठ ध्यान और परमोच्च भाव है। श्रीमद्भागवत (२.२.३६) में शुकदेव गोस्वामी प्रमाणित करते हैं कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नित्य स्मरणीय हैं। साथ ही, उनके नाम, कीर्ति एवं यश का श्रवण-कीर्त्तन भी करना चाहिए।"

श्रीगौरसुन्दर ने जिज्ञासा की, "सबसे बड़ा ध्यान क्या है?" "श्रीराधा-

कृष्ण के पदाम्बुज का ध्यान ही प्रधान ध्यान है," श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया। यह श्रीमद्भागवत (१.२.१४) से भी प्रमाणित है— "भक्ताधिपति भगवान् श्रीकृष्ण के नाम का कीर्त्तन, उनका ध्यान और पूजन नित्य करना चाहिए।"

"सब सुख त्याग कर कहाँ वास करना चाहिए?" भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने आगे पूछा, । श्रीरामानन्द ने कहा कि सब सुख त्याग कर श्रीकृष्ण लीलारस-स्थली व्रजभूमि श्रीधाम वृन्दावन में ही वास करना चाहिए। श्रीमद्भागवत (१०.४७.६१) में उद्धव जी कहते हैं कि लता रूप में भी श्रीवृन्दावन में वास करना ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीवृन्दावन में ही परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने निवास किया था और गोपियों ने वैदिक ज्ञान के चरम लक्ष्य के रूप में उनकी आराधना की थी। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने आगे पूछा, "सबसे श्रेष्ठ श्रवण योग्य क्या है?" "श्रीराधाकृष्ण की प्रेमकेलि कर्णरसायन है," श्रीरामानन्द ने उत्तर दिया। वास्तव में यथार्थ वक्ता से श्रीराधाकृष्ण लीला को सुनने से तत्क्षण मुक्ति हो जाती है। दुर्भाग्यवश, कभी-कभी लोग इनका श्रवण सिद्ध भक्तों से नहीं करते। इस प्रकार वे पथभ्रष्ट हो जाते हैं। श्रीमद् भागवत (१०.३३.४०) में कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण और गोपीजन की लीला का श्रोता उत्तम भक्ति को प्राप्त होकर प्राकृत जगत् में सबके हृदयों पर छाए काम विकार से अविलम्ब मुक्त हो जायेगा। अतएव श्रीराधाकृष्ण की लीला-श्रवण से प्राकृत काम का समूल नाश हो जाता है। यदि कोई इस विधि के द्वारा प्राकृत काम से मुक्त नहीं हो पाता तो उसे श्रीराधाकृष्ण लीला के श्रवण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। विशुद्ध कृष्णभक्त से न सुनने पर श्रोता को श्रीराधाकृष्ण-लीला में प्राकृत काम-सम्बन्ध का भ्रम हो जाएगा। ऐसे में वह पथभ्रष्ट हो सकता है।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने जिज्ञासा की, "परम उपास्य कौन है?" श्रील रामानन्द राय ने अविलम्ब उत्तर दिया कि, दिव्य युगल श्रीराधाकृष्ण उपासना की अवधि हैं। उपास्य अनेक हैं—जैसे कोई निराकारवादी ब्रह्म-ज्योति की उपासना करते हैं, किन्तु श्रीराधाकृष्ण की उपासना करने के अतिरिक्त और भिन्न उपासना करने से, उपासक जीवन-लक्षण से रहित वृक्ष अथवा स्थावर प्राणी जैसा बन जाता है। शून्योपासक कहलाने वालों का भी यही परिणाम होता है। भोग के अभिलाषी देवलोक प्राप्त कर प्राकृत सुखोपभोग करते हैं। भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने भुक्ति और मुक्ति की इच्छा रखने वालों के विषय में पूछा, "उनकी अन्तिम गति क्या है?" श्रीरामानन्द

राय ने उत्तर दिया कि ऐसे जीवों में कुछ वृक्ष आदि स्थावर देह पाते हैं तो दूसरे देवदेह में प्राकृत सुख भोगते हैं।

श्रील रायरामानन्द ने यह भी कहा कि कृष्णभक्ति के रस को न जानने वाला उस काक (कौवा) जैसा है जिसे कड़वी नीम चूसने में आनन्द आता है। दूसरी ओर रसज्ञ कोकिल भक्त आम्र का आस्वादन करते हैं। अभागे ज्ञानी शुष्क ज्ञान पर मनोधर्म पर मनोधर्म करते रहते हैं, जबकि श्रीराधाकृष्ण के प्रेमी कोकिल की भाँति कृष्णप्रेमामृत पीते हैं। कड़वा नीम का फल कभी खाने योग्य नहीं, शुष्क मनोधर्म से भरा होने के कारण वह काक जैसे मनोधर्मियों के योग्य है। किन्तु आम का फल बड़ा स्वादनीय है, श्रीराधाकृष्ण के भक्त गण ही उसका आस्वादन करते हैं। इस प्रकार श्रील रामानन्दराय और भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने रात्रि भर चर्चा की। वे परस्पर नृत्य, गीत और क्रन्दन करते रहे। इस प्रकार रात्रि शेष होने पर, प्रातःकाल राय अपने स्थान को चले गए। संध्या समय वे फिर भगवान् श्रीगौरसुन्दर के दर्शन करने आए। कुछ समय कृष्णकथा कहकर श्रीरामानन्द प्रभु-चरणाविन्द में प्रपन्न होकर बोले, "प्रभो! आपने अतिशय कृपापूर्वक कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व, रसतत्त्व लीलातत्त्व का मेरे चित्त में प्रकाश किया: मैं अपने को इस विषय पर बोलने का सब प्रकार से अनधिकारी समझता हूँ। आपने मुझे उसी प्रकार शिक्षा दी जैसे पूर्व में ब्रह्मा को आपने वेदज्ञान प्रदान किया था।"

परमात्मा रूप से भगवान् श्रीकृष्ण से ज्ञान-प्राप्ति की यह प्रणाली है। बाह्य रूप से अदृश्य होने पर भी अन्तर्यामी रूप से वे भक्त से बोलते हैं। भगवद्गीता में इसकी पुष्टि है—निष्कपट भाव से सेवा में संलग्न भक्त के हृदय में भगवान् निर्देश देते हैं, वे इस प्रकार क्रिया करते हैं कि ऐसे मनुष्य को अन्त में जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो जाय। ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय उन्हें शिक्षित करने वाला कोई नहीं था, इसलिए स्वयं परम-ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा के हृदय में वैदिक ज्ञान का संचार किया। श्रीमद्भागवत (२.४.२२) में शुकदेव गोस्वामी द्वारा प्रमाणित है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गायत्री मन्त्र सर्वप्रथम ब्रह्मा के हृदय में प्रदान किया। इसीलिए महाराज परीक्षित् को श्रीमद्भागवत सुनाने की शक्ति के लिए शुकदेव गोस्वामी ने भी भगवान् की वन्दना की है।

श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, प्रथम श्लोक में परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्मा के हृदय में ज्ञान प्रदान करने वाला कहा गया है। श्रीमद्भागवत

के प्रणेता श्रील व्यासदेव ने कहा है— "सृष्टि के कर्त्ता, पालक और संहारकर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण को मैं श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हूँ।" परम सत्य को गहराई से जानने के प्रयास से हम जानेंगे कि वे अन्वय-व्यतिरेक दोनों ही विधियों से सर्वज्ञ हैं। केवल वे स्वयं-भगवान् और स्वराट् (पूर्ण स्वतन्त्र) हैं। अन्तर्यामी परमात्मा रूप से उन्होंने ही ब्रह्माजी को प्रबुद्धि दी थी। सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि उनमें स्थित है। अतः परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण को समझने के प्रयास में महान् सूरी गण (विद्वान्) भी विमोहित हो जाते हैं। अग्नि, जल, वायु एवं पृथ्वी का कार्य होने पर भी यह सृष्टि सच्ची प्रतीत होती है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण अप्राकृत और प्राकृत सृष्टियों के एकमात्र आश्रय हैं। अतः वे परम सत्य हैं।

श्रील रामानन्दराय ने भगवान् श्रीगौरसुन्दर से आगे कहा, "पहले मैंने आपके संन्यासी रूप के दर्शन किए, फिर आपके श्याम-गोप वेष का दर्शन किया। अभी आपके सन्मुख एक स्वर्णमयी प्रतिमा देख रहा हूँ, जिसकी उपस्थिति से आप भी गौरवर्ण हो गए हैं। फिर भी देखता हूँ कि आप वही श्यामवर्ण गोपाल हैं। मुझे आपका दर्शन इस रूप में क्यों हो रहा है?"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "स्थावर-जंगम आदि सब सत्त्वों में भगवान् श्रीकृष्ण को देखना महाभागवत का स्वभाव-सा होता है। जहाँ भी, जिस भी वस्तु पर दृष्टि पड़ती है, उन्हें उस वस्तु की मूर्ति का दर्शन नहीं होता, अपितु सर्वत्र श्रीकृष्ण की ही स्फूर्ति होती है।" श्रीमद्भागवत (११.२.४५) में इसकी पुष्टि है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

"उत्तम भक्त को सब प्राणियों में उनके परमात्म स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का ही दर्शन होता है।"

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध के एक श्लोक (१०.३५.९) में उल्लेख है कि सारे पुष्प-फल-आपूरित लता, तरु, वृक्षादि कृष्णप्रेम में भावाविष्ट होकर झुके रहते थे, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण उनकी आत्मा थे। श्रीकृष्ण के चले जाने पर वे ही वृक्ष कण्टकाकीर्ण हो गए।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने कहा, "राय! श्रीराधामाधव के विलास में तुम्हारा महाप्रेम है। इसलिए तुम्हें सर्वत्र श्रीराधामाधव का दर्शन हो रहा है।"

श्रील रामानन्दराय ने कहा, "मेरी विनय है कि मुझसे आप आत्मगोपन

न करें। मैं जान गया हूँ कि श्रीराधा की भाव-कान्ति को अंगीकार कर श्रीमती राधारानी की भाँति स्वयं अपना आस्वादन करने आप (श्रीकृष्ण) अवतरित हुए हैं। आपके अवतार का अन्तरंग अर्थात् मुख्य प्रयोजन निज माधुर्य का आस्वादन ही है, किन्तु आनुषंगिक रूप से आपने त्रिभुवन को भी कृष्णप्रेम से आप्लावित कर दिया है। मेरा उद्धार करने आप स्वयं पधारे। अब मुझसे कपट न करें। यह आपके लिए उचित नहीं।"

प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने मन्द-मन्द हँसते हुए श्रीरामानन्दराय को अपने असली स्वरूप—महाभाव श्रीराधा और रसराज श्रीकृष्ण के मिलित तनु के दर्शन कराए। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु श्रीराधा की भाव-द्युति से सुवलित साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं। दो रूप धारण कर फिर एक रूप हो जाने की उनकी अलौकिक सामर्थ्य का श्रीरामानन्द के सम्मुख प्रकाश हुआ। भगवान् श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु और श्रीराधाकृष्ण के वृन्दावन लीला-विहार में श्रद्धालु जन श्रील रूप गोस्वामी की कृपा से श्रीचैतन्य महाप्रभु का सच्चा स्वरूप समझ सकते हैं।

भगवान् श्रीगौरसुन्दर के इस अद्वितीय स्वरूप का दर्शन कर श्रीरामानन्द मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े। श्रीमहाप्रभु के कर-स्पर्श से वे सचेत हुए। श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु को एक बार फिर संन्यासी वेश में दखकर उन्हें अतीव विस्मय हुआ। उनका आलिंगन कर श्रीमहाप्रभु ने आश्वासन दिया कि केवल उन्होंने ही इस रूप का दर्शन किया है। प्रभु ने कहा, "मेरा अवतार-तत्त्व जानने के कारण तुम्हें इस विशिष्ट रूप के दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ है। हे रामानन्द! मैं गौर अंग वाला गौर पुरुष नामक कोई और नहीं हूँ। मैं तो साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण ही हूँ, श्रीराधा के अंग स्पर्श से मैंने इस समय यह रूप धारण किया है। (श्रीकृष्ण के अतिरिक्त श्रीमती राधारानी अन्य किसी का स्पर्श नहीं करतीं।) अत: मैं उनके वर्ण और महाभाव से भावित हो गया हूँ। इस प्रकार अपने साथ उनके सम्बन्ध के दिव्य माधुर्य रस का मैं आस्वादन कर रहा हूँ।"

सत्य में श्रीकृष्ण और श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु, दोनों ही अंशी स्वयं-भगवान् हैं। किसी को भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीगौरसुन्दर में भेद नहीं करना चाहिए। अपने कृष्णरूप में वे परमास्वादक हैं और गौरसुन्दर विग्रह में वे ही परमास्वाद्य हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सबसे परमाकर्षक हैं, केवल वे महाभावस्वरूपा श्रीमती राधारानी का आस्वादन कर सकते हैं। श्रीकृष्ण के अलावा कोई विष्णुरूप ऐसा नहीं कर सकता। श्रीचैतन्यचरितामृत में

श्रीगोविन्द के विवरण में इसकी व्याख्या है। वहाँ उल्लेख है कि एकमात्र श्रीमती राधारानी ही भगवान् श्रीकृष्ण को अप्राकृत आनन्द से आपूरित कर सकती हैं। भगवान् श्रीगोविन्द की सम्पूर्ण व्रज-प्रेयसियों में श्रीमती राधारानी सर्वप्रधाना हैं।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रील रामानन्द से कहा, "विश्वास करो तुमसे मुझे कुछ भी गोपन नहीं करना है। यदि मैं छिपाने का प्रयास भी करूँ तो महाभागवत होने के नाते तुम मेरा सब मर्म जान जाओगे। पर इस मर्म को गुप्त ही रखना, किसी के प्रति प्रकाशित न करना, इसके प्रकट होने पर लोग मुझे पागल समझेंगे। विषयी लोग मेरे द्वारा तुम्हारे आगे प्रकाशित इस रहस्य को नहीं समझ सकते। अतः इसको सुनकर वे अवश्य मेरा उपहास करेंगे। विषयी के दृष्टिकोण से कृष्णप्रेमभावाविष्टता के कारण भक्त पागल हो जाता है। हम दोनों एक जैसे पागल हैं। अतः साधारण लोगों के प्रति इन बातों का प्रकाश न करना। तुम्हारे ऐसा करने पर वे निस्सन्देह मेरा उपहास करेंगे।"

भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने तब दस रातें श्रीरामानन्द के साथ श्रीराधा-कृष्ण की लीला-कथा के कथन-श्रवण में बिताईं। उनकी वार्ता कृष्णप्रेम के सर्वोच्च स्तर पर थी। इनमें से अनेक वार्ताओं का वर्णन हुआ है, किन्तु अधिकांश का वर्णन नहीं हो सका। श्रीचैतन्यचरितामृत में इसकी तुलना खनिज-धातु के निरीक्षण से की गई है। धातुओं का इस क्रम से वर्णन है—ताँबा, काँसा, चाँदी, स्वर्ण और अन्त में चिन्तामणि। भगवान् श्रीगौरसुन्दर एवं श्रीराय की प्रारम्भिक वार्ता ताँबे जैसी है। क्रमशः श्रेष्ठतर वार्त्ता स्वर्ण है। इस प्रकार उनकी वार्त्ता का पांचवाँ अंश चिन्तामणि जैसा है। परमोच्च भाव के इच्छुक को ताँबे और काँसा, चाँदी और स्वर्ण आदि में भेद की जिज्ञासा करनी चाहिए।

अगले दिन श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु ने श्रीराय से जगन्नाथपुरी लौटने की आज्ञा माँगी। "शेष जीवन जगन्नाथपुरी में साथ निवास कर हम कृष्णकथा में समय बिता सकते हैं।" यह कहकर भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने श्रील रामानन्द राय का आलिंगन कर उन्हें उनके घर भेज दिया। प्रातः काल श्रीमन्महाप्रभु ने यात्रा की। नदी-तट पर श्रीहनुमान् मन्दिर में श्रीरामानन्दराय से उनकी भेंट हुई थी। हनुमान् मन्दिर में दर्शन करके उन्होंने प्रणाम किया। श्रीमहाप्रभु के विद्यानगर के निवास-काल में नानाविध लोग उनके दर्शन करने आए और उनकी कृपा से वे सभी भगवद्भक्त वैष्णव बन गए।

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु के प्रस्थान करने पर श्रील रामानन्द राय प्रभु-

विरह में विह्वल हो उठे। उन्होंने तत्काल शासन-कार्य से निवृत्त होकर जगन्नाथपुरी में भगवान् श्रीगौरसुन्दर से मिलने का संकल्प किया। श्रीरामानन्द राय और भगवान् श्रीगौरसुन्दर का वार्तालाप भक्ति का परमोच्च स्वरूप है। इसके श्रवण से श्रीराधाकृष्ण-लीला और श्रीचैतन्य महाप्रभु के परम गूढ़तत्त्व को जाना जाता है। यदि किसी बड़भागी की इस वार्त्ता में सचमुच श्रद्धा हो जाय, तो वह श्रीराधाकृष्ण की दिव्य लीला में प्रवेश कर सकता है।

ग-युगान्तरों में अनेक अवतार-भगवद्प्रेरणा-युक्त आचार्य तथा भगवद्वतार संसार में प्रकट हैं किन्तु किसी ने भी गौर सुन्दर अवतार, श्रीचैतन्य महाप्रभु के समान आपामर-पर्यन्त भगवत्प्रेम का मुक्त-वितरण नही किया।

श्रीचैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव भारत के बंगाल प्रदेश में १४८६ में हुआ। ४८ वर्ष के स्वल्प प्राकट्य-काल में ही उन्होंने [illegible] की ऐसी क्रान्ति का श्रीगणेश किया जिसने कोटि-कोटि [illegible] को अतिशय प्रभावान्वित किया है। यौवन से ही उच्च सन्त के रूप में [illegible] श्रीमन्महाप्रभु ने लोक-विस्मृत वैदिक ज्ञान के भारतव्यापी [illegible] लिए २४ वर्ष की अल्पायु में संन्यास ग्रहण किया। स्वयं पूर्ण त्यागी [illegible] होने पर भी अपने गृह तथा व्यवसाय में ही भगवद्भावित कर्मानु[illegible] लोकादर्श स्थापित किया। अत: कालातीत होने पर भी उनकी शिक्षा का वर्त्तमान जगत के लिए विशिष्ट महत्त्व है। उन्होंने ऐसी व्य[illegible]क पद्धति की शिक्षा प्रदान की है जिसका अनुष्ठान कर कोई भी व्यक्ति विशुद्ध भगवत्प्रेम का रसास्वादन कर सकता है। इस ग्रन्थ में इस महा-वदान्य कृष्णावतार के विलक्षण चरित्र का उल्लेख तथा उनके शिक्षामृत के सार-तत्व का निरूपण है।

भगवद्कृपामय ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी श्रील प्रभुपाद विश्व में वैदिक धर्म तथा दर्शन के सर्वाधिक विश्रुत आचार्य हैं। उन्होंने भगवद्गीता यथारूप, श्रीमद्भागवत, भक्ति-रसामृतसिन्धु, प्रभृति अनेक वैदिक ग्रन्थों का अँग्रेजी में अनुवाद किया है। श्रील प्रभुपाद, विश्व पर्यन्त सौ से अधिक मन्दिरों वाले श्रीकृष्ण-भावनामृत संघ के संस्थापकाचार्य हैं।